THE BOOK WAS DRENCHED

TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186343

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 392.3 Accession No. GH 1596
M67P

Author मिश्र पंचानन

Title परिवार

This book should be returned on or before the date last marked below.

परिवार

—एक सामाजिक अध्ययन

लेखक

पंचानन मिश्र

हिंदी विद्यापीठ, देवघर

ज्ञानपीठ (प्राइवेट) लिमिटेड,

पटना—४

१६६७

Checked 1965

मूल्य
साढ़े तीन रुपये

मुद्रक
ज्ञानपीठ (प्राइवेट) लिमिटेड,
पटना—४

प्राक्कथन

"समाज की भूमिका" पुस्तक के तुरंत पश्चात् या प्रायः साथ-हा-साथ यह 'परिवार-एक सामाजिक अध्ययन' पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए हार्दिक आनंद की अनुभूति स्वाभाविक है। जब हम समाज के किसी रूप पर विचार करने बैठते हैं, तो हमारे सामने दो रूप आ जाते हैं। प्रथम तो आरंभिक स्वरूप तथा विकास की दिशा, द्वितीय वर्तमान-रूप, आधुनिक समस्याएँ एवं सुधार के पथ। आज वह युग नहीं रह गया कि हम समाज के विभिन्न अंगों को अपने-आप विकसित होते रहने के लिए छोड़ दें। यह युग है योजना तथा सचेत कर्म समन्वय का। इस तथ्य का तीव्र अनुभव करते हुए भी सामान्यतया हिंदी के, और थोड़ा-बहुत अन्य भारतीय भाषाओं के पाठक समाज-शास्त्र का एक ही अर्थ लगाते हैं और वह है समाज-विकास की संभव-दिशा की खोज। इसमें भी मार्गन तथा एन्गेल्स द्वारा निर्धारित दिशा ही एकमात्र विश्वसनीय क्रम मान लिया जाता है। जैसा 'समाज की भूमिका' के आत्म-निवेदन में भी स्पष्ट किया जा चुका है, कई सज्जन नाम देखते ही समझ बैठते हैं कि उन्हीं के समर्थन में लिखी हुई पुस्तक है। अभी कलही एक योग्य समझे जानेवाले मित्र पूछ बैठे कि मैंने एन्गेल्स लिखित 'परिवार और राजसत्ता के आरंभ, (The Orgin of the Family and State) का अनुवाद-मात्र किया है, अथवा समर्थन में श्री डांगे आदि की तरह नए प्रमाण भी दिये हैं। परंतु, ज्यों-ज्यों प्राचीन समाज की गहरी छान-बीन होती जाती है त्यों-त्यों भ्रम का यह बादल फटता जाता है। मेरी यह पुस्तक प्रेस में चली जाने पर समाज-शास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डा० श्री घुर्ये कृत १९५५ में प्रकाशित— The family and kin—In Indo Aryan Culture

नामक खोजपूर्ण ग्रंथ देखने को मिला। इस बात से महान् आनंद हुआ कि इस महापंडित द्वारा मेरे कई कथनों तथा प्रतिपत्तियों का समर्थन होता है तथा कई विषयों एवं अंगों पर और भी गहरा प्रकाश पड़ता है।

इस पुस्तक के दूसरे प्रकरण में परिवार के विकास की कल्पनाओं के विवेचन की यथाशक्ति चेष्टा की गई है। यह स्पष्ट है कि आधुनिकतम समाज-शास्त्र परिवार के विभिन्न रूपों में विकास का कोई वैसा निश्चित सूत्र नहीं पाता, संसार की प्रधानतम प्राचीन नृवंश भारोपीय जाति में इसकी कल्पना और भी हास्यास्पद-सी लगती है। मार्गन के विकास का सिद्धांत प्रधानतया संबंध-वाचक शब्दो के वर्गात्मक-रूप पर आधारित है। इतना सही है कि संसार की कई जातियों में सामान्य रूप से तथा जन-जातियों में विशेष रूप से संबंध बतानेवाले शब्द ऐसे हैं, जिनमें विभेद स्थापित करना थोड़ा कठिन हो जाता है। माता, पीसी एवं चाची के लिए एक-से संबोधन प्रयुक्त होते हैं। यही हालत पिता, मौसा और चाचा की भी है। इससे कुछ लोग इन संबंधों में एकरूपता तथा एकत्व की स्थापना कर लेते हैं। परंतु वास्तव में इसे ही कोई प्रौढ़ आधार नहीं माना जा सकता। मैंने इनके रूपों पर तथा इनकी एकता के संभव आधारों पर थोड़ा-बहुत विचार करने का यथास्थान प्रयत्न किया है। श्री घुर्ये ने मार्गन की प्रणाली तथा विभिन्न भाषाओं एवं जातियों के संबंध-वाचक शब्दों की विस्तृत आलोचना करते हुए लिखा है कि "मार्गन ने विवाह के कारण उत्पन्न संबंध बतानेवाले शब्दों (affineal terms) का जो विवरण दिया है, वह सामान्य रूप में संपूर्णतः और भारतीय आर्य भाषाओं के लिए विशेषतः केवल दोषपूर्ण ही नहीं वरन अंशतः भ्रममूलक भी है।" १ इस महान् पंडित का निर्णय है कि "वैवाहिक संबंध-वाचक शब्द संस्कृत और लैटिन भाषाओं में व्यक्ति-मूलक

१ Family and kin पृष्ठ—१७।

और वर्णनात्मक व्युत्पन्न (Individualising and Descriptive Derivative) हैं, ग्रीक में थोड़े बहुत वर्गात्मक (classifactory) हैं, बाल्टिक-स्लाभ भाषाओं में बहुत अधिक ऐसे हैं तथा गाथनिक (जर्मन) भाषाओं में प्रायः पूर्णतया वैसे ही हैं।" १ वास्तव में इन्हें ही देखकर मार्गन ने अनुमान कर लिया कि सारी प्राचीन भाषाओं की यही स्थिति है, जो उसका भ्रम था।

केल्ट, स्लाभ, साथ ही यूनानी, रोमन तथा भारतीय आर्यों को परिपाटियों और प्रथाओं का यदि गहराई में डूबकर विश्लेषण किया जाय, तो यह निर्विवाद रूप में स्पष्ट हो जाता है कि इनमें कभी भी मातृ-सत्ता के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। केल्ट लोगों में उत्तराधिकार के नियम वंश और रक्त के साथ ही संबंध पर भी निर्भर करते हैं इससे भगिना और मामा भी कई स्थितियो में उत्तराधिकारी बन सकते हैं; परंतु इतने से ही एन्गेल्स ने मातृ-सत्ता की जो कल्पना कर ली है, वह निर्मूल-सी लगती है। जिनको इसने वाह्य-विवाहात्मक संगठन मान लिया है, किंतु सर्वत्र एक-सी ही सामाजिक व्यवस्था का अनुमान कर बैठना उचित नहीं जान पड़ता। वास्तव में जन कहीं वाह्य-विवाहात्मक है, कहीं अन्तर्विवाहात्मक और कहीं-कहीं विवाह के संबंध में इसका कोई भी महत्त्वपूर्ण हाथ नहीं रहता। यूनान में निकट संबंधियों से भी, आवश्यकता पड़ने पर, विवाह-संबंध स्थापित हो सकते थे तथा रोम में जन का कोई भी बंधन मान्य नहीं था; बंधन था केवल परिवार का।

भाई-बहन के वाचक आर्य-शब्दों से कई भाषाओं में यह ध्वनि निकलती है कि भाई बहन का पालक था और भगिनी भाई ही सर्व प्रधान संबंधी माने जाते थे। इसी से कुछ लोग यह अनुमान कर लेते हैं कि संपूर्ण आर्य-वंश के पूर्वज कभी-न-कभी मातृपक्षीय रहे हैं। परंतु इसके विपरीत पति-पत्नी, पिता आदि के वाचक शब्द भी प्रायः

१ वही पृ०-१८।

सभी आर्य भाषाओं में सामान्य मूल से ही व्युत्पन्न जान पड़ते हैं एवं इनमें स्पष्टतया पितृपक्ष और पति-पत्नी के स्थायी संबंधों ध्वनि आती है। इसमें कहीं भी संदेह की गुंजाइश नहीं है कि प्राचीन से प्राचीन काल में भी पति-पत्नी ही गृह के स्वामी थे तथा इस रूप की व्यापकता के सामने मातृपक्षीयता का आरोप अत्यंत तुच्छ, निराधार और अविश्वसनीय लगता है। श्री घुर्ये की स्पष्ट घोषणा है कि "तीन या चार पीढ़ियों के सम्मेलन से परिवार की इकाई आरंभिक भारतीय-यूरोपीय संस्कृति की विशेषता थी। यह वंश में पितृपक्षीय (Patrilineal) तथा निवास में पितृ-स्थानीय था। संबंध में यह रक्त और वैवाहिक दोनों नाते मानता था (bilaterol)। १ पितरों की कल्पनाएँ भी इसी धारणा का समर्थन करती हैं।

मैंने इस पुस्तक में विगोत्र असपिंड तथा विप्रवर विवाह के विकास को विवेचित करने का प्रयत्न किया है। २ यह स्पष्ट है कि न तो सर्वत्र एक-सी ही धारणाएँ रही हैं और न इस संबंध की भावनाओं का सर्वत्र एक-सा ही विकास हुआ है। हमारे यहाँ ही बहुत पहले सपिंड का अर्थ होता था तीन पीढ़ियों तक आनेवाले, जो प्रायः एक परिवार में सम्मिलित रहा करते थे। पीछे सात पीढ़ियाँ सम्मिलित हो गईं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार तीसरी-चौथी पीढ़ी में भाई-बहन के विवाह हो सकते थे, ३ परंतु सूत्र-ग्रंथों में संपूर्ण सगोत्र विवाह विवर्जित हो गए। बोधायन में हजारों गोत्र १० प्रवरों में बाँट दिये गये। मैंने वहाँ श्री चि० वि० वैद्य का तत्संबंधी मत ही सामने रखा है। श्री घुर्ये के अनुसार प्रवरों का संबंध धर्म तथा धार्मिक विधियों से था। हरेक विधि के मूल-पुरुष के नाम से हवन किया जाता था और इस तरह सभी गोत्र केवल १० प्रवरों के मूल- ऋषि के नाम पर बँट गए। इस

१ वही पृ० ४१।

२ देखें पृ० ७१-७३।

३ देखें पृ० ६३।

तरह प्रवरों के मूल के संबंध में दोनों विद्वानों में मतभेद है। परंतु चाहे जैसे हो, पूर्वजों की एकता की भावना इनमें भी मौजूद है और इसीसे ये भी निषिद्ध के अंतर्गत आ जाते हैं।

यूनानियों और रोमनों में वैवाहिक-बंधनों की सीमा कभी भी इतनी दृढ़ नहीं थी, यूनान में तो आवश्यकता पड़ने पर चचेरी बहन, पीसी और भतीजी से भी विवाह हो सकते थे, और होते भी थे। शायद सामयिक विवाहों की भी थोड़ी-बहुत परिपाटी प्रचलित थी। ट्राय युद्ध के समय कई ऐसे विवाह संपन्न हुए थे। हरिवंश तथा महाभारत के अस्थायी अल्पकालीन संबंधों की चर्चा चलाते हुए मैंने लिखा है कि इन परिपाटियों का जन्म सैनिक तथा आर्थिक पतन ही के कारण संभव हुआ था।[१] यूनान के संबंध में भी मेरा वही अनुमान सही जान पड़ता है। हाँ, यहाँ विवर्जन की सीमा हमारी अपेक्षा सदा छोटी रही है। प्लेटो ने तो आदेश दे रखा था कि "बिना किसी वसीयतनामे के पुत्रियों को छोड़कर यदि कोई मर जाय तो उसका भाई, चाहे एकही माता या पिता से क्यों न हो, उनसे विवाह कर ले और मृत की जमीन ले ले। यदि कोई भाई भी न हो, परंतु भाई का पुत्र हो तो उसी तरह वे भी विवाह कर लें—यदि उपयुक्त आयु के हों। यदि भतीजा भी नहीं हो, भगिना ही हो तो वे भी वैसा ही कर लें, और इसी तरह यदि चौथे क्रम में मृत का चाचा या पाँचवें क्रम में उसके चाचा का पुत्र हो अथवा छठवें क्रम में उसकी बुआ के पुत्र हों।" २

रोमन विवाहों में विवर्जन की सीमा भी डा० घुर्ये के अनुसार, अस्पष्ट है, और विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूप निर्धारित करने की चेष्टा की है। यह जाति परिवार (Familias) के साथ ही जन (Gens) में विभक्त थी। जन न तो बाह्य वैवाहिक (En ogamovs) और न अन्तर्वैवाहिक (Endogamovs) समुदाय थे वरन् निरीन्द्रिय

१ देखें पृ० ६५–६६।

२ देखें पृ० १४५।

(Agamovs) थे। सभी विद्वान् यह मानते हैं कि चुंबन के अधिकार (Jus osculi) के भीतर विवाह निषिद्ध थे। परंतु इस अधिकार की सीमा क्या थी, यह स्पष्टतया किसी ने भी, शायद, निर्धारित नहीं किया है। ऐसा जान पड़ता है कि यह अधिकार भाई-बहन और पिता-पुत्री जैसे निकट संबंधों का ही सूचक था। आरंभ में यह जाति बड़े-बड़े कुटुंबों में साथ-साथ रहती थी। इसलिए निषेध की सीमा वहाँ तक थी। परंतु पीछे चलकर परिवार छोटे होते गए, अस्तु यह सीमा भी संकुचित होती गई। यही कारण है कि इस संबंध के विवरण अस्पष्ट तथा परस्पर-विरोधी हैं। रक्त-संबंधी द्वितीय चचेरे भाई-बहन (Agnatic second consins) तथा अंत में संबंधित द्वितीय चचेरे भाई-बहन (cognatic second consins) तक यह सीमा जाकर रुक गई। विजय--अभियानों की अधिकता के कारण रोमन जाति का चरित्र अत्यंत गिर गया, जैसा स्वाभाविक ही है तथा व्यभिचार, परित्याग और पुनर्विवाह सामान्य व्यवहार बन गए। महापुरुष तथा ऊँचे माने जानेवाले भी इससे परे नहीं थे।

प्राचीन भारतीय, यूनानी और रोमन पारिवारिक-व्यवस्थाओं का विश्लेषण, तत्संबंधी धारणाओ का मूल तथा विकास, एवं अन्य प्राचीन जातियों की प्रथाओं और भावनाओं का विवेचन समाज-शास्त्र एवं पारिवारिक समाज-शास्त्र के अध्ययन का एक अंग है, तथा अभी तक मुख्य अंग-सा ही रहा है। परंतु सारा समाज-शास्त्र यहीं तक सीमित नहीं रह सकता, वरन् यह प्राचीन-अंग तो जितना इस शास्त्र से संबंधित है, उतना ही प्राचीन इतिहास से भी। आज तो समाज-शास्त्र एक प्रयोजनात्मक उपयोगी शास्त्र हो रहा है। इसलिए प्राचीन की अपेक्षा वर्तमान समस्याओं का अध्ययन ही इसका प्रधान क्षेत्र है। आज का युग जो कुछ अध्ययन और खोज कर पाता है, उसमें उसका मुख्य ध्येय हो जाता है वर्तमान-जीवन की वास्तविकता समझना और इसके अंगों का विश्लेषण करना, ताकि भविष्य-निर्माण को प्रेरणा तथा

चेतना प्राप्त हो सके। इस तरह प्राचीन की सामान्यतया दो ही उपयोगिताएँ हैं—(१) विकास तथा परिवर्त्तन का रूप स्पष्ट करना और (२) नवीनता प्राचीनता की तुलना द्वारा वर्त्तमान रूप का मूल-तत्त्व समझना। आज तक प्रथम उपयोगिता को ही अधिक सामने रखा गया है। एक प्रकार से द्वितीय की उपेक्षा ही की गई है। मैंने योग्यता भर इसे भी लेते चलने की चेष्टा की है।

इस स्थल पर तुलना की चर्चा चल जाने से डा० घुर्ये द्वारा रोमन और यूनानी सम्मिलित परिवार की दी हुई रूप-रेखा भी पाठकों के सामने अत्यंत संक्षेप में रख देने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। सम्मिलित परिवार भारत का आदर्श परिवार रहा है। मैंने इसे समुचित स्थान देने की कोशिश की है। १ इसकी वास्तविकता से परिचित होने के लिए यूनानी रोमन रूप से इसकी तुलना आवश्यक है। वास्तव में इन सबों को हम एक ही कोटि में नहीं रख सकते। श्री घुर्ये का कहना है कि "यूनानी कुटुम्ब (hovsehold) संपत्ति में अन्य किसी चीज की अपेक्षा अधिक सम्मिलित था। पिता के विरुद्ध पुत्र पारिवारिक संपत्ति में बँटवारा नहीं कर सकता था। ऐसा जान पड़ता है कि कार्यकारी इकाई रूप में परिवार केवल दो पीढ़ियों तक ही सीमित था, यथा एक मनुष्य और उसकी सन्तान। आरंभिक काल में विवाहित पुत्र माता-पिता के साथ या निकट ही रहा करते थे। पिछले काल में उनसे अलग रहने लगे। इस तरह यूनानी-परिवार का चित्र भारतीय सम्मिलित परिवार तथा वर्त्तमान यूरोप के केन्द्रित (nuclear) परिवार के बीच का था।" इसलिए यूनानी महाकाव्यों में चचेरे भाई का नाम बहुत आता है, और पैतृक परिवार के सर्वोत्तम उदाहरणों में भी वयस्क पुत्र पिता से अलग ही दिखाई पड़ते हैं। २

---

१ देखें पृ० १४०—१५९।

२ The family and kin—In Indo-Aryan Culture—पृ० १४५--१४६।

रोमन-प्रणाली को तो और भी हिंदू सम्मिलित परिवार की कोटि में नहीं रखा जा सकता। एक परिवार में वहाँ सामान्यतया दो पीढ़ियाँ ही सम्मिलित रहा करती थीं, तीन के बाद तो शायद ही कभी शामिल हों। पहली सदी ई० पूर्व में भी विवाहित पुत्र माता-पिता के साथ रहा करते थे, परंतु इस समय के शायद, किसी नाटककार ने विवाहित भाइयों के साथ रहने का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है; यद्यपि भाई-भावज के संबंधों में थोड़ी बहुत अनियमितता भी दिखाई पड़ती है। इसीसे आपका कहना है कि 'रोमनों का पारिवारिक संगठन पिता के सम्पूर्ण अधिकारों के साथ ऐसा जान पड़ता है कि किसी दृढ़-भावना की अपेक्षा सुविधा का विषय था।' १

समस्याओं के वर्त्तमान रूप पर विचार करते समय यह तथ्य सदा स्मरण रखना चाहिये कि समाज एक पूर्ण इकाई है। इसका कोई भी अंग कभी भी दूसरे अंगों से पूर्णतया स्वतंत्र तथा निरपेक्ष नहीं रह सकता। इसलिए राजनीतिक, आर्थिक कोई भी परिवर्तन संपूर्ण सामाजिक ढाँचे पर कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य ही डाल दिया करते हैं। सारे ऐतिहासिक काल की यही हालत है और आज का युग भी अपवाद नहीं हो सकता। इसलिए हम जब परिवार के समाज-शास्त्र पर विचार करने बैठते हैं तब समाज का व्यापक और विस्तृत क्षेत्र झाँकने लगता है। परंतु इस व्यापक दृष्टिकोण से भारतीय समाज का अध्ययन करने की चेष्टा भी नहीं हुई है, इसके लिए जितनी शक्ति लगाई जानी चाहिये उसे लगाने की बात तो दूर रहे। हमारी सामान्य पारिवारिक तथा वैवाहिक समस्याएँ, इसी कारण, जानकार समझे जाने वालों के लिए भी बहुत कुछ अगम्य ही बनी हुई हैं। उदाहरण के लिए हम दहेज-प्रथा ले सकते हैं। हरेक व्यक्ति इसकी निंदा करता है, सभी इसे अभिशाप समझते हैं, किंतु इसकी भयंकरता दिन-पर-दिन बढ़ती ही जा रही है। इस संबंध की भावना कार्यरूप में क्यों नहीं परिणत होती, यह एक महान् विचारणीय विषय है। धर्मशास्त्रों के

१ देखें In Latin Culturer अध्याय।

विचार से वर्त्तमान-रूप का मेल क्यों नहीं बैठता ? कन्या-दान के समय पुरोहित या पंडितजी पिता से प्रार्थना करा रहे हैं—

कन्ये ममाग्रतो भूयाः कन्ये मे देवि, पार्श्वयोः
कन्ये मे पृष्ठतो भूयास्त्वद्दानान्मोक्षमाप्नुयाम् ॥

"हे देवि ! मेरे आगे पीछे अगल-बगल कन्याओं की जमघट लग जाय, ताकि कन्या-दान के महान् पुण्य लूटने के अवसर मिलते रहें और इसी से मैं मोक्ष की प्राप्ति कर लूँ।" परंतु ठीक इसी समय माताएँ कारुणिक स्वर में गा रही हैं 'शत्रुको धिया मति होय'—शत्रु को भी कन्या न हो, मित्र को तो हो ही नहीं। क्यों ? इसलिए कि प्रतिशोध की भावना से जितना कष्ट दिलाना चाहिये, उससे कई गुना अधिक बिचारे को पुत्री के ही कारण भोगना पड़ जायगा। कन्या-जन्म के समय की खीझ तथा वेदना-जन्य रोष का कितना स्वाभाविक चित्रण है ?

घर में के भाँड़ आँगन देइ मारे ले।
शत्रु के धिया मति होइ ॥

दोनों में कौन वास्तविक तथा हार्दिक है, समझे या बिना समझे रटी-रटायी दुहराई हुई संस्कृत प्रार्थना अथवा अपनी रोजमर्रा की बोली में अभिव्यक्त वेदना ? कन्या इसलिए भी कष्टदायिनी है कि एक-न-एक दिन अपने इस कलेजे के टुकड़े को अलग कर देना पड़ता है और इसी वेदना की अभिव्यक्ति कन्या-विदाई के समय गाये जाने वाले मैथिल गीत समदौन की 'बेटी जनम मति दिह हे विधाता !' पंक्ति में है। परंतु यहाँ यह भाव नहीं है। यहाँ तो दूसरे ही कारण बिचारा बाप अर्द्ध-अचेत रहा करता है—

आधा हम सूतिले आधा हम जागिले,
का देबि, आहि दहेज—!

वास्तव में इस विचित्र कामना का प्रधान कारण यही दहेज का पिशाच है, जिसके कारण धर्म तथा संसार दोनों परस्पर विरोधी जा पड़े

हैं। इस सामान्य परंतु कठोर समस्या को समझने के लिए समाज का एक विस्तृत अंग टटोलना पड़ेगा। मैंने अपनी पहुँच के अनुसार स्पष्ट तथा थोड़ी गहराई में जाकर विचार करने का प्रयत्न किया है। अन्य वैवाहिक तथा पारिवारिक समस्याओं की भी यही स्थिति है।

इस तरह इस 'परिवार—एक सामाजिक अध्ययन' में प्राचीन नवीन सभी अंगों को लेकर चलने का, योग्यता के अनुसार, प्रयत्न है, पुरातन के साथ ही नवीन रूपों के विवेचन की भी चेष्टा है तथा जो कुछ काम का अध्ययन सामने आ सका है, उपयोग में लाने की कोशिश है। परंतु आँख मूँद कर कोई भी धारणा पकड़ कर ढोते चलने में ही अपनी शक्ति नहीं लगाई है। अत्यंत नम्रता के साथ कहा जा सकता है, कि सभी विषयों पर निष्पक्ष दृष्टिकोण से विचार करने का ही प्रयत्न है। यही कारण है कि हिंदी और अंग्रेजी की सभी ऐसी पुस्तकों से यह भिन्न है, थोड़ी व्यापक भी है तथा भारतीय-जीवन की वास्तविकता के अधिक निकट है। आज का कोई भी भारतीय समाज का अध्येता केवल पुस्तकीय आदर्श की कल्पना में ही मग्न रहकर व्यावहारिक और दैनिक जीवन को यों ही नहीं छोड़ सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस छोटी-सी पुस्तक में व्यावहारिक रूप को ही प्रधानतया सामने रखा गया है, प्राचीनता का उपयोग वर्त्तमान के स्पष्टीकरण के लिए ही किया गया है।

इतना होने पर भी लेखक बहुत अधिक दावा करने की धृष्टता नहीं कर सकता; क्योंकि वह अपनी दुर्बलताओं से परिचित है, अपनी सीमाओं से अच्छी तरह अवगत है। इसके लिए विज्ञ पाठकों के समक्ष क्षमा-याचना के सिवाय कर ही क्या सकता है? यह विषय सामान्य होते हुए भी जितना व्यापक और बहुरूपी है, इसमें जितने अधिक मतभेदों और दृष्टिकोण की विभिन्नता की संभावना है तथा जितने अधिक प्रयोग, अध्ययन, चिंतन-मनन की आवश्यकता है, और अभी काफी दिनों तक रहेगी, उन्हें देखते हुए इस पर अनेक विचारों से लिखी हुई कई पुस्तकें जरूरी हैं एवं अभी तक की प्रगति से यह विश्वास करने का कारण है कि काफी दिनों तक

जरूरी रहेंगी। यह पुस्तक भी अधिक-से-अधिक उनमें से एक होने का दावा-मात्र कर सकती है।

विभिन्न रूपों में जिन महानुभावो, साथियों और छात्रों ने किसी-न-किसी तरह में सहायता पहुँचाई है, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मेरा परम धर्म हो जाता है। 'समाज की भूमिका' के आत्म-निवेदन में मैंने जिन-जिनकी चर्चा चलाई है, वे सबके सब उसी रूप में यहाँ भी स्मरण करने योग्य हैं और मेरा कर्त्तव्य हो जाता है कि उन्हें फिर से याद कर लूँ। परंतु इन दोनों पुस्तको के प्रकाशन में इतने कम समय का अन्तर है कि हृदय में पुनः स्मरण करते हुए भी कलम की नोक पर उतारने से विरत ही होना ठीक जँचता है। वास्तव में जैसा उस आत्म-निवेदन में स्पष्ट किया जा चुका है ये कई पुस्तकें एक ही साथ, एक ही तैयारी में, उन्हीं महानुभावों की प्रेरणा, सत्परामर्श तथा सहयोग से लिखी गई थीं। इसलिये वे सबों के मूल में मौजूद हैं। उनके अतिरिक्त इस पुस्तक की प्रतिलिपि प्रस्तुत करने में श्री बालमुकुंद 'राही' साहित्यालंकार और श्री शंभुनाथ दास नामक छात्रों की अतिरिक्त सहायता मिली है। इन्हें अतिरिक्त हार्दिक आशीर्वाद है।

अंत में प्रकाशक श्री मदनमोहनजी पांडेय तथा मित्रवर श्री सुरेश्वरजी पाठक 'विद्यालंकार' को सहृदयता और अपनेपन के नाते हार्दिक धन्यवाद है। पुस्तक शीघ्रता के लिए काशी में छपी, इससे मैं प्रूफ नहीं देख सका। मुझसे अशुद्धियाँ नहीं होतीं, मैं यह दावा नहीं कर सकता, परंतु इतना कह सकता हूँ कि इसके विषय और शब्द, बिल्कुल तो नहीं, किन्तु थोड़े नए अवश्य हैं। इसलिये काफी ऐसी अशुद्धियाँ रह गई हैं, जिन्हें नहीं रहना चाहिये था। अगले संस्करण में विद्वान पाठकों के सुझाव प्राप्त होने पर मैं यथासाध्य त्रुटियों को दूर करने का विश्वास दिलाता हूँ।

बैद्यनाथ, देवघर
११-१२-५६

पंचानन मिश्र

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
पहला प्रकरण [सामान्य-रूप]	१–२६
परिवार क्या है ?	१–५
परिवार के विभिन्न-रूप—(१) युगल परिवार (२) मलोहित परिवार—(क) मातृसत्तात्मक और (ख) पितृसत्तात्मक—सम्मिलित, मूलगत, और सामूहिक-संपत्तिमूलक—	५–६
विवाह के विभिन्न रूप—(१) युगल विवाह (२) बहु-पत्नीत्व (३) बहुपतित्व—	६–२४
अंतर्विवाह और वाह्य-विवाह—	२४–२६
दूसरा प्रकरण [विकास की कल्पना]	३०–६१
परिवार का विकास और मार्गन—(१) मलायापद्धति (२) पुनालुअन-पद्धति (३) तुरानियन-पद्धति (४) मिथु-नात्मक (५) पितृसत्तात्मक (६) युगल-परिवार—	३१–३६
आपत्तियाँ—(१) सम-विकास (२) परिवार तथा धार्मिक विश्वास (३) सार्वभौमिकता (४) स्त्री और मातृसत्ता—	३६–५६
भारतीय परिवार का विकास—मार्गन-प्रणाली का आरोप तथा आपत्तियाँ—(१) अपूर्णता (२) सृष्टि की उत्पत्ति और विवाह (३) विभिन्नता (४) परस्पर-आद्योप (५) अलंकारिता (६) गोत्र—	५७–७३
प्राचीन वैवाहिक पद्धतियाँ—(१) ब्राह्म (२) शौल्क (३) दैव (४) गांधर्व (५) आसुर (६) अपहरण—	७३–६१

विषय पृष्ठ

तीसरा प्रकरण [हमारी वैवाहिक समस्याएँ] ९२–१३९

(१) निषेध (२) जातीय-विवाह (३) बाल-विवाह
(४) दहेज (५) विधवा-विवाह और संबंध-विच्छेद
(६) अन्य समस्याएँ— ९२–१२३
वैवाहिक सुधार के पथ— १२३–१३९

चौथा प्रकरण [पारिवारिक समस्याएँ] १४१–२४०

सम्मिलित परिवार—विघटन, विघटन का फल, भविष्य– १४१–१५९
युगल परिवार, औद्योगिक मजदूरों के परिवार, खेतिहर
मजदूरों के परिवार, मध्यम श्रेणी के परिवार— १५९–२०८

पाँचवाँ प्रकरण [परिवार का भविष्य] २०९–२४०

विघटन की चिंता तथा भविष्य— २०९–२४०

———

पहला प्रकरण

सामान्य रूप

आज तक, या कम-से-कम आज से कुछ पहले तक, परिवार सामाजिक जीवन का मेरुदण्ड रहा है। समाज की सम्पूर्ण भावनाएँ, सम्पूर्ण लोकाचार, सम्पूर्ण जीवन-विधि और आचार परिवार के द्वारा व्यक्ति की आत्मा में प्रविष्ट कर घुलते-मिलते रहे हैं। परिवार वह दर्पण रहा है जो समाज का प्रकाश ग्रहण कर व्यक्ति की आँखों में विक्षुरित करता रहता है। अखिल सामाजिक जीवन का मूल परिवार में निहित होता आया है। हम जगत को और जगत बहुत कुछ अंशों में हमको भी परिवार की आँखों से देखता आया है। अस्तु समाजशास्त्र के विद्यार्थी के लिए परिवार और इसके विविध अंग आरम्भ से ही महत्त्व-पूर्ण विषय रहे हैं और आज भी हैं।

परिवार क्या है ?

परिवार इतना स्पष्ट और प्रचलित शब्द है कि इसकी विशिष्ट परिभाषा आवश्यक नहीं जान पड़ती, तो भी संसार के परिवारों के विभिन्न रूपों को देखते हुए उनमें सामान्य तत्त्वों की खोज करना जरूरी हो जाता है। सामान्यतया परिवार की निम्न विशेषतायें हैं :—

(१) परिवार का मूल काम से है। स्त्री-पुरुष का प्राकृतिक आकर्षण, मिलन इसकी नींव है; परन्तु पशुओं-सा सामयिक तथा क्षणिक मिलन परिवार नहीं बना सकता। यह मिलन यदि चिर-स्थायी नहीं हो तो कम-से-कम इतना काल-व्यापी अवश्य होना चाहिए कि वे दोनों पति-पत्नी कहला सकें, और उस काल तक अन्य व्यक्ति इसमें हस्तक्षेप नहीं करें।

(२) इस मिलन को पवित्र समाजानुकूल और नियमित रूप देने के लिए किसी न किसी प्रकार की विधि रहती है, जिसके अनुसार उनका विवाह सम्पन्न होता है। विवाह-विच्छेद, मिलन और वियोग मनमानी नहीं होते। समाज इनपर नियन्त्रण करता है। ऐसे लोकाचार प्रचलित होते हैं, जिन्हें व्यक्ति मानने के लिए बाध्य है। प्रथम तो यों ही उसकी विवेक-बुद्धि, प्रथाओं और निषेधों से एक विशेष रूप में ढल जाती है कि वह उन नियमों को ही सही तथा व्यक्ति और समाज के लिए उचित मानने लगता है, दूसरा यदि वह उन्हें तोड़ने का प्रयत्न करता है तो समाज की स्वीकृतियाँ और बाध्यतायें उसके सिरपर लटकी रहती हैं, जो उसे प्रेरित करके और दबाव डालकर समाजानुकूल बनाती रहती हैं। विवाह की ये विधियाँ, ये सामाजिक नियम और ये लोकाचार तथा स्त्री-पुरुष मिलन और वियोग का नियमन करने वाली प्रथायें सभी समाजों में भिन्न-भिन्न होती हैं, परन्तु सर्वत्र मौजूद हैं। स्त्री-पुरुष की राजीखुशी का भी नियन्त्रण समाज करता है। आधुनिक पाश्चात्य-समाज में आज सामाजिक बन्धन शिथिल पड़ गये हैं, अस्तु स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में भी उच्छृंखलता आ गई है; परन्तु वे सभी बन्धनों से परे जा चुके हैं, यह कहना गलत है।

(३) स्त्री-पुरुष मिलन के पश्चात् सन्तानोत्पादन एक प्राकृतिक परिणाम है। जिस प्रकार स्त्री-पुरुष मिलन हमारी मानवता और विकसित संस्कारों के कारण पशुओं के समान क्षणिक न होकर थोड़ा बहुत स्थायी हो जाता है उसी प्रकार सन्तानों का प्रेम भी पशुओं के समान माता तक ही सीमित न होकर, सम्बन्धों के स्थायित्व के कारण, पिता तक पहुँच जाता है। अन्य जीव शीघ्र ही अपनी सहज-प्रवृत्ति के बल पर स्वावलम्बी हो जाते हैं; परन्तु मानव का शिशु काफी दिनों तक असहाय रहता है। इसके बाद भी सभ्यता की वे सीढ़ियाँ उसे पार करनी पड़ती हैं जिन्हें उसके माता-पिता पार कर चुके होते हैं। फलतः पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा आदि के लिए उसे आयु के एक भाग तक परावलम्बी बना रहना पड़ता है। इतने दिनों का संसर्ग एक मोह,

एक आकर्षण, एक लगाव उत्पन्न कर देता है, जिससे परिवार के व्यक्ति बँधे रहते हैं, और एक दूसरे के लिए जिम्मेवारी का अनुभव करते हैं।

पारिवारिक भावना एक जीवनव्यापी व्यापार है। मानव अपने ही लिए नहीं दूसरे के लिए तिल-तिल घुल-घुलकर परिश्रम करता है। जितना स्थायी त्याग परिवार के लिए कर सकता है, उतना किसी अन्य के लिए नहीं। परिवार हमारे सभी समुदायों में प्रथम तथा मुख्य है, इसीसे सब हृदयों के निकट है। मनुष्य किन्हीं-न-किन्हीं उत्तेजनाओं की प्रेरणा से ही काम करता है, परन्तु परिवार तो स्वतः एक प्रेरणा है जो अपने विभिन्न रूपों में जीवन के विभिन्न सोपानों पर अकेले सब प्रकार की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रेरणायें देता रहता है। विवाह के पूर्व तथा पश्चात् प्रेम मनुष्य को आसमान पर चढ़ाये रहता है। आसमान का फूल तोड़कर ला देना चाहता है, अपने जीवन की सम्पूर्ण निधि एक दूसरे के चरणों पर अर्पित रहती है। अभी यह उन्माद समाप्त हुआ भी नहीं रहता कि एक तीसरा आधार मिल जाता है सन्तान के रूप में। दोनों का जीवन सन्तान के लिए निछावर होने लगता है और इस के पालन-पोषण, विवाह आदि की मधुर छाया में वे अपना अन्तिम दिन काट ले जाते हैं। परिवार एक मधुर बन्धन है, एक आनन्दमयी जिम्मेवारी है, एक उन्मादग्रस्त त्याग है, जिसमें हँसना-रोना, सुख दुःख, आनन्द-विषाद आदि मिलकर जीवन को जीने योग्य बना दिया करते हैं।

(४) माता-पिता से सन्तान का स्थायी सम्बन्ध होने के कारण परिवार की एक परम्परा होती है जिसे हर पीढ़ी अपनी सन्तान को दे जाती है। इस परम्परा का प्रतीक परिवार का नाम होता है, यह नाम कहीं माता द्वारा सन्तान को मिलता है, कहीं पिता द्वारा। हर व्यक्ति उस नाम को धारण करता है और उसके मान की रक्षा के लिए प्रयत्न करता रहता है। हर परिवार की एक मर्यादा होती है जिसका सम्बन्ध उसके सदस्यों को प्रिय होता है।

इस नाम परम्परा और मर्यादा के कारण व्यक्ति समाज में परिवार

के द्वारा प्रविष्ट होता है और उसकी नजरों से देखा जाता है, इससे मानव का सारा जीवन परिवारमय बन जाता है।

इस परम्परा की लड़ी में व्यक्ति एक कड़ी जोड़कर चला जाता है। परिवार एक स्रोत है, जिसकी कोई लहर स्थायी नहीं, परन्तु स्रोत अपने प्रवाह में अपनी अव्याहत गति में स्थायी है। परिवार का व्यक्ति अमर नहीं है, परन्तु परम्परा अमर है। व्यक्ति इसी में अपने को धन्य मानता है कि वह परम्परा की गति में एक लहर है; पीछे और आगे को, भूत-भविष्य को जोड़ने वाली एक गाँठ है।

(५) परिवार केवल काम तथा तज्जन्य वात्सल्य की ही देन नहीं है; जीवन की भौतिक आवश्कताओं की पूर्ति करने वाला भी है। परिवार में जीवन के दोनों पहलू मौजूद हैं। एक ओर तो वह हमारी भावनाओं की मानसिक तृप्ति देने वाला है, दूसरी ओर भोजन-वस्त्र के प्रबन्ध का भी साधन है। हर परिवार में कुछ-न-कुछ सम्पत्ति रहती है जिसका उपयोग, उपभोग सामूहिक रूप से सब करते हैं। वह सम्पति सब की है और सब के लिए है। उसका विशेष उपयोग सन्तान के पालन-पोषण और अन्य सामूहिक कार्यों में होता है।

परिवार की व्यापकता और परिवार के महत्व का सबसे बड़ा कारण यही है कि यह हमारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति का केन्द्रस्थल है। यहाँ आकर संसार और परमार्थ, लौकिकता और पार-लौकिकता सब एकत्र हो जाते हैं।

पारिवारिक सम्पत्ति ने संसार की सभ्यता के विकास में कितना हिस्सा बँटाया है और आज की घोर विषमता का यह किस प्रकार मूलभूत हेतु है, बतलाने की आवश्कता नहीं।

परिवार की अभौतिक सम्पत्ति-परम्परा का हर व्यक्ति उत्तरा-धिकारी होता है। भौतिक सम्पत्ति के उत्तराधिकार के सामाजिक नियम होते हैं, कहीं लड़की, कहीं लड़का, कहीं सब, कहीं केवल बड़ा पुत्र आदि विभिन्न उत्तराधिकार के नियम विभिन्न संस्कृतियों में हैं। जिस प्रकार उत्तराधिकार के नियम स्पष्ट हैं, उसी तरह परिवार और समाज

के अधिकारी की सीमा भी नियत है, इसमें भी हर जाति के अलग-अलग नियम हैं।

(६) सम्पूर्ण संसार में तो नहीं, परन्तु सभ्य कहे जानेवाले अधिकांश परिवारों का अपना अलग वासस्थान होता है। घर से भी मानव का एक अपनापन होता है। उससे जीवन की अनेक कटु-मधुर स्मृतियाँ लिपटी रहती हैं। हमारे अन्तर्हृदय में घर के लिए भी एक स्थान होता है, वह केवल शीत, धूप, वर्षा से हमारी रक्षा करने वाला ही नहीं है, और भी कुछ है। कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जिनके पास अपना घर नहीं है। वे किसी स्थान से बँधी नहीं रहतीं। इनमें कई परिवार साथ-साथ घूमते हैं। कुछ के पास अपने तम्बू और कैम्प होते हैं और कुछ दरिद्र जातियाँ सिरकी की महीन चटाई बुन लेती हैं, जहाँ जाती हैं, मैदानों में उसे ही खड़ी करके दो चार दिन रह लेती हैं, फिर अन्यत्र चल देती हैं।

परिवार के विभिन्न रूप

परिवार के विभिन्न रूप संसार की सभ्य और अर्द्धसभ्य जातियों में दिखलाई पड़ते हैं। वर्गीकरण का एक रूप परिवार के सदस्यों के सम्बन्ध पर आधारित है, दूसरा माता और पिता के अधिकार के आधार पर।

प्रथम आधार पर मूलतया दो प्रकार के परिवार दिखाई पड़ते हैं (१) युगल और (२) सलोहित युगल परिवार (Conjugal family).

युगल परिवार संसार की अनेक सभ्य जातियों में तथा काफी संख्या में निरक्षर जातियों में पाया जाता है। युगल परिवार के केन्द्र-बिन्दु स्त्री और पुरुष हैं। एक स्त्री तथा एक पुरुष एवं इनके बच्चे मिलकर यह परिवार बनाते हैं। इस प्रकार का परिवार विवाह के के साथ बनता है और मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता है। आज के युग में लोग इसी को स्वाभाविक तथा स्वतंत्र परिवार कहते हैं। कभी-कभी स्त्री-पुरुष और बच्चों के अतिरिक्त कुछ और व्यक्ति इसमें

सम्मिलित हो जाते हैं। जैसे असहाय माता-पिता, कभी-कभी विधुर भाई या सन्तानविहीन बहन, भाई की स्त्री। परन्तु यह परिवार अपने को बाहर के व्यक्तियों के लिए जिम्मेवार नहीं मानता।

इस प्रकार का परिवार काफी अस्थायी होता है, विवाह होते ही अनुभवहीन जोड़ियाँ, अपना संसार चलाने के लिए छोड़ दी जाती हैं। स्थायी सम्पत्ति रहने पर इससे काफी बाधा पड़ती है, बहुत जल्दी-जल्दी उसके टुकड़े होते जाते हैं। यदि परिवार को आर्थिक या सामाजिक क्रिया का केन्द्रबिन्दु बनाना होगा तो इस प्रकार के परिवार इसमें पूर्णतया असमर्थ होंगे। नौकरी पेशावालों और मजदूरों के लिए यह सबसे उपयुक्त पड़ता है, जहाँ स्वयं कमाकर खाना है वहाँ व्यक्ति की कमाई पर जितने ही कम आदमी निर्भर करें उतना ही अच्छा।

सलोहित परिवार (Consanguinous family)—

युगल परिवारों के विपरीत बहुत-सी जातियों में ऐसे परिवार मौजूद हैं, जहाँ रक्त सम्बन्ध रखनेवालों का एक दल परिवार-युक्त है और स्त्री-पुरुष की अपेक्षा भाइयों-बहनों का सम्बन्ध अधिक गाढ़ा और स्थायी है। सलोहित परिवार के दो रूप हैं—मातृ-सत्तात्मक और पितृ-सत्तात्मक।

मातृ-सत्तात्मक परिवार—

मातृ प्रधान परिवारों में पति बाहर का व्यक्ति होता है, जो अपना परिवार छोड़कर स्त्री के परिवार में आता है। वह एक प्रकार का बाहरी व्यक्ति माना जाता है, जिसका अपनी स्त्री-बच्चों पर कोई अधिकार नहीं। उसका सम्बन्ध है उस परिवार से, जिसे छोड़ कर वह आया है, वह अपनी बहनों की सन्तान का अधिकारी है। स्त्री के सम्बन्धों का मूल्य अधिक है। पति के सम्बन्धी वहाँ अपने नहीं हैं। मामा ही बच्चों के पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करता है। यदि कभी दंड देने की आवश्यकता

होती है तो वही देता है। सभी बहनों की सन्तान जन्म के उपरान्त एक की साथ मामा या मामाओं की देख-रेख में पाली जाती है। मातृ-प्रधान सलोहित परिवार में एक स्त्री, उसके पुत्र और पुत्रियाँ और पुत्रियों की पुत्रियों के बच्चे सम्मिलित होते हैं। ऐसे घर को मातृगृह (Matrilocal Residence) कहते हैं।

कई जातियों में तो इतना भी ज्ञान नहीं है कि सन्तान की उत्पत्ति माता-पिता के संयोग से होती है। ट्रोवि भाँड द्वीप में ऐसा विश्वाश किया जाता है कि यद्यपि कुमारी गर्भ धारणा नहीं कर सकती परन्तु गर्भ भूतों के कारण होता है (मैलिनोवस्की की the Sexual Life of savages in North Malanesia से) परन्तु यह भावना बहुत कम जातियों की है।

पितृ-सत्तात्मक परिवार (Patriarchal family)—

मातृ-सत्तात्मक परिवारों के विपरीत इस परिवार में स्त्री का सन्तान पर कोई अधिकार नहीं माना जाता। स्त्री पति के घर आती है, वह एक प्रकार अपनापन खो देती है, उसका नाम बदल जाता है, उसका सम्बोधन होता है पति के नाम के आगे 'बहू' लगाकर या पहले स्त्रीसूचक उपाधि देकर। सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं होता। सामाजिक जीवन की सुविधाओं से वह थोड़ी-बहुत वञ्चित हो जाती है। कृषियुग और सभ्यता के विकास में यही परिपाटी हमें १९ वीं शताब्दी तक मिलती है। पितृसत्ता ने ही मध्ययुग की संस्कृति का विकास किया, श्रम विभाग किया, व्यक्तियों के हाथों में अधिकार सीमित किये, बड़े साम्राज्यों की स्थापना की और उन धर्मों, नियमों को जन्म दिया, विकास किया, जिसे आधुनिक युगने विरासत में पाया है। इसने परिवार को समाज का एक ठोस अंग बनाया, और परिवार की महत्ता प्रतिपादित की।

सम्पूर्ण सत्ता पिता में केन्द्रित करते हुए भी इसके कई रूप प्रचलित हैं, जिनमें निम्न मुख्य हैं—

सम्मिलित परिवार (Joint family)—

यह पितृसत्ता का सबसे विकसित रूप है। इसमें एक पिता के सभी पुत्रों का परिवार एक साथ रहता है। पिता का परिवार पर सर्वोच्च अधिकार है। सम्पूर्ण उत्पादन उसी के पास जाता है, और वह सबकी जरूरतें पूरी करता है। सब उसके आदेश से या स्वतः अपनी अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार काम करते हैं। वह रोग और विपत्ति की सुरक्षा का प्रबन्ध रहता है। बड़े-छोटों से सेवा लेने के अधिकारी हैं। छोटे अपना कर्त्तव्य समझकर बड़ों की आज्ञा का पालन करते हैं। जब तक पिता जीवित है, सम्पूर्ण परिवार की सम्पति उसकी है। उसके जीवन भर किसी को कोई भाग नहीं मिल सकता, न कोई अपना अधिकार माँग सकता है।

(२) मूलगत परिवार (Stem family)—

इस पद्धति के अनुसार पुत्रों में से एक ही पिता की सम्पत्ति पर अपना अधिकार करता है और उससे अपना परिवार चलाता है, शेष भाईयों को कभी-कभी थोड़ी जीविका दे दी जाती है। और कभी-कभी वह भी नहीं। लेप्ले ने मूल के लिए फ्रांसीसी शब्द Souche का प्रयोग किया है। इसका अर्थ होता है लता का मूल डंठल, जिससे ठहनियाँ हर साल काट दी जाती हैं। हमारे देश की जमींदारियाँ इसका उदाहरण हैं। उनमें सम्पत्ति सभी पुत्रों में बाँटी नहीं जाती। वरन् बड़ा पुत्र ही पिता का उत्तराधिकारी होता है। यह परिपाटी राजव्यवस्था से निकली है और ब्रिटिश सरकार ने जमींदारी को बलात् जिलाए रखने के लिए इसे जारी किया है। कई जातियों में सबसे बड़ा या सबसे छोटा पुत्र ही उत्तराधिकारी होता है। शेष अपनी जीविका अन्यत्र ढूँढ़ते हैं।

(३) सामूहिक सम्पत्ति मूलक परिवारसमूह (Patriarchy of Communal ownership)—

इस प्रकार के परिवार बहुत कम रह गये हैं। इनमें सारी सम्पत्ति सम्मिलित रहती है और कई परिवारसमूह समान रूपसे उसके अधिकारी होते हैं। इसका उदाहरण कबीली (Kabyli) जातियों में मिलता है। वहाँ व्यक्तिगत परिवारों के घर एक सामान्य आँगन के चारों ओर बने रहते हैं। एक ही कूप का पानी सभी पीते हैं। सम्मिलित सम्पत्ति के मालिक होते हैं और उसके साथ ही सम्पूर्ण परिवार-समुदाय किन्हीं अंशोंतक पितामह या वृद्धतम पुरुष के आदेश का पालन करते हैं।

इन सभी पितृ-सत्तात्मक परिवारों के मूल रूप में पिता की शक्ति अखण्ड मानी जाती है। वह पूजा का अधिकारी है, जीवित रहने पर भी और मर जाने पर भी उसकी उपासना होती है। कई देशों में तो अपनी सन्तान को बेंच देने, अधिकारच्युत करने और बन्धक रखने तक का अधिकार पिता को है।

विवाह के भिन्न रूप

संसार की सभ्य और असभ्य कही जानेवाली जातियों में प्रधानतया चार प्रकार के विवाह प्रचलित हैं।

(१) युगल विवाह (Monogamous marriage)—

संसार की अधिकांश जातियों में एक स्त्री से एक पुरुष की शादी ही उपयुक्त मानी जाती है। वस्तुतः यही पद्धति सबसे स्वाभाविक और प्राणिशास्त्र के नियमों के अनुकूल है। पितृ-सत्तात्मक परिपाटी में पुरुष की लालसा और वासना युग का संस्कार पाकर बढ़ गई थी। आज जीवन की उलझनों में जहाँ दूसरी परिपाटी प्रचलित है वहाँ भी लोग, बाध्य होकर ही सही, युगल विवाह से सन्तुष्ट रहते हैं

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि युगल विवाह आधुनिक युग की देन है और प्राचीन काल में तथा वर्त्तमान अर्ध-सभ्य तथा निरक्षर जातियों में यह प्रथा नहीं मिलेगी, परन्तु यह भूल है। आज की बहुत-सी जंगली जातियों में इसका कठोरता के साथ पालन किया जाता है।

(२) **बहुपत्नीत्व** (Polygyny)—

बहुपत्नीत्व का अर्थ है एक पुरुष के साथ एकाधिक स्त्रियों का विवाह। यह प्रथा सभ्यजातियों में पितृ-सत्तात्मक युग की उपज है। बहुत-सी जातियों में कई स्त्रियों का होना गौरव का विषय माना जाता है।

आस्ट्रेलिया के मूल निवासी प्रतिष्ठा के लिए कई विवाह करते हैं। हिन्दुओं में भी आज से कुछ दिनों पहले तक कुछ उच्च वंश इसमें अपना गौरव समझते थे और अनेक विवाह करते थे। कुलीन प्रथा में एक विचित्र विपरीत परिपाटी थी। अपने निम्नगोत्रीय सम्पन्न परिवारों में विवाह करके ये स्त्रियों को वहीं छोड़ देते थे। सन्तान के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व स्त्री के पिता और भाइयों पर रहता था। ये लोग नौकर-चाकर के साथ ठाठ बाट से अपनी ससुरालों में घूमा करते थे और दहेज लिये दिये घर आते थे। परिभ्रमण के सिलसिले में जब किसी ससुराल में जाते थे तो उस विवाह से उत्पन्न संतान का पता लगता था और उसका मुँह देखते थे।

बहुपत्नीत्व इतनी व्यापक परिपाटी है कि परिवार की उत्पत्ति के समान ही इसके आरम्भ का पता बतलाना कठिन जान पड़ता है। इतना कहा जा सकता है कि कुछ जातियों में यह परिपाटी आवश्यकता-वश और परिस्थितिवश भी है। बहुत-सी मृगयोपजीवी जातियों में जीवन बड़ा कष्टकारक है। उनमें पुरुषों को प्रकृति की भीषणता से बराबर लड़ते रहना पड़ता है। इससे पुरुष स्त्रियों की अपेक्षा शीघ्र ही मृत्यु के शिकार हो जाते हैं। फलतः स्त्रियों की संख्या पुरुषों की

अपेक्षा बहुत अधिक हो जाती है। इससे परिस्थितियाँ उन्हें बाध्य कर देती हैं कि वे एकाधिक स्त्रियों से विवाह करें।

किन्तु संसार के सभी बहुपतित्व वाले समाजों तथा संस्कृतियों की यही स्थिति नहीं है। हिन्दुओं तथा मुसलमानों में यह दोष नहीं माना जाता और फलतः कुछ दिनों पहले सम्पन्न परिवारों में हर्म्य और हरम खाने भरे रहते थे; किन्तु भारत में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से कम है। १९५१ की जनगणना के अनुसार सम्पूर्ण भारत में—१८३३,८४,८०७ पुरुष और १७३५,०६,८१७ स्त्रियों की संख्या है। यदि प्रान्तों के हिसाब से देखा जाय तो मद्रास, उड़ीसा, ट्रावनकोर-कोचीन, कच्छ और मणि पुर में ही स्त्रियों की गणना पुरुषों से थोड़ी अधिक है। यह संख्या निम्न है—

प्रान्त	स्त्री	पुरुष
मद्रास	२८, ५३८, ६७१	२८, ४१३, ६६१
उड़ीसा	७, ४०४, २८५	७, २४०, ००८
ट्रावनकोर कोचीन	४, ६४९, ३२२	४, ६१५, ३३५
कच्छ	२९४, ६४२	२७३, ३६३
मणिपुर	२९४, ३११	२८४, ७४७

१९३१ की जनगणना में मद्रास, बिहार, उड़ीसा (उस समय दोनों सम्मिलित थे) मध्यप्रान्त बरार तथा ट्रावनकोर कोचीन में स्त्रियों की संख्या थोड़ी अधिक थी। १९३१ का हिसाब निम्न है:—

प्रान्त	उत्पादक अर्थात् १५ से ४५ वर्षतक १००० पुरुषोंपर स्त्रियों की संख्या।	सम्पूर्ण आबादी में १००० पुरुषोंपर स्त्रियों की संख्या।
×		
×		
पंजाब	९१८	८३१
बम्बई	९७०	९०१
अजमेर	९७६	९९२
निकोबार	९९१	८८१
आसाम	९९१	९००

उत्तर प्रदेश	९९५	९०२
बंगाल	१,०३७	९२४
मध्यप्रान्त	१,१०६	९९८
बिहार उड़ीसा	१,१३०	१,००५
मद्रास	१,११७	१,०२५

१९३१ और १९५१ के अनुपात में विशेष परिवर्तन बंगाल तथा मध्यप्रान्त में दिखाई पड़ता है। बंगाल के परिवर्तन का कारण विभाजन-जन्य अस्तव्यस्तता है। मध्यप्रान्तमें विदर्भ (बरार) में स्त्रियों की संख्या अधिक थी। इस बार पुरातन अनुपात नष्ट हो जाने का प्रत्यक्ष कारण समझ में नहीं आता। चाहे जो हो, यदि अधिकता बहुपत्नीत्व का कारण हो तो इस संख्या तथा अनुपात को देखते हुए नारीबहुल प्रान्तों में ही बहुपत्नित्व होना चाहिए, किन्तु बात उल्टी ही है। उन प्रान्तों में नारी बहुलता का एक प्रधान कारण स्त्रियों का सम्मान भी है।[1] यही सम्मान बहुपतित्व की भावना भी नहीं आने देता। जन-जातियों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से थोड़ी अधिक है। १००० पुरुष पर १००९ स्त्रियाँ हैं। उनमें से कइयों में थोड़ा-बहु-पत्नीत्व चलता है।

यदि अधिकता एक से अधिक स्त्रियाँ रखने के लिए बाध्य या उत्साहित करती तो योरोप में सबसे पहले यह प्रथा होनी चाहिए थी। किन्तु ऐतिहासिक काल में उसका कभी दर्शन नहीं होता, बल्कि वहाँ स्त्रियों की संख्या की अधिकता का कारण नारी सम्मान ही है। १९११ में भारत में १००० बच्चों पर ९३७ बच्चियाँ पैदा हुई थीं, किन्तु पश्चिमी योरप में १००० पर ९४८। केवल ११ की अधिकता कोई मूल्य नहीं रखती, क्योंकि वहाँ सम्पूर्ण जनसंख्या में स्त्री और पुरुष का

---

१. ऐसा हिसाब लगाया गया है कि सम्पूर्ण भारत में १००० बच्चों पर ९३७ बच्चियाँ पैदा होती हैं किन्तु स्वाभाविक रूप में बच्चे अधिक मर जाते हैं। १०–१४ वर्ष की आयु में मृत्यु संख्या समान रहती है। तत्पश्चात् ४० वर्षों तक स्त्रियाँ बहुत मरती हैं।)

अनुपात १०३८, १००० था जब कि भारत में वह ९५४ और १००० था। ११ की अधिकता ने ही ८४ का अन्तर नहीं उत्पन्न किया, वरन् अन्तर हुआ समाज की धारणा तथा स्त्री-पुरुष के प्रति होनेवाले विषम व्यवहारों के कारण।

इससे स्पष्ट है कि बहुलता ही बहुपत्नीत्व का एकमात्र कारण नहीं है। जिस समय हमारे यहाँ यह प्रथा सम्मानवर्द्धक थी, उस समय इस अनुपात में अधिक अन्तर नहीं रहा होगा। बहुपत्नीत्व तो स्वयं स्त्रियों की संख्या में कृत्रिम अभाव पैदाकर दिया करता है और फलस्वरूप अविवाहित और थोड़े विवाहित भी नारी प्राप्ति के अन्य साधन काम में लाने लगते हैं। हिन्दुओं में विधवा-विवाह निषेध भी विवाह योग्य स्त्रियों की संख्या कम कर देता है।

ऐसी स्थिति में बहुपत्नीत्व का दोष संस्कृति के ही मत्थे देना पड़ेगा। यह प्रथा कलह तथा कई अनैतिक सामाजिक कामों के लिए उत्तरदायी है। कुछ जातियों में सपत्नियों में कलह नहीं होती और स्त्रियाँ वृद्ध होने पर अथवा रुग्णावस्था एवं गर्भावस्था में अपने पतियों का दूसरा विवाह करा देती हैं। इसीलिए सपत्निद्रोह—सौतियाडाह को भी संस्कृतिसापेक्ष माना जाता है, अनिवार्य नहीं। मैक्सिको की नवाजो जाति में सपत्नि-कलह नहीं होता और न सौत होना शत्रु बनना माना जाता है। यह सही है कि मनुष्य को संस्कृति ही भावनाएँ देती है, जीवन की सुख-सुविधा, सम्मान आदि का रूप भी निर्धारित करती हैं और सामान्य जीवन की आवश्यकताओं के अभाव में होने वाले कष्ट तथा वेदना को कम करती है। किन्तु इसकी एक सीमा है। मानव संस्कृति है साथ ही प्राणी भी है। इसीलिए मनुष्य प्रथाओं से उत्पन्न प्राणितत्त्वों की आवश्यकताओं की हानि वहीं तक सहन कर सकता है, जहाँ तक सहने योग्य हो। सपत्नि से होने वाले कष्ट संस्कृतिजन्य है, साथ ही प्राणी तत्वमूलक भी हैं। इसीलिए आन्तरिक और बाह्य दोनों हैं। सपत्नि कलह से हीन एक नवाजो संस्कृति है। किन्तु

हजारों संस्कृतियाँ इससे जर्जर पाई जाती हैं। एक साथ रहने पर कष्ट होना ही सपत्नियों के लिए अधिक स्वाभाविक है।

(३) बहुपतित्व (Polyandry)—

एक ही स्त्री का कई पुरुषों की पत्नी रूप में रहना बहुपतित्व कहलाता है। संसार में यह प्रथा बहुत कम पाई जाती है; तो भी इसका अभाव नहीं है। भारत से बाहर थोड़ी बहुत अफ्रिका के मैडगास्कर में, उत्तरी अमेरिका के इस्किमों में, पावनी (Pawnee) में, उत्तरी अमेरिका के अन्य कुछ शाद्वल वासियों में (Plain Indians) तथा तिब्बत में यह परिपाटी जीवित है। हमारे देश में भी दो क्षेत्रों में इसका प्रचलन है; नीलगिरी की टोडा नामक जाति में, हिमालय पर देहरादून के जौनवाबसर ताल्लुका में रहनेवाले खसों में और भारत तिब्बत की लगी सीमा में रहनेवाली किन्नर तथा जाड़ आदि जातियों में। बहुपतित्व दो प्रकार के होते हैं—भातृमूलक और अभातृमूलक (Fraternal and non-fraternal)। भातृमूलक में एक स्त्री के कई भाई ही पति हो सकते हैं, अन्य नहीं, परन्तु अभातृमूलक में ऐसा कोई नियम नहीं है, सम्बन्धी भी साथ मिलकर सम्मिलित पत्नी रख सकते हैं। टोडा जाति का बहुपतित्व अभातृमूलक है, सम्मिलित पति सम्बन्धी भी हुआ करते हैं। सारी जाति दो विभागों में विभक्त है। प्रधान भाग त्राधर्ष (Tradharsh) और छोटा तेइमिलव है। ऐसे विभागों के लिए नृवैज्ञानिकों ने अर्द्धाली (Moity) शब्द की कल्पना की है। इनके अतिरिक्त कर्म पितृपक्षीय कुटुम्ब और मातृपक्षीय शिवि हैं। टोडा विवाह अपनी अर्द्धाली में ही होते हैं, किन्तु अपनी "शिवि और कुटुम्ब" में नहीं होते। सहपति अधिकांश अपनी "शिवि" या कुटुम्ब के ही होते हैं।

अविकसित जातियों के सम्बन्ध में शोध करनेवाले कुछ विद्वान् अनेक जातियों में इन आरम्भिक कौतूहलवर्द्धक स्थितियों का चिह्न व्यर्थ भी ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं और कभी-कभी इनके अस्तित्व की

कल्पना भी कर लिया करते हैं। क्रेमेन और स्क्रेप्सफर्ड ने संथालों में भी बहुपतित्व प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि देवर और भाभी के अवैध-सम्बन्ध बहुत प्रचलित हैं और यदि स्त्री राजी हो तो पति ऐसे सम्बन्धों पर आपत्ति नहीं करता[१]। यह कोरी कल्पना है। अवैध सम्बन्धों के आधार पर किसी परिपाटी का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। संथाल समाज ऐसे सम्बन्धों को कभी जायज नहीं मान सकता। यदि ऐसे ही प्रमाणों के बलपर कहना पड़े तो कह सकते हैं कि सम्पूर्ण संसार में मिथुनात्मक परिवार हैं और योरोप, अमेरिका में बहुत अधिक हैं क्योंकि वहाँ स्त्री स्वातन्त्र्य है। ऐसी चीजें वैज्ञानिक नहीं हो सकतीं।

खस इस परिपाटी को चिया-बिया कहते हैं। चिया-बिया का अर्थ होता है बड़े भाई के विवाह से सभी छोटे भाइयों का विवाह मान लेना। खस लोगों में बड़े भाई की शादी होती है, शेष स्वाभाविक रूपमें अधिकारी हो जाते हैं। कभी-कभी छोटा भाई अपना अलग विवाह करना चाहता है। ऐसी स्थिति में भी वेदिका की फेरी बड़ा भाई ही देता है। बच्चे पिता का नाम पूछने पर बड़े भाई का ही नाम बतलाते हैं, अन्य भाई अपने-अपने काम के नाम पर पुकारे जाते हैं जैसे डांगराबाबा, भेड़ीबाबा आदि। स्त्री-पुरुष मिलन की चर्चा कोई लज्जाजनक बात नहीं मानी जाती। छोटे-बड़े सबों से इस सम्बन्ध में खुलकर बातें होती हैं। सर्वत्र सभी भाइयों को सम्मिलित पत्नी से मिलने की समान स्वतन्त्रता नहीं रहती। बावर में वह किस दिन किसके साथ रहेगी पहले ही सूचना दे देती है। साधारणतया वह छोटे बड़े सबका ध्यान रखती है और क्रम-क्रमसे मिलती है। पर जौनसर में वह ऐसा नहीं करती। घर पर केवल बड़ा भाई ही मिल सकता है। बाकी लोग खेतों और जंगलों में मिलने का प्रयत्न करते हैं। बड़ा भाई भी अवसर देना चाहता है (विशेष विवरण के लिए देखें श्री धर्मदेव

१. On fraternal Polyandry among States by M. C. H. Craven and Revd L. O. Skrepsfurd.

शास्त्री का 'बहुपतित्व' लेख जुलाई १९५३ के 'वन्यजाति' में प्रकाशित)। बड़े भाई का ही सारे घर पर और पत्नी पर भी प्रधान अधिकार है। उसके रहते स्त्री किसी के साथ घर में नहीं रहेगी। इसका प्रभाव उनके विनोद, बात-चीत, सारी चीजों पर पड़ता है। इनमें कन्या-शुल्क है। यदि पति स्त्री को स्वयं छोड़ दे तो उसे यह शुल्क नहीं लौटाया जाता। किन्तु यदि स्त्री पति को छोड़ दे तो लड़की का पिता या नवीन पति उसकी क्षतिपूर्ति करते हैं। इसका फल यह होता है कि ज्यों-ज्यों पतियों की संख्या बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसका शुल्क बढ़ता जाता है, क्योंकि छोड़े हुए सारे पतियों की क्षतिपूर्त्ति नव पतियों को करनी पड़ती है। क को स्त्री ने छोड़ा, ख से विवाह किया, ख को क की क्षतिपूर्ति करनी पड़ी। यदि उसने ख को छोड़कर ग से किया तो जो क्षतिपूर्ति करेगा वह ख के द्वारा की हुई पूर्ति से अधिक होगा क्योंकि इसमें क ख दोनों की क्षतिपूर्ति सम्मिलित हो जाती है (क ख ग को भातृ समूह ही समझना चाहिए) कुमारियाँ की अपेक्षा परित्यक्ताओं तथा विधवाओं से विवाह करना उत्कृष्ट माना जाता है। यदि भाई दूसरी पत्नी रखना चाहते हैं तो अधिकांश सम्मिलित ही रखा करते हैं। खस लोगों में सन्तान का अभाव रहा करता है इसलिए कन्या-शुल्क आधा विवाह के समय चुकाया जाता है। आधा सन्तान होने पर, ये लोग बहुपति-द्रोपदी के नाते अपने को पाण्डवों का वंशज मानते हैं।

बहुपतित्व परिस्थितिजन्य भी है और संस्कृति की देन भी। टोडा लोगों में बच्चियों को मार डालने की परिपाटी थी जिसे सरकार द्वारा अनियमित कर दिया गया है। इसलिए सहस्रों वर्षों से लड़कियों और स्त्रियों की संख्या बहुत कम रहती आई है। ऐसी स्थिति में बहुपतित्व ही एकमात्र पथ रह जाता है। कन्या-हत्या अब रुक गई है तो भी उसकी संख्या पर्याप्त नहीं हो सकी है। इसलिए एकाधिक पत्नियाँ भी सम्मिलित रूप में ही रहने लगी हैं।

श्रीधर्मदेव शास्त्री तथा श्री डी० एन० मजुमदार आदि कई विद्वानों

ने खस जाति के सम्बन्ध में थोड़ा विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। विभिन्न जन-गणनाओं में इस इलाके में स्त्री और पुरुषों की संख्या निम्न है :—

	पुरुष	स्त्रियाँ
१८८१	२५,४००	१९,७१७
१८९१	२८,४३५	२२,२६२
१९०१	२८,३४९	२२,७५२
१९११	३०,५१८	२४,२९४
१९२१	३१,५६७	२४,०५६
१९३१	३१,९२२	२४,८५३

यदि युगल-विवाह की परिपाटी रहे तो जनगणना के अनुसार भी प्रायः एक चौथाई पुरुष अविवाहित ही रह जायँ। किन्तु प्रश्न इतना ही नहीं है। डा० मजुमदार ने इस दृष्टि से कई गाँवों के आँकड़े लिए तो एक गाँव में तीन और दो का अनुपात निकला और दूसरे गाँव में ७ तथा ४ का। श्री पी० सी० विश्वास ने सात गाँवों का हिसाब लगाया। उनका कहना है कि राजपूतों में १००० पुरुषों पर ८८४ स्त्रियाँ हैं। बच्चों में यह विषम अनुपात और भी अधिक है अर्थात् अगली पीढ़ी में आज से भी अधिक कठिनाई है[1]। इसका अर्थ यह है कि बिना बहुपतित्व के एक गाँव में तिहाई और दूसरे में आधे से थोड़े ही कम पुरुष कुमार या विधुर रहते हैं। टोडा लोगों में नारी अभाव का कारण संस्कृतिजन्य है किन्तु खस में प्राकृतिक। खसों में कन्या-हत्या का कहीं पता नहीं चलता, थोड़ा-बहुत भाटों में ही है या था। सम्भव है पहले सब लोगों में रहा हो।

हिमालय का जीवन अत्यन्त कठोर एवं जटिल है, पत्थरों पर अत्यन्त परिश्रम से थोड़ा-बहुत अन्न पैदा कर पाते हैं। इसके साथ ही जलवायु की विषमता के कारण चारे तथा रक्षा के लिए अपने ढोरों

१. देखें Polyandry लेख, वन्य जाति, जनवरी १९५३ में प्रकाशित

एवं भेड़ों को चराने बहुत दूर-दूर जाना पड़ता है। यातायात एवं आवागमन के साधन नहीं हैं। पैदल जाना भी सरल नहीं है। वन्य तथा हिम-जीवों के आक्रमण तथा हिमखण्डों से मृत्यु का भय सदा बना रहता है। मनुष्य महीनों घर से बाहर रहते हैं। ऐसी स्थिति में यह विवाह-प्रणाली स्त्री के लिए, साथ ही घर को बनाए रखने के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होती है। इस जटिल जीवनके लिए संयुक्त परिवार एक अनिवार्य आवश्यकता है, जिसमें घर भी देखा जा सके, दूर-दूर तक भेड़ भी चराई जा सके, ढोरों को भी कभी तराइयों में, कभी पहाड़ों पर घुमाया जा सके और जटिल पत्थरों पर अवस्थित बाजारों से भी सम्बन्ध रखा जा सके। युगल-विवाहों में संयुक्त परिवार बना नहीं रह सकता। खस गढ़वालियों के सम्बन्ध में कहा करते हैं कि चिया-बिया नहीं रहने से उनके खेतों के टुकड़े होते जा रहे हैं और वे दरिद्रता के कारण बाध्य होकर घर से बाहर नौकरियों के लिए खाक छानते फिरते हैं। खस अपना घर छोड़ना नहीं चाहते और न इस प्रकार मारे-मारे फिरना चाहते हैं।

केवल आवश्यकताओं से ही कोई प्रथा बनी नहीं रह सकती। प्रथायें आवश्यकताओं से विपरीत भी जाया करती हैं। आवश्यकता तथा प्रथा का अनिवार्य सम्बन्ध होने से गढ़वाली भी इसी स्थिति में हैं। संस्कृति भी प्रथाओं का निर्माण करती है। यह बात दूसरी है कि यहाँ संस्कृति और आवश्यकताएँ एकाकार हो गई हैं अथवा दोनों ने मिलकर इस परिपाटी को जन्म दिया है। यदि संस्कृति इसकी स्वीकृति नहीं देती तो नारी के अभाव में अपहरण होते या अन्य कोई पथ निकाला जाता। गुर्जर कन्या-हत्या किया करते थे। उन्हीं के कारण राजपूतों में भी यह प्रथा चल पड़ी, किन्तु, उनमें इस अभाव ने बहुपतित्व की सृष्टि नहीं की। अपहरणों का सिलेसिला अवश्य चला। खस अपहरण कहाँ से करते? ब्राह्मण, भाट और राजपूत सबों में अन्तर्विवाह होते हैं। सबों में बहुपतित्व, विधवा-विवाह तथा त्याग या तलाक (इसे वे छूत कहते हैं) मौजूद है। कारीगर, कोल्हा तथा बाजी-

गर आदि सामाजिक दृष्टि से हीन हैं, और उच्चजाति वाले इनसे विवाह-सम्बन्ध स्थापित नहीं करते। ये सब डोमो से आये हैं और उसी वंश-समुदाय से सम्बन्धित हैं। उच्च वर्णवाले किसी भी स्थिति में उनसे सम्बन्ध करने के लिए तैयार नहीं हैं और इससे अपनी रक्तशुद्धि के लिए भी बहुपतित्व आवश्यक हो जाता है, किन्तु दूसरे लोगों को विचित्र लगने वाली परिपाटी इतने ही से—डोमों से बचने के लिए ही—नहीं चल पड़ती और न बची रहती है। बहुत बार ऐसा देखा जाता है कि संस्कृति स्वीकृति नहीं देती, किन्तु जब भौतिक आवश्यकताएँ बहुत बढ़ जाती हैं तो संस्कृति को या तो मुड़ना पड़ता है या झुकना। असवर्ण-विवाह अपराध होते हुए भी स्त्रियों के अभाव में छिपकर चलता है और समाज को बाध्य होकर आँखें मूँदनी पड़ती हैं। वस्तुतः इस प्रथा के विकास का प्रधान कारण संस्कृति की स्वीकृति ही है। केवल विषम-सख्या ही सम्पूर्ण रूप में जिम्मेवार नहीं है। श्री धर्मदेव शास्त्री ने किन्नर प्रदेश में हाँगराग को यात्रा की थी, वहाँ भी बहुपतित्व है और खसों की अपेक्षा अधिक भयंकर समस्या है। परन्तु स्त्रियों की ही संख्या अधिक है। इसलिए निराश होकर बहुत-सी स्त्रियाँ भिक्षुणी हो जाती हैं, जिन्हें जोमो कहते हैं[1]।

श्री राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि लद्दाख तथा तिब्बत में जो मुसलमान हो जाते हैं, उनमें बहुपतित्व परिपाटी नहीं रह जाती। परन्तु बौद्धों में यह पूर्णतया जीवित है। उनमें स्वतन्त्र विचार करने पर छोटा भाई घर से निष्कासित भी हो जाता है। मुसलमान युगल-विवाह करते हैं, साथ ही उनमें एक प्रकार से सामयिक-विवाह की परिपाटी भी जिसे वे मुता करते हैं, विचित्र रूप में विकसित हो गई है। इसमें निकाह नियत समय के लिए होता है, मुल्ला कुछ महर (स्त्रीधन) के साथ मुता पढ़ाता है। इस समय के बाद सम्बन्ध अपने आप टूट जाते हैं[2]। इस अन्तर का क्या कारण हो सकता है? वास्तव

१. वन्य जाति, जनवरी ५३।
२. देखें, राहुल यात्रावली, पृ० ७३।

में जिस समय सातवीं सदी में बौद्ध-धर्म इधर आया, बहुपतित्व पुष्ट हो चुका था। यह धर्म प्रधानतया संन्यास या भिक्षु-धर्म है, गार्हस्थ्य-धर्म नहीं, इसलिए इधर ध्यान नहीं दिया। इसके विपरीत इस्लाम गार्हस्थ्य-धर्म है, अस्तु विवाहादि के सम्बन्ध में अपना धर्म और संस्कृति-सम्मत आचार लादना चाहा। इससे इसमें दीक्षित पुरानी-प्रथा तोड़ने लगे, और तोड़ ही दिया, भले इस प्रयत्न से मुता की नवीन प्रथा का जन्म हो गया।

खसों की यह संस्कृति अकेली नहीं है, वरन् हिमालय के एक बड़े भाग और तिब्बत की संस्कृति का एक अंग मात्र है। इस सम्पूर्ण भूभाग में इसका प्राधान्य है। डा० डी० एन० मजुमदार ने यह प्रमाणित करने का सफल प्रयास किया है कि कभी इनमें मातृप्रधानता थी और उत्तराधिकार स्त्रियों को मिला करता था। सम्पर्क से या अन्य कारणों से इसपर पितृसत्ता लद गई। फलतः मिश्रित संस्कृति अथवा अपक्व संस्कृति निकल आई। आज भी भगिना-भगिनी के विवाह में मामा की प्रधानता रहती है, पिता की नहीं। अभी भी वहाँ मातुल सत्ता (avuncu-late) का अवशेष है। स्त्रियाँ अपने ससुर को मामा तथा सास को मामी कहा करती हैं; यद्यपि पुरुष सास-ससुर सम्बोधन का ही प्रयोग करते हैं। पिता के घर में स्त्री-स्वातंत्र्य या उच्छृंखलता भी स्त्रीप्रधानता सूचित करती है[२]।

मातृसत्तात्मक आधार पर पितृसत्तात्मक संस्कृति का यह आरोप[१] कितना पुराना है, कब से है, और किस सम्पर्क के फलस्वरूप है, यह बतलाना कठिन है। अवश्य ही अत्यन्त प्राचीन है, इसका ऐतिहासिक आरम्भ खोजना सरल नहीं है।

---

१. देखें, The fortunes of Primitive Tribes by Dr. D. N. Majmudar.

२. देखें, Imposition of Patriarchal Culture on Anatrarchal Anatrix—Dr. Majumdar.

ये लोग जौनसर बावर में कहीं बाहर से आये हैं। आसाम के मातृ-प्रधान खासी लोगों से इनका कोई सम्बन्ध है या नहीं, यह अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। चाहे जो हो, मनुस्मृति के जाति प्रकरण में खस और खश दो भिन्न-भिन्न जातियों का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि ईशा की प्रथम-द्वितीय शताब्दि में ही नाम-साम्य वाली दो जातियाँ थीं। और शायद 'खासी' को भी आर्य लोग खस ही कहा करते थे और लिखते थे। जौनसर बावर में ये लोग घूमते-फिरते यायावरों के रूप में थोकदारों की अधीनता में आये थे। थोकदारों के वंशजों की प्रतिष्ठा आज भी बनी हुई है और वे लोग विवाह आदि के अवसरों पर कर या पुरस्कार पाते हैं। ये लोग प्राचीन प्रथाओं को बचाये रखना चाहते हैं क्योंकि उसी में उनका स्वार्थ निहित है और सुरक्षित है।

बहुपतित्व ने कई कड़े प्रश्न उपस्थित कर दिये हैं। इस प्रथा के कारण स्त्रियों का अभाव होते हुए भी उनकी बचत हो जाती है। यह बचत तथा पिता के घर की नैतिक छूट करीब-करीब विशृंखल रूप ले लेती है और यही कारण है कि अपरिचितों तथा अर्द्धपरिचितों से सम्बन्ध का थोड़ा विकृत फल देखने में आता है। सम्पूर्ण हिमालय पर, काश्मीर से आसाम तक गर्मी और सूजाक की बीमारी भयंकर रूप में फैली हुई है[1]। इस रोग के प्रसार का श्रेय मैदान से गए हुए वायुसेवियों को भी थोड़ा-बहुत है ही; इसमें कोई सन्देह नहीं। पर केवल वे ही दायी नहीं हैं। घर में बड़े भाई की उपस्थिति में छोटे भाई स्त्री से नहीं मिलेंगे। इसलिए जंगलों और खेतों में मिलते हैं तथा अन्य स्त्रियों से अनियमित सम्बन्ध के लिए बाध्य होते हैं। शीत-प्रदेश होने से भयंकर रूप में गर्मी-सूजाक से उत्पन्न कुष्ठ नहीं है, तो भी इसका नितान्त अभाव नहीं है[2]।

---

१. देखें, First Five Year Plan P. 504.

२. देखें, वही पृष्ठ ५०६।

तिब्बत में उच्च परिवारों के सम्पन्न लोग कई स्त्रियों से विवाह करने लगे हैं। मध्यम श्रेणी के श्रेष्ठ पुरुष युगल-विवाह पसन्द करते हैं; परन्तु सामान्य साधनहीन पुरुष सम्मिलित पति या पत्नियाँ रखते हैं। इस प्रकार सामाजिक स्वीकृति के साथ ही आर्थिक स्थिति पर भी यह प्रणाली निर्भर करने लगी है। खस भी सम्मिलित रूप में एक से अधिक पत्नियों से विवाह करने लगे हैं तथा बड़े भाई से अलग होकर अलग स्त्री से शादी करने की परिपाटी कई छोटे भाई भी चलाने लगे हैं। यद्यपि परिक्रमा बड़े भाई ही करते हैं; छोटा भाई उसके पीछे पीछे शामिल हो जाता है। श्री पी० सी० विश्वास के अनुसार आज खसों में युगल-विवाह या एक-विवाह की ही संख्या सबसे अधिक है। उसके बाद बहुपतित्व वाले परिवारों की संख्या है। कई परिवारों में तो सम्मिलित पत्नियों की संख्या पुरुषों के बराबर और कहीं-कहीं अधिक भी हो गई है। शहरों से दूर बहुपतित्व ही प्रचलित है।[1]

अनैतिकता और रोगों की समस्या के साथ ही सन्तान तथा जाति के अस्तित्व की समस्या भी है। यह कहा जा चुका है कि खसों में सन्तान का मूल्य बहुत अधिक है। परन्तु सन्तान होती ही कम हैं। सन्तान नहीं होने से लाग (छूत) का भी संख्या कम नहीं है। निस्सन्तान स्त्री का कन्या-शुल्क पिता को लौटा देना पड़ता है और परित्याग हो जाता है, इससे पारिवारिक स्थिरता नष्ट हो जाती है। जौनसर बावर में सम्पूर्ण भारत की तुलना में जनवृद्धि की निम्न-लिखित गति है।

---

१. देखें, वन्य जाति, जनवरी ५३।

साल × ×	सम्पूर्ण भारत में वृद्धिका प्रतिशतक ×	जौनसर बावर में वृद्धि का प्रतिशतक
१८८१–१८९१	१३·२	८·९
१८९१–१९०१	२·५	·८
१९ १–१९११	७·१	७·२
१९११–१९२१	१·२	१·४
१९२१–१९३१	१०·६	२·४
सम्पूर्ण प्रतिशतक—	३४·६	१८·७

बहुपतित्व वाले परिवारों में प्रति परिवार १·३ बच्चे हैं, परन्तु युगल-विवाहों में दो हैं। एकाधिक पुरुषों से सम्बन्ध रखनेवाली स्त्रियों को सन्तान कम होती है, ऐसा बहुतों का कहना है। इसलिए कुछ लोग इस बहुपतित्व को मिटा देने के पक्षपाती हैं अन्यथा खस जाति के विनाश का भय है।

परन्तु जाति के विनाश का भय है, ऊपर की तालिका नहीं बताती है। आज परिवार को सीमित करने की प्रेरणा दी जा रही है। ऐसी स्थिति में यह वृद्धि की गति जो सम्पूर्ण भारत की वृद्धि की गति का ५७·३% है, कम नहीं जान पड़ती। हम खसों को सम्पूर्ण हिमालय की संस्कृति से अलग नहीं कर सकते। बहुपतित्व सहसा मिटाने से कई अव्यवस्थायें उत्पन्न हो जायेंगी। सबसे अधिक आवश्यकता है दुहरी नैतिकता हटाने की और नैतिकता प्रचार की। यह सही है कि यह भी बहुपतित्व का ही एक अंश और उसी का फल है। वास्तव में शिक्षा-प्रचार, सम्पर्क तथा आर्थिक स्थिति सुधार से यह प्रथा स्वयं मिट जायेगी। बिना उपर्युक्त परिस्थिति के मिटना अनिष्टकारक भी हो सकता है।

टोडा अपने को ओल्ख (Olkh) कहते हैं, टोडा दूसरों का दिया नाम है। टोडा-मा का अर्थ होता है 'प्रधान'। यह एक विचित्र जाति

या प्रजाति (race) है। शरीर गठन की दृष्टि से यह दक्षिण की अपेक्षा उत्तर भारत के अधिक निकट है। दक्षिण में केवल नाम्बूद्री ब्राह्मणों से ही इसका शरीर थोड़ा-बहुत मिलता है। कुछ विद्वानों का अनुमान है दूरातीत काल में इनके पूर्वज शायद ईरान से आये थे। यूनान के राजकुमार पीटर के अनुसार इनके कई देवता सुमेरियन हैं। परन्तु स्थानीय जातियों से इनमें रक्त का काफी सम्मिश्रण हो गया है। सांस्कृतिक दृष्टि से उनकी विचित्रता आज भी बनी हुई है। वे पशुचारी हैं और भैंसों के प्रमी हैं, उनका मांस नहीं खाते यद्यपि गोमांसाहारी हैं। अनुमान होता है कि उनकी संस्कृति उस पूर्व ऐतिहासिक युग की देन है जब पशुचारण प्रथम-प्रथम आरम्भ हुआ था। मूल-स्रोत से अलग हो जाने के कारण अपनी आरम्भिक स्थिति से वे आगे नहीं बढ़ सके, जहाँ थे वहीं पड़े रहे। हिमालय प्रदेश के वासियों से इनका प्राचीन-सम्बन्ध होना भी आश्चर्य-जनक नहीं है। बहुपतित्व की समस्या खसों के समान ही विकट है। विवाह के पूर्व सम्भोग की पूरी स्वतंत्रता है, इसके अतिरिक्त दुहरी नैतिकता से जातिका पतन हो रहा है। आज इनकी संख्या कम हो गई है और प्रायः ४ के हिसाब से प्रति वर्ष घट रही है।

अन्तर्विवाह और बाह्य-विवाह (Endogamy & Exogamy)—

नियमित क्षेत्र में ही विवाह करने की आज्ञा को अन्तर्विवाह और उससे बाहर करने की परिपाटी को बाह्यविवाह कहते हैं। हिन्दू-जाति की विवाह-प्रणाली से ये दोनों प्रथाएँ स्पष्ट हो जायेंगी। हिन्दू अपने गोत्र में तथा प्रवर में विवाह नहीं करते। यह है बाह्यपद्धति और अपनी जाति से बाहर भी नहीं जा सकते, यह हुई अन्तर्विवाह की परिपाटी।

इन दोनों पद्धतियों ने समाज के विकास में बहुत बड़ा हाथ बँटाया है। इसने एक ओर सम्बन्ध का क्षेत्र बाह्यविवाह के द्वारा विस्तृत किया और दूसरी ओर प्रजातियों से अलग कर इनके सम्बन्ध को ठोस आधार दिया है। इसी से हाब हाउस ने लिखा है कि—"आर-

म्भिक जनपदों की नींव बाह्यविवाह पर आधारित है और वे एक दूसरे से अन्तर्विवाह के द्वारा अलग हैं।"

बाह्यविवाह पद्धति ने परिवार में सम्मान, आदर का भाव उत्पन्न किया। इस पद्धति के नहीं रहने पर परिवार की महत्ता स्थापित नहीं हो सकती। परिवार में वासनात्मक भावनाओं की अभिव्यक्ति निषिद्ध होने के कारण ही माता-पिता, भाई-बहन आदि विभिन्न भावनाओं की आधार-शिला कायम हो सकी। वासना की प्रधानता रहने पर ये भाव जम ही नहीं पाते। सगोत्र-विवाह भावी संतानों के लिए बहुत बुरा है, यह प्राणि-शास्त्र मानने लगा है। अगर इस तथ्य को अलग भी कर दिया जाय तो वर्जित क्षेत्र के भीतर अपने आस-पास निकट सम्बन्धियों के बीच पवित्र-भावना का बना रहना समाज की मर्यादा के लिए कम आवश्यक नहीं है, और इसलिए भी बाह्यविवाह की परिपाटी ने समाज का कम हित नहीं किया है।

बाह्यविवाह की प्रणाली कैसे उत्पन्न हुई, इस सम्बन्ध में काफी मतभेद है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि आरम्भिक समाज ने शीघ्र ही सगोत्र-विवाह के बुरे परिणाम भाँप लिए और इसे छोड़ दिया। परन्तु प्रश्न यह होता है कि क्या प्राणिशास्त्र के नियमों के अनुसार इसका बुरा फल इतने शीघ्र मिल जा सकता है कि प्राचीन अविकसित अवैज्ञानिक जन-समाज भी इसका शीघ्र अनुभव कर ले? शायद प्राणि-शास्त्र इससे अधिक नहीं बतला सकता है कि बाह्यविवाह, अंतर्विवाह से उत्कृष्ट है, अन्तर्मिश्रण unbreeding से बाह्यमिश्रण (outbreeding) उत्तम फल लाता है।

हाव हाउस ने बतलाया है कि बाह्यविवाह की भावना सगोत्र-सम्भोग (incest) के भय से उत्पन्न हुई। आदिम मानवों ने सगोत्र सम्भोग से जाति को बचाने के लिए अन्तर्विवाह निषिद्ध किया, और यह सगोत्र-सम्भोग का विवर्जन पैतृक-भावना और वासना के संघर्ष से उत्पन्न हुआ। कहने का अभिप्राय यह है कि पितृभक्ति और वात्सल्य जिस प्रकार की भावना उत्पन्न करते हैं, वह वासना रहने पर नहीं

रह सकती। अस्तु सबसे पहले पिता-पुत्री और पुत्र-माता का वासनात्मक सम्बन्ध रोका गया, भाई-बहन का सम्बन्ध भी माता-पिता की एकता के ही कारण निषेध-कोटि में आया।

वेस्टर मार्क का कहना है कि जो लोग बचपन से सतत सम्पर्क में रहते हैं उनमें वासना पैदा नहीं होती, और यदि कभी उत्पन्न भी होती है तो घृणा और ग्लानि होती है। निकट सम्बन्धियों का वासनात्मक सम्बन्ध इसी भावना से निषिद्ध हुआ।

हाब हाउस और वेस्टर मार्क के कथनों पर आपत्ति की जाती है कि ये भाव सहज नहीं है। सम्भव है आज का संस्कार ही सगोत्र-सम्बन्ध के नाम पर घृणा उत्पन्न करने का कारण हो। अस्तु जिसे ये लोग कारण मानते हैं वह कार्य हो सकता है। चाहे जो हो, यह भावना समाज तथा परिवार को वर्त्तमान स्वरूप प्रदान करने में बड़ी सहायक हुई; इसमें कोई संदेह नहीं। यदि आदिम मानव द्वारा विवाह का क्षेत्र निर्धारित नहीं किया गया होता तो परिवार समाज की एक इकाई नहीं बन पाता और इसके द्वारा परम्परागत संस्कृति की जो रक्षा और वृद्धि हुई, वह नहीं होती। परिवार में सम्मान और अधिकार, जिसने हमारे विकास में महत्वपूर्ण भाग लिया है, कभी नहीं उत्पन्न होते।

इस निषिद्धि का क्षेत्र विभिन्न संस्कृतियों में भिन्न-भिन्न है। भारत के हिन्दू अपने गोत्र प्रवर तथा पिण्ड में विवाह नहीं करते, चाहे कितनी ही पीढ़ियों का अन्तर क्यों न हो। संथालों की भी यही स्थिति है। कई जातियों में सगोत्र-विवाह तो नहीं होते परन्तु भाई-बहनों की संतानों में सम्बन्ध होते हैं और उत्कृष्ट माने जाते हैं। दक्षिण में भगिने के रहते मामा अपनी पुत्री का विवाह अन्यत्र करना पसन्द नहीं करते। कई आदिवासियों में यह परिपाटी (Cross cousin marriage) चलती है। मगहियाडोम अपनी पीसी (फुआ) की लड़की से विवाह करना उत्कृष्ट समझते हैं। यह इतना प्रधान तत्व है कि अन्यत्र विवाह होने पर भी पीसा (फूफा) ही अपने साले के पुत्रों और पुत्रियों के विवाह में प्रधान कर्त्ता रहता है। गोंडों में सारी जाति कई गोत्रों में बँटी हुई है

और कई गोत्रों का समूह अपने भीतर विवाह निषिद्ध मानता है। प्रत्येक गोत्र जानता है कि कौन-कौन गोत्र उसके दादा-भाई और कौन-कौन उसके मामा हैं। प्रथम के भीतर विवाह सम्बन्ध नहीं हो सकते। केवल दूसरे में हो सकते हैं। इस विवर्जन के सिवाय कोई अन्य रोक या बन्धन नहीं है। मामा यदि अपनी लड़की की शादी भगिने से नहीं करता तो उसे दण्ड देना पड़ता है। आस्ट्रेलिया की कई जातियों में दो समुदाय हैं। प्रथम समुदाय दूसरे में विवाह कर सकता है। कई विद्वानों ने गोंड़ों में भी वैसी ही स्थिति की कल्पना की है, किन्तु यह सत्य नहीं है।

विगोत्र विवाह अथवा सगोत्र विवाह-विवर्जन इतना प्रधान और प्रशंसनीय तत्त्व है तथा संसार की कई जातियों में अनिवार्य लोकाचार है, तो भी ईरान से लेकर मिस्र और योरप तक बहुत प्राचीन काल से ही अनेक साम्य जातियों में यह प्रचलित रहा है और आज भी है। ईरान और मिश्र में तो राजवंश वाले अपनी सहोदरा बहन से भी विवाह करते थे। उनकी यह धारणा थी कि राजन्य देव-पुत्र थे, अस्तु उनका सम्बन्ध मानव-पुत्रों से नहीं हो सकता और इसीसे रक्तशुद्धि के लिए भाई-बहनों का विवाह अनिवार्य हो जाता था। किन्तु सर्वसाधारण में यह सहोदर-सम्बन्ध नहीं थे, तो भी चचेरी बहन से विवाह करना कोई अपराध नहीं था। यह प्रथा ईरानी आर्य और सुमेरियन दोनों नृवंशों में थी। इस्लाम, ईसाई, यहूदी तीनों धर्मों पर सुमेरियन संस्कृति की छाप है। इसलिए इन धर्मों ने इसकी व्यवस्था दे दी है। इनके व्यापक प्रचार के साथ ही यह प्रथा भी विस्तृत और प्रचलित हो गई है। इनमें केवल दूध-बराव होता है। दूध-बराव का अर्थ है एक माँ को संतानों में सम्बन्ध-विवर्जन। इसलिए एक पिता की ही विभिन्न स्त्रियों की संतानों में सम्बन्ध होता है।

यह परिपाटी किसी परिस्थिति की देन नहीं है, न सम्पर्क का फल है और न किसी विकास का परिणाम; वरन् यह पूर्णतया संस्कृति-जन्य है। हजारों वर्षों से, जब से इतिहास हमें कुछ बतला सकता है, यह चलती आ रही है। इस लोकाचार के मानने वालों ने इतिहास का

काफी निर्माण किया है; साम्राज्य बनाये, बसाये, बिगाड़े तथा उजाड़े हैं।

कुछ जातियाँ परिस्थिति-वश भी अन्तर्विवाह के लिए बाध्य हो जाती हैं। उदाहरण के लिए कोरवा और पहाड़ी खरिया लिये जा सकते हैं। ये दोनों जातियाँ कोल परिवार की हैं, जिनमें सगोत्र सम्बन्ध निषेध की बड़ी तीव्र भावना है। अपने गोत्र के (संथाल इसे परीश कहते हैं) अन्तर्गत अवैध सम्बन्ध हो जाने पर भयंकर रूप में जातिच्युति की जाती है। संथाल इसे बिटलाहा तथा हो काजोमेजिन कहते हैं। बिटलाहा की उग्रता प्रसिद्ध है। दिसोम सन्देश के समय इसका निर्णय होता है। जिसे जातिच्युत करना होता है, उसका घर गिराकर उसपर पेशाब-पाखाना कर दिया जाता है और यदि अपराधी मिल गया तो उसकी जान भी नहीं बचने पाती। हो लोग ऐसे अपराधी को पहाड़ से लुढ़का देते थे। ये जातियाँ सब-कुछ सहन करती हैं, पर सगोत्र-सम्बन्ध नहीं। इस पाप की भावना इतनी गहरी है कि शराब पीकर बुद्धि-भ्रष्ट हो जाने पर यदि कभी किसी से ऐसी भूल हो जाती है तो वह ग्लानि तथा भय के मारे विक्षिप्त-सा हो जाता है और कोई-कोई तो मर भी जाता है। इतनी तीव्र भावना वाले नृवंशों के स्वजातीय कोरवा और पहाड़ी खरिया इसे अब अपराध नहीं समझते।

कोरवा जाति के कुछ लोग मिर्ज़ापुर जिले के दूधिया परगने में कष्ट-मय सीमित जीवन व्यतीत करते हैं।

यह चेरो जाति से घिरा हुआ है। चेरो कोरवा की दृष्टि में भयंकर जादूगर और ओझा (बैगा) है। कोरवा जाति का एक-एक बच्चा चेरो की जादूगरी से काँपता रहता है। उनके अपने देवता तो अधिकांश कल्याणकारक ही हैं। परन्तु चेरो के देवता उनका पिंड नहीं छोड़ते। जीवन की जटिलता, रोग और महामारियों की अधिकता तथा भयंकर चेरो की जादू-शक्ति ने उन्हें आतंकित, भयभीत तथा जीवन से निराश कर दिया है। बेटे की भी मृत्यु से पिता नहीं रोता। भय से ये अन्य जातियों से सम्बन्ध नहीं करते। अपनी जाति की संख्या इतनी अधिक नहीं है कि विगोत्र विवाह से काम चल सके। इसका फल

यह हुआ है कि सैकड़ों वर्षों से विगोत्र-विवाह की परिपाटी समाप्त हो चुकी है और आज तो यह स्थिति हो गई है कि ये माता और बहन को छोड़कर किसी भी स्त्री से विवाह-सम्बन्ध कर सकते हैं। इस जाति को इस परिस्थिति में लाने का श्रेय जितना इतिहास और प्रकृति को है उससे अधिक विश्वास को है।

पहाड़ी खरिया का भी जातीय संगठन अस्त-व्यस्त हो गया है। खरिया का जो अंश उड़ीसा तथा थोड़ा मानभूम में गया, वह मूल जातीयस्रोत से विच्छिन्न हो गया, इसने इसे बाध्य कर दिया कि वह विगोत्र-विवाह की प्रणाली त्याग दे। यह भी संभव है कि जो अंश उड़ीसा में गया उसमें एकाध गोत्र ही थे। इसलिए इसे बचाये रखना कठिन था और गोत्र ही समाप्त हो गये।

दूसरा प्रकरण

विकास की कल्पना

परिवार का विकास तथा मार्गन

उन्नीसवीं शताब्दी के समाजशास्त्रियों और नृतत्त्वशास्त्रियों ने विभिन्न जातियों की वैवाहिक पद्धतियों, व्यवहारों, लोकाचारों एवं सम्बन्ध वाचक शब्दों के विश्लेषण से परिवार के विकास की गति निर्धारित करने की चेष्टा की है। इनमें एल० हेनरी मार्गन (Lewis Henry Morgan) का क्रम सबसे अधिक समादर का पात्र रहा है। मैकलेनन ने भी मार्गन के कई सिद्धान्तों का खण्डन करके अपना क्रम स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था; किन्तु परिवार के आरम्भ और विकासवादियों में मार्गन ही अधिक मान्य रहा। एंगेल्स ने 'परिवार, वर्ग तथा राज्य की उत्पत्ति' नामक पुस्तक में उसी का समर्थन किया है। मार्गन की पुस्तक, पुरातन समाज (Ancient society) के प्रकाशित होने के समय मार्क्स का देहान्त हो चुका था। अस्तु, एंगेल्स का यह समर्थन आज भी कम्यूनिस्ट-जगत में भारी मूल्य रखता है। इसने यह प्रमाणित करने की कोशिश की कि मार्गन का सिद्धान्त मार्क्स के पूर्णतया अनुकूल है।

इस सिद्धान्त के अनुसार समाज के आरम्भ में मानव पशुवत् आचरण करता था। उसके लिए पुरुष पुरुष था और स्त्री स्त्री थी। इस एक सम्बन्ध के सिवाय अन्य किसी सम्बन्ध की वह कल्पना नहीं कर सकता था। माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि से सम्बन्ध बिना रोक-टोक तथा हिचक के होता था। इस अवस्था को मार्गन ने अभेदात्मक सम्भोग (Promiscuous intercourse) की अवस्था कहा है।

एंगेल्स ने इसे मार्क्सवाद से सम्बद्ध कराने के लिए आदिम साम्यवाद (Primitive Commune) नाम दिया है। इनके पास इस अवस्था का कोई प्रमाण नहीं है परन्तु आरम्भ के लिए इस स्थिति की कल्पना कर ली गई है।

१. मलाया-पद्धति—इसके अनुसार परिवार का प्रथम रूप सलोहित विवाह (Consanguineous marriage) में दिखाई पड़ा। अभेदात्मक सम्बन्ध धीरे-धीरे अनेक परिस्थितियों से बाध्य होकर समाप्त हो गया। एक पीढ़ी के लोग ही आपस में सम्बन्ध रखने लगे। पिता-पुत्री तथा माता-पुत्र के सम्बन्ध समाप्त हो गये। समाज ने आयु-भेद अथवा अन्य कारणों से उन्हें निषिद्ध ठहरा दिया। भाई-बहन का सम्बन्ध सम्मिलित रूप में चलता रहा और इसी से परिवार का श्री-गणेश हुआ। पोलोनेशिया और विशेषतया हवाई द्वीप में निकट और दूर के सारे सम्बन्धी माता-पिता, सन्तान, पितामह-पितामही, पोता-पोती, भाई और बहन की कोटियों में ही आते हैं। चाचा, पीसा, भतीजा, भतीजी, भगिनी, भगिना के वाचक शब्द नहीं हैं। चाचा, पीसा पितृवाची शब्दों से सम्बोधित किये जाते हैं और भतीजा, भतीजी, भगिना, भगिनी, पुत्र, पुत्री, वाचकों से। इससे उसने यह अनुमान लगाया है कि इनकी स्थिति पूर्वकाल में थी ही नहीं। सब पिता और सन्तान ही समझे जाते थे और थे भी। इसीसे मार्गन ने अनुमान लगाया है कि तीन पीढ़ियों—पितामह-पितामही, माता-पिता, पोता-पोती में ही सारे सम्बन्ध बँटे हुए हैं। इसलिए पहले एक पीढ़ी में ही अर्थात् भाई-बहन में ही सम्बन्ध सीमित थे। परिवार की इस प्रणाली को उसने मलाया-प्रणाली नाम दिया है। भाई-बहन के विवाह का उल्लेख मिस्र और इराक के राज-परिवारों में ऐतिहासिक काल में भी मिलता है। इसका कारण यह विश्वास है कि वहाँ के राजे देवपुत्र थे। अपने से बाहर मानवों में उनका वैवाहिक सम्बन्ध नहीं हो सकता था। किन्तु ये अपवाद हैं न कि नियम! साधारण लोगों में ऐसे सम्बन्ध नहीं होते थे। मार्गन इसे स्वीकार करता है। उसका कहना है कि उस

समय से—अर्थात् १८७७ से, पचास वर्ष पूर्व जब ईसाई मिशनरी सैंडविच द्वीप में गयी थी तब भाई-बहनों के विवाह बिल्कुल समाप्त नहीं हो गये थे।

२. पुनालुअन—समाज धीरे-धीरे अनुभवों के बल पर यह समझने लगा कि भाई-बहनों के सम्बन्ध जाति की वृद्धि के लिए हानिप्रद हैं। उस आरम्भिक अवस्था में ही उसने यह वैज्ञानिक तथ्य समझ लिया और भाई-बहन के सम्बन्ध निषिद्ध हो गए। इससे परिवार का दूसरा रूप उत्पन्न हुआ, जिससे मार्गन ने पुनालुअन परिवार (Punaluan family) नाम दिया है। पुनालुअन हवाई द्वीप के रहने वालों का शब्द है। उस भाषा में एक व्यक्ति अपनी स्त्री की बहन को स्त्री शब्द से ही सम्बोधित करता है। उसकी स्त्री की निकट या दूर की सारी बहनें इसी स्त्री सम्बोधन से सम्बोधित होती हैं। लेकिन वह अपनी स्त्री की बहन के पति को 'पुनालुआ' कहता है। पुनालुआ का अर्थ है 'अतिरिक्त साथी'। इसी तरह पति के दूर के और निकट के सारे भाइयों को स्त्री पति ही पुकारती है। लेकिन अपने भाइयों की स्त्रियों को 'पुनालुआ' कहती है। इन सम्बोधनों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि किसी समय इस पद्धति में कई भाई सम्मिलित रूप में एक दूसरे की पत्नियों से सम्भोग करते थे और उसी प्रकार कई बहनें एक दूसरे के पतियों की पत्नियाँ थीं।

३. तुरानियन—मार्गन का यह विचार है कि परिवार की यह स्थिति आते-आते समाज विभिन्न जनों में विभक्त हो गया। इससे जन-भावना दृढ़ हुई। एक जन के सारे स्त्री-पुरुष आपस में भाई-बहन माने जाने लगे। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध दूसरे जन के साथ ही हो सकता था। फलतः स्त्रियों का नितान्त अभाव हो गया और अपहरण की परिपाटी आरम्भ हुई, जिसका रूप मध्यकालीन इतिहास में और भयंकर हो गया। हमारे वीर-गीत ऐसे वीरता-पूर्ण अपहरणों के विवरण से भरे पड़े हैं। विगोत्र-विवाह की परिपाटी यहीं से प्रचलित हुई। मार्गन ने आस्ट्रेलिया के मूल-निवासियों की वैवाहिक प्रथाओं का विश्लेषण

करके यह बतलाया है कि वे कई समूहों में विभक्त हैं, प्रत्येक समूह अपने में विवाह नहीं कर सकता। इतना ही नहीं, प्रत्येक किसी विशिष्ट समूह की कन्या से ही विवाह कर सकता है और सन्तान किसी तीसरे समूह या गोत्र की मानी जाती है। इस परिपाटी से यह कल्पना की गई है कि पहले एक गोत्र की सारी लड़कियाँ दूसरे गोत्र के पुरुषों की पत्नियाँ मानी जाती थीं। इसे उसने तुरानियन और गैनोवानियन पद्धति (Turanian or Ganowanian System) कहा है। उसने इसकी स्थिति दक्षिण भारत के द्राविड़ भाषा-भाषी हिन्दुओं और उत्तर भारत के गौड़ (Gaura) भाषा-भाषियों में भी मानी है। कुछ सामान्य प्रथाओं के आधार पर कुछ लोगों का अनुमान है कि एक समय कुछ द्राविड़ भाषा-भाषियों में विवाह नाम की कोई चीज नहीं थी। जन के सारे स्त्री-पुरुष आपस में भाई-बहन माने जाते थे। विशेष त्योहारों के अवसरों पर कई जनों के लोग एक दूसरे से मिलते थे और खुलकर सहवास होता था। त्योहार समाप्त हो जाने पर अलग हो जाते थे। सन्तान माता के 'जन' की मानी जाती थी।

४. **मिथुनात्मक परिवार**—मलाया-प्रणाली तुरानियन-प्रणाली से अभिभूत हुई और समाप्त हो गई। तुरानियन-प्रणाली के चिह्न इनके अनुसार जगत के विस्तृत भूभाग में मिलते हैं, इससे अनुमान लगाया जाता है यह संपूर्ण संसार में प्रचलित थी। इस प्रणाली के समय मानव ने कुछ अधिक विकास किया, उसने जीवन की कला में उन्नति की और नितान्त वन्य (Savage) अवस्था से थोड़ा-बहुत बर्बर-स्तर में प्रवेश करना आरम्भ किया।

मलाया-पद्धति के समय जिस जन ने जन्म लिया था, वह और अधिक संगठित हो गया, जन-शक्ति विकसित हुई और सामूहिक सम्पत्ति का भी विकास हुआ, व्यक्तिगत सम्पत्ति का नहीं। इस विकास ने व्यक्तिगत भावना को जन्म दिया और वह समाज के साथ ही व्यक्तिगत रूप में भी सोचने लगा। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध के बारे में भी वह पूर्वापेक्षा व्यक्तिवादी बनने लगा। इससे दो के सम्बन्ध स्था-

पित हुए। स्त्री-पुरुष पत्नि-पति के रूप में आये, परन्तु आज के समान इसमें स्थायित्व, नियमितता और दृढ़ता नहीं थी। मार्गन ने इस प्रणाली को मिथुनात्मक (Syndyasmian or Pairing) नाम दिया है। इस सिन्डास्मियन (Syndyasmian) को मार्गन ने Syndyao से बनाया है और Syndyasmes का अर्थ है 'दो का सहयोग'। इसका अर्थ हुआ कि दो के विवाह तो होते हैं, परन्तु उन विवाहों में स्थिरता या नियमितता नहीं आती। कई अवस्थाओं में और कभी-कभी किसी भी अवस्था में, स्त्री-पुरुष पति-पत्नी की जानकारी में भी अन्यों से मिलने के लिए स्वतंत्र हैं, समाज की दृष्टि में वे कोई अपराध नहीं करते। मार्गन साहब का कहना है कि इस पद्धति में विवाह भावना (Sentiment) पर निर्धारित नहीं थी, जीवन की आवश्यकता पर निर्भर थी। घर की आवश्यकता तथा स्त्री-पुरुष की प्राकृतिक आवश्यकता ही उनके मिलन का कारण है। सम्बन्ध-विच्छेद हो जाना तथा अन्यों से सम्पर्क रखना कोई ऐसी घटनाएँ नहीं हैं, जिनके लिए अधिक सोचने और उत्तेजित होने की जरूरत हो। यूरोपियनों के आगमन के पूर्व अमेरिका के मूल निवासी इसी स्थिति में थे। वहाँ की कई मातृ-सत्तात्मक या मातुल सत्ता (Avunculate) वाली जातियों में पति शीघ्र-शीघ्र बदलते रहते हैं। जिस दिन स्त्री की इच्छा हो, पतिदेव का सामान वह दरवाजे पर रख देती है। पति के लिए यह सङ्केत होता है कि उन्हें स्थान छोड़ देने का आदेश मिल चुका, अब कोई उपाय नहीं है।

मिथुनात्मक विवाह का अधिक स्पष्ट उदाहरण श्वेतकेतु तथा ययाति की कथा है। श्वेतकेतु के पिता उद्दालक के सामने ही उसकी माता को एक पुरुष ले जाने लगा। उसने इसका विरोध किया। पिता ने इसे धर्म के अनुकूल ठहराया। श्वेतकेतु ने उसी समय इस प्रथा के उठाने की प्रतिज्ञा की। एक दूसरा उदाहरण महाभारत उद्योग पर्व में गालव की गुरु दक्षिणा वाली कथा है। गालव ने गुरु से दक्षिणा माँगने का हठ किया, क्रोधित होकर उन्होंने दो सौ श्यामकर्ण घोड़े माँगे। गालव ने ययाति से सहायता के लिए प्रार्थना की। उन्होंने

अपनी माधवी नामक एक दुहिता उसे दी, जिससे तीन राजाओं ने एक-एक सन्तान उत्पन्न करके गालव को घोड़े दे दिये। गुरु विश्वामित्र ने भी एक सन्तान उत्पन्न करके माधवी को लौटा दिया।

५. पितृसत्तात्मक परिवार—मिथुनात्मक-विवाह की प्रणाली समाप्त होते-होते मार्गन के अनुसार मानव-सभ्यता का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। उसने मृगया-जीवन से पशुचारी जीवन में प्रवेश किया। पशु-पालन तथा युद्धों में पौरुष की अधिक आवश्यकता थी, इसलिए मातृसत्ता समाप्त हो गई। अब स्त्रियाँ स्वतन्त्र तथा अपनी स्वामिनी नहीं रह गईं; पुरुष ने उन्हें गुलाम बना लिया। साथ ही परिवार के लिए उनकी आवश्यकता भी बढ़ गई। अस्तु घर का पिता सम्पूर्ण पारिवारिक जीवन का नियन्ता ही नहीं, अधीश्वर बन बैठा और उसने कई विवाह करने आरम्भ कर दिये। उसकी शक्ति बढ़ जाने से मनचाही स्त्रियाँ उपलब्ध होने लगीं। एक एक व्यक्ति सौ सौ स्त्रियों का पति बन बैठा। इसे मार्गन ने पितृसत्तात्मक (Patriarchal) परिवार कहा है। मध्य युग का सम्पूर्ण इतिहास इस प्रणाली के उदाहरणों से भरा है। स्त्रियों के लिए ही युद्ध होने लगे, केवल एक स्त्री के लिए नहीं, अपना राजमहल और हरमखाना भर लेने के लिए।

६. युगल परिवार—मार्गन के मतानुसार जब मानव ने पशुचारी जीवन से कृषि जीवन में प्रवेश किया तो इसमें व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना बड़ी तीव्र तथा समाज की एक आवश्यक वस्तु बन गई। इसने उत्तराधिकार के लिए चिन्ता उत्पन्न कर दी और बाप की सम्पत्ति का हकदार बेटा हो गया। इससे युगल विवाह की प्रणाली पूर्ण पुष्ट तथा दृढ़ हो गई और युगल विवाह से उत्पन्न परिवार समाज की संस्कृति का मुख्य अंग बन गया। आज संसार के सभी सभ्य देशों में यही प्रणाली प्रचलित है।

वेस्टरमार्क आदि अनेक विद्वानों ने बहुत पहले ही मार्गन के इस सिद्धान्त का खण्डन आरम्भ कर दिया था, परन्तु आज तो अधिकांश

समाजशास्त्री तथा नृतत्त्वशास्त्री परिवार का आरम्भ और विकास उस रूप में नहीं मानते, जिस रूप में उन्नीसवीं सदी के विद्वानों ने इसे पेश किया है और इस पर विश्वास प्रकट किया है। केवल एंगेल्स के समर्थन करने के कारण साम्यवादी (कम्यूनिस्ट) विकास के इस सोपान को भी विश्वास की वस्तु मानते हैं और इसका किसी भी रूप में विरोध बुर्जुआ-मनोवृद्धि का परिचायक मान बैठते हैं। वास्तव में इसमें तथा मार्क्सवाद में उतना गहरा सम्बन्ध नहीं है, जितना समझ लिया जाता है।

इस क्रम के विपरीत कई आपत्तियाँ उपस्थित की जाती हैं; जिनमें से कुछ निम्न हैं:—

(१) सम-विकास—मार्गन-परिवार का सम विकास मानता है। उन्नीसवीं तथा अट्ठारहवीं सदी के प्रायः सभी विचारक सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास की समया पंक्तिबद्ध गति पर विश्वास करते थे, वे अपना एकमात्र कर्त्तव्य समझते थे, प्रगति और विकास के सनातन नियमों (eternal laws of progress and evolution) की रूपरेखा खोजना तथा उसे स्पष्ट करना। किन्तु आज के विचारक समविकास पर विश्वास नहीं करते। वे नहीं मानते कि सारे संसारमें एक-सी ही विकासकी गति रहती है; सभी समाज तथा सारी जातियाँ एक ही रूप में, सीधी रेखा में विकास करती हैं। विभिन्न जातियों में विभिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न रूपों में सांस्कृतिक प्रगति होती है। मानव समाज इतना उलझा हुआ है और उसके विकास में इतने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष तत्त्व काम करते हैं कि उन्हें एक सीधी रेखा में स्पष्ट कर लेना असम्भव है। आर्थिक-विकास के क्रम को भी हम सम्भावना की दिशा का संकेत-मात्र नहीं मान सकते हैं। (अर्थ-तंत्र एक सामाजिक अध्ययन में विकास की गति और विकास का क्रम) किन्तु पारिवारिक विकास के क्रम को वह स्थान भी नहीं मिल सकता। वह सम्भावना की दिशा का संकेत भी नहीं हो सकता। परिवार तथा विवाह आदि संस्कृति के अंग स्थूल अर्थ-तंत्र की अपेक्षा अधिक संसर्ग तथा सम्पर्क से प्रभावित होते हैं। सभ्यता का

आदान-प्रदान, विभिन्न संस्कृतियों का सतत सम्पर्क, विकास की वक्र-रेखा को और भी वक्र बना देते हैं। सारी जातियाँ क्रम के एक-एक सोपान को पार करके आगे बढ़ती हैं; यह हास्यास्पद-सा लगता है। आज की सभ्य तथा अर्द्ध-सभ्य जातियों के परिवार का साधारण अध्ययन भी इस कथन का खोखलापन स्पष्ट कर देता है। बहुत-सी आरम्भिक जातियों में युगल-विवाह की प्रणाली है; किन्तु कई विकसित जातियों में अभी पितृसत्तात्मक परिवार चलते हैं। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि एक ही समाज के एक वर्ग में युगल-विवाह है; किन्तु दूसरे वर्ग में पितृसत्तात्मक। राजस्थान में मारवाड़ी-वैश्य तथा अग्रवाल एक पत्निव्रती होते हैं। निस्सन्तान होने पर भी कोई पुत्र गोद ले लेंगे, दूसरी पत्नी घर में नहीं लायेंगे। किन्तु वहीं के ठाकुर (राजपूत) बहुपत्नि वाले हैं और इसके अतिरिक्त खुलेआम रखेलियाँ रखना भी उतना पाप नहीं समझते।

(२) **परिवार तथा धार्मिक विकास**—मार्गन ने परिवार के विशिष्ट रूपों का सम्बन्ध आर्थिक-विकाश से स्थापित करने की चेष्टा की है। उसके अनुसार मृगया-जीवन में आरम्भिक तीन प्रकार के परिवार अर्थात् सलोहित, पुनालुअन तथा मिथुनात्मक प्रचलित थे, पशुचारण-जीवन में पितृसत्तात्मक तथा कृषि-जीवन में युगल-परिवार आये। आर्थिक-जीवन का प्रभाव संस्कृति के सभी अंगों तथा परिवार पर भी गहरा पड़ता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। साम्यवादी मार्गन के इसी सिद्धान्त के कारण इसकी ओर अधिक आकर्षित हुए। परन्तु आर्थिक-विकास तथा धर्मतन्त्र का सम्बन्ध चाहे कितना भी गहरा क्यों न हो, उतना दृढ़ तथा स्पष्ट नहीं है[1]।

आर्थिक-जीवन के विभिन्न स्तरों में आज भी अनेक जातियाँ मौजूद हैं। यदि हम उनके पारिवारिक स्वरूप का विश्लेषण करें तो

१. विस्तार तथा स्पष्टता के लिए देखें, धैर्य : एक सामाजिक अध्ययन का तत्सम्बन्धी प्रसङ्ग।

हमारा यह भ्रम दूर हो जायगा। यूरोप हजारों वर्षों से युगल-परिवार को अपनी संस्कृति का मूल-अंग मानता आ रहा है। वहाँ के राजे अपनी पहली पत्नी को तलाक दिये बिना दूसरा विवाह नहीं कर सकते थे। हेनरी अष्टम पोप से इसीलिए अप्रसन्न हो गया कि वह महारानी कैथेराइन को तलाक देने की अनुमति नहीं दे रहा था और उसे बिना छोड़े वह एनी बोलेन से विवाह नहीं कर सकता था। इसके विपरीत आज भी कृषि-युग में आ जाने पर भी अनेक मुस्लिम बादशाह और हिन्दू राजे कई पत्नियाँ रख सकते हैं और रखते हैं। क्या मार्गन का सिद्धान्त इस सीधी बात को भुला सकता है?

भारत की जन-जातियों की तत्सम्बन्धी परिपाटियाँ भी मार्गन का समर्थन नहीं करतीं। अत्यन्त आरम्भिक आर्थिक अवस्था में जीवन-यापन करनेवाली कई जातियों में एकपत्नी-व्रत तथा युगल-विवाह पाये जाते हैं। सन्थाल, मुण्डा आदि कई कोल-परिवार की आग्नेय-जातियों में स्त्रियाँ अधिक परिश्रमी तथा चतुर होती हैं। इसलिए उनका आदर है। उनके पति उनकी आज्ञा का बहुत अधिक पालन करते हैं। एकाधिक पत्नियों से विवाह करना लोक-व्यवहार के विपरीत नहीं है और कई व्यक्ति परिस्थितिवश दो स्त्रियाँ भी रखते हैं; किन्तु अधिकांश—९९ प्रतिशत से भी अधिक, युगल-विवाह वाले ही होते हैं। इसके विपरीत उनकी ही प्रजाति के मध्यप्रान्त के बैगा तीन-तीन, चार-चार पत्नियों के स्वामी बनना चाहते हैं। उनके लिए कई स्त्रियाँ भार नहीं बनतीं, सहायक ही होती हैं।

बैगा आज भी शिकार चयन और झूम (बेवर) से अपनी जीविका चलाते हैं। यदि अर्थसे परिवार का अनिवार्य सम्बन्ध होता तो बैगा मिथुनात्मक या पुनालुअन स्थिति में होते। बहु-विवाह तो मार्ग के अनुसार पशु-चारण स्थिति की देन है, यदि यह पूर्ण और निरपेक्ष सत्य होता तो बैगा लोगों में कभी भी बहु-विवाह नहीं मिलता, वे कभी पशु-चारण की स्थिति में नहीं आते। संथाल परगनेमें माले या सांवरिया पहाड़िया अनेक पत्नियों के बड़े प्रेमी होते हैं। पहाड़ों से उतर कर

स्त्रियाँ लूट ले जाने के समाचार भी मिला करते हैं; किन्तु वे भी बैगा के समान ही अभी झूम या कुराँव की स्थिति में हैं। कल्पना को कितना भी क्यों न दौड़ाया जाय, आर्थिक-विकास तथा परिवारके स्वरूप का अनिवार्य सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता।

(३) **सार्वभौमिकता**—परिवार एक सार्वभौमिक तत्त्व जान पड़ता है। आज संसार में कोई भी जाति नहीं है चाहे वह सभ्यता के किसी स्तर पर क्यों न हो, जिसमें पारिवारिक संगठन नहीं है; सर्वत्र किसी-न-किसी रूप में परिवार मौजूद है। हरेक जाति में विवाह की, स्त्री-पुरुष मिलन की प्रथायें तथा लोकाचार जीवित है। सर्वत्र समाज इस सम्बन्ध का नियमन करता है; सर्वत्र मर्यादायें हैं, एक सीमा है जिसके बाहर जाना निषिद्ध है, भले यह सीमा भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न हो। ऐसी स्थिति में परिवार के आरम्भ की कल्पना कोरी कल्पना रह जाती है। आदिम यौन-समाजवाद, सलोहित सामूहिक परिवार तथा पुनालुअन परिवार की जो कल्पना मार्गन और त्रिफाल्टने दी है, उसका कोई ठोस आधार नहीं मिलता। सम्बोधन के वर्गीकरण की पद्धति से अर्थात् एक ही वर्ग में विभिन्न सम्बन्धियों को रखने और सम्बोधित करने की परिपाटी को मार्गन ने प्रथम और द्वितीय परिवारके अस्तित्वका प्रमाण माना है। वह स्वयं अपनी कमजोरी समझता है और सलोहित परिवारके सम्बन्धमें कहता है, "इतने महत्वपूर्ण परिणामके लिए यह अत्यन्त संकुचित आधार हो सकता है[१]।" किन्तु मार्गन को सन्तोष है कि जिन सम्बन्धियों की कल्पना उसने की है वे कभी मौजूद थे; इसलिए उसका आधार ठोस बन जाता है। उसका अभिप्राय है कि चूँकि कहीं-कहीं भाई-बहनों के सम्बन्ध जायज थे, इसलिए सामूहिक भाई-बहनों के सम्बन्ध भी रह सकते हैं। उसकी इस दलील के विपरीत तीन आपत्तियाँ हैं; (१) वह इस सम्बन्ध की कल्पना सर्वत्र करता

१. It may seem a narrow basis for so important on inference—Ancient society, पृ० ३९५।

है और उसे विकास का एक अनिवार्य सोपान मानता है। इक्के-दुक्के कहीं-कहीं भाई-बहनों के सम्बन्ध और वर्गीकरण की पद्धति को इतना महत्व देना और सार्वभौमिक मान बैठना उचित नहीं है। (२) भाई-बहनों के जिस सम्बन्ध के उदाहरण दिये जाते हैं वे व्यक्तिगत विवाह के उदाहरण हैं, सामूहिक और सामुदायिक सम्बन्ध संसार में आज कहीं नहीं है, उसकी कल्पना इस विराट विश्व के एक कोने में आस्ट्रेलिया और उसके समीपवर्त्ती द्वीपों के सम्बन्धवाचक शब्दों के आधार पर की गई है। जी० ए० रिचार्ड (G A. Reichards) ने इस सम्बन्ध में लिखा है :—"आस्ट्रेलिया में सामुदायिक-विवाह के कुछ चिह्न मिलते हैं; किन्तु यह साक्षी अत्यन्त ही संशयास्पद है। इससे हम वहाँ इसके अस्तित्व की सम्भावना का केवल हवालामात्र दे सकते हैं[१]।"

इससे यह स्पष्ट है कि इस लेखक की राय में आस्ट्रेलिया में—और केवल आस्ट्रेलिया में, सामुदायिक विवाह के अस्तित्व का आभास मिल सकता है, वह भी इतना महत्वपूर्ण नहीं है कि दावे के साथ स्पष्ट घोषित किया जा सके। मार्गन के बाद जन-जातियों का और भी गम्भीर और निकट से अध्ययन किया गया है, जिसने उसके सिद्धान्त को नितान्त निराधार ठहरा दिया है।

(३) मार्गन ने सैंडविच द्वीप में भाई-बहन सम्बन्ध का इसाई मिशनरियों द्वारा उल्लेख किया है। प्रथम तो आरम्भ में गये हुए धर्म-प्रचारक भ्रम में भी पड़ सकते हैं और ऐसे सम्बन्धों की घोषणा भूल से अथवा जान-बूझकर भी, धर्म-प्रचार की आवश्यकता को प्रमाणित करने के लिए, कर सकते हैं। उनके द्वारा अन्य जातियोंके सम्बन्ध में

१. There is some indication of group marriage in Australia but the evidence is so highly problematical that we can merely refer to the possibilities of its existance here—Social life.

भी अनेक असत्य और भ्रान्त बातें फैलाई जा चुकी हैं, यह छिपी बात नहीं है। सन्थालों में बहुपतित्व की चर्चा भी उनकी दिमागी उपज है, इसका उल्लेख किया जा चुका है। मान लीजिए, भाई-बहन का सम्बन्ध सैण्डविच में हुआ करता था, क्या इससे मार्गन के सोपान आप ही खण्डित नहीं हो जाते ? उसके अनुसार ये सम्बन्ध सामूहिक सलोहित परिवार के सोपान में ही थे। उसके बाद जन-भावना ने उन्हें मिटा दिया, तब पुनालुअन-परिवार आया, इसके बाद मिथुनात्मक सम्बन्ध, तब कहीं जाकर पितृसत्तात्मक और युगल-परिवार आये। सैण्डविच वाले सम्बन्धों को आप किस सोपान में मानेंगे ? मिथुनात्मक में अथवा युगल में ही तो ? किन्तु उसमें भाई-बहन सम्बन्ध की कहीं जगह नहीं है। क्योंकि मार्गन के अनुसार ही जन-भावना विकसित होते ही उनका विनाश हो गया था।

व्यक्तिगत रूप में भाई-बहन सम्बन्धों के लिए इस सोपान में कहीं स्थान नहीं है। किन्तु मार्गन साहब प्रमाण देते हैं युगल और मिथुनात्मक सम्बन्धों का ही। फिर प्रश्न यह उठता है कि सैण्डविच वालों ने उनके समय तक ५० वर्षों में कितने सोपान पार किये। वस्तुतः विभिन्न जातियों में विभिन्न मर्यादायें हैं, उनमें परिवर्त्तन तथा विकास होता है, परन्तु विकास की न तो सीधी रेखा खींची जा सकती है और न सर्वत्र उसकी एक-सी गति होती है।

वर्गीकरण पद्धति से इतने बड़े महत्वपूर्ण फल निकालने का कितना कुफल हो सकता है, इसका थोड़ा आभास हमें संस्कृत के "तात" शब्द से मिल सकता है। "तात" शब्द बड़ा व्यापक शब्द है, जिसके अन्तर्गत छोटे-बड़े सब सम्बोधन आ जाते हैं। आज के चाचा, ताऊ, दादा सब इसी से व्युत्पन्न हैं, यही कारण है कि "बँगला में" "दादा" का अर्थ होता है बड़ा भाई और हिन्दी में "पितामह"। यदि इसके बल पर कोई इन सब सम्बन्धों में एकता स्थापित करने लगे, तो वह कितना अनर्थ करेगा तथा सत्य, इतिहास और हमारी भावना का कितना गला घोंटेगा, कहा नहीं जा सकता। वास्तव में सम्बोधनों की एकता अनेक

कारणों से हो सकती है, जिनमें शब्दों के अभाव, प्यार, आदर और अपनत्व की सूचना, सम्बन्ध की दूरी आदि मुख्य हैं। सबों को एक ही कोटि में रखना और उनसे इतने गहरे फल निकालना सत्य का अपलाप करना है। पुत्र वात्सल्य का द्योतक है और पिता सम्मान का। इसीलिए पुत्रेतरों को भी बेटा, बिटिया प्यारसूचक सम्बोधनों से सम्बोधित करते हैं; तथा पिता से अतिरिक्त अन्य बूढ़ों को तथा साधुओं को भी बाबा और पिता कहते हैं।

वर्गीकृत सम्बोधन किसी ऐसी प्रथा के अस्तित्व के अवशेष हैं, जो समाज से उठ गई है। इसलिए यह अवशेष के सिद्धान्तों (Theory of survivals) में से एक हैं। मार्गन के पश्चात् नृतत्त्वशास्त्रियों ने मजाक के सम्बन्धों का भी इसी तरह अध्ययन प्रस्तुत किया है और बतलाया है कि जिन लोगों में मजाक होते हैं उनमें पहले विवाह हो सकते थे। कई हमारे सम्बन्ध आज भी ऐसे हैं, जिनमें यह बात पाई जाती है; साली, भाभी ऐसे ही सम्बन्ध हैं। इसलिए इतना निश्चित है कि वर्गीकरण की अपेक्षा इसमें कुछ अधिक शक्ति है और इसीलिए इसका अधिक मूल्य है। परन्तु समाज के सारे सम्बन्धों (Joking relations) को ऐसा ही मान लेना ठीक नहीं है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री वेस्टरमार्क ने सही संकेत किया है कि "इस अवशेषों के सिद्धान्त से कुछ भी प्रमाणित किया जा सकता है। और चूँकि यह अनुमान (Speculation) और कल्पना पर निर्भर करता है इसलिए इसे एक बड़ी सुविधा यह मिल जाती है कि इसे पुष्ट साक्षी या प्रमाण मान लिया जाता है, यद्यपि इसका आधार अत्यन्त खोखला रहता है।"

डा० रिभर्स (Dr. Reverse) ने इसी मजाक के आधार पर अनुमान लगाया है कि मैलेनेशिया में पहले भाई की पोती से विवाह होता था; क्योंकि आज भी उनमें खुलकर विनोद होते हैं[1]। उराँवों और कोल परिवार की अधिकांश जातियों में पोती, नाना, नानी, पितामह, पितामही में मजाक होते हैं; इसलिए श्री शरच्चन्द्र राय ने उराँवों में भी ऐसे सम्बन्धों के

१. History of the Maleanesion Societv.

अस्तित्व का अनुमान किया है। वर्गीकरण पद्धति से भी इसका समर्थन होता है। उराँवों में प्रपितामह को "बा" कहते हैं; पिता तथा ससुर के लिए भी यही सम्बोधन है, इसी प्रकार प्रपौत्र को "बाबू" कहते हैं जो पुत्र तथा दामाद के लिए भी आता है[1]।

इन लोगों ने तो ऐसे सम्बन्धों की कल्पना ही की है; परन्तु डा० होविट (Dr. Howitts) ने आस्ट्रेलिया के "दियरी" नामक जाति में इन सम्बन्धों की स्थिति भी बताई है। इसी प्रकार वी० एलविन (V. Elwin) के अनुसार मध्यप्रान्त की बैगा जाति में आज भी इक्के-दुक्के इस प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। यद्यपि ये सामान्य घटनाए नहीं हैं, परन्तु तो भी जिन्होंने ऐसे विवाह किये हैं, वे जातिच्युत नहीं हुए। आपने नाम-ग्राम के उल्लेख के साथ ऐसे विवाहों का पता दिया है। बैगा लोगों का यह विश्वास है कि जब किसी मनुष्य के दाँत तीसरी बार जमते हैं—दूसरी बार टूटने के बाद, तो उसका पुनर्जन्म होता है, और बिना विवाह के मरने पर अतृप्ति के कारण मनुष्य राक्षस बनता है, इसी से राक्षस होने से बचने के लिए ऐसे बूढ़े विवाह करते हैं और कभी-कभी स्त्री की बहन की पोती, अपनी नतिनी से भी कर लिया करते हैं, और स्त्रियाँ भी अपने पोते, नाती से विवाह करते पाई जाती हैं। उन्होंने गोंड़ लोगों में भी ऐसे विवाहों के अस्तित्व का उल्लेख किया है[2]।

इसी प्रकार डा० काडकिंगटन ने मेलैनेशिया (Malanesiaus) में ही मामी से विवाह का भी पता लगाया है। छोटा नागपुर के उराँव नामक पुस्तक की भूमिका (Introduction) में ए० सी० हैडन (A. C. Haddon) ने प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि ये दोनों सम्बन्ध साथ-साथ ही चलते हैं, जिनका अनुमान मेलैनेशिया में ही किया गया है[3]।

---

१. देखें, (Oraons of Chota Nagpur).

२. देखें, The Baiga, P. 180.

३. देखें, वही, P. XII.

यदि इन विद्वानों के अनुमान सही हैं तो मेलैनेशिया तथा आस्ट्रेलिया में मामी तथा तृतीय पीढ़ी के सम्बन्ध पहले काफी होते थे, और कभी-कभी आज भी होते हैं। जिन जातियों का इनसे सम्बन्ध है या कभी सम्पर्क रहा है, उनमें भी इनका अस्तित्व मिल सकता है। हमारी कोल-परिवार की जातियाँ इनसे सम्बन्धित हैं; इसलिए उनमें ये सम्बन्ध सम्भव हैं। परन्तु विनोद की परिपाटी क्या सम्पर्क अथवा अन्य किन्हीं कारणों से नहीं अपनाई जा सकती? बंगाल में तीसरी पीढ़ी में भयंकर विनोद होते हैं, यही स्थिति मिथिला में 'मामी' के साथ भी है। यह परिपाटी किसी अतीतकालीन-प्रथा का अवशेष है या सम्पर्क से आई है? मेरा अनुमान है कि उराँवों तथा मैथिलों में यह सम्पर्क का फल है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण बंगालियों के निकट सम्पर्क में १५०–२०० वर्षों से ही आनेवाले मैथिल ब्राह्मण देवघर के पण्डे हैं। जिन स्थानों से वे आये हैं वहाँ तृतीय पीढ़ी के विनोद का नामोनिशान भी नहीं है, परन्तु इनमें यह काफी प्रचलित हो गया है। चाहे जो हो, यदि इन सम्बन्धों का पता मार्गन ब्रिफाल्ट तथा मैकलीनन (Maclennan) को लगा होता तो वे उछल पड़ते और इन्हें अभेदात्मक सम्बन्ध (Promisenous intercourse) के अस्तित्व के लिए जबरदस्त प्रमाण मान लेते। किन्तु प्रश्न यह है कि बैगा तथा आस्ट्रेलिया के दियरी किस पारिवारिक सोपान पर स्थित हैं। क्या वे आज भी अभेदात्मक सम्बन्ध की स्थिति में हैं अथवा उनमें विवाह की परिपाटी स्थापित हो चुकी है? मार्गन के अनुसार अभेदात्मक सम्बन्ध मिटे और अपनी-अपनी पीढ़ी में सीमित हो गये। तब परिवार का प्रथम रूप सलोहित सामने आया। मार्गन सभी जातियों का पंक्तिबद्ध विकास मानते हैं; फिर क्या कारण है कि मेलैनेशिया में जन-भावना स्थापित हो जाने के बाद भी पुराने सम्बन्धों के अवशेष बचे रह गये, केवल वर्गीकरण पद्धति अथवा मजाकों के सम्बन्धों के रूप में ही नहीं, थोड़े-बहुत व्यवहार में भी। पंक्तिबद्ध विकास में तो इन्हें लाखों वर्ष

पहले मिट जाना चाहिए था ; क्योंकि इनके बिना मिटे उनके अनुसार समाज आगे बढ़ ही नहीं सकता।

होविट तथा एलविन साहब को दियरी तथा बैगा लोगों में ऐसे विवाहों के जो प्रत्यक्ष उदाहरण मिले हैं; उनके सम्बन्ध से मुझे एक सन्देह है। सभी समाजों में अवैध-सम्बन्ध होते ही हैं, उन्हें हम उदाहरण या प्रमाण नहीं मान सकते। दियरी जाति के सम्बन्ध में मैं विशेष कुछ नहीं जानता, परन्तु एल्विन साहब ने बैगा लोगों के बारे में जो कुछ लिखा है—उसी से स्पष्ट है कि उनका समाज अन्य जन-जातियों के समान स्पष्ट लोकाचारों से अनुशासित नहीं होता, उनका जन-रूप विनष्ट नहीं हुआ है, किन्तु गोत्र तथा लोकाचार अशक्त हो चुके हैं। इसीलिए सामाजिक निर्णय अपराधी के व्यक्तित्व पर निर्भर करते हैं, अपराध के स्वरूप पर नहीं, ऐसा उन्होंने ही स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में यदि एकाध अवैध-सम्बन्ध हुए और समाज ने उनके लिए दण्ड नहीं दिया, तो हम उन्हें प्रथा नहीं कह सकते। ऐसा कौन समाज है, जहाँ घृणित-से-घृणित अपराध नहीं होते हों? हमें शंका है कि तीसरे दाँत निकलने पर प्रथानुसार प्रतीकरूप में ही विवाह होते हैं, वास्तविक नहीं। उन्होंने ऐसे जिन विवाहों का उल्लेख किया है, उनमें एक में ही सन्तान की उत्पत्ति हुई है। दियरी जाति की भी ऐसी ही कुछ स्थिति हो सकती है।

स्त्री और मातृसत्ता—पारिवारिक विकासवादी संसार में सर्वत्र आरम्भ में स्त्रीसत्ता ही मानते हैं। उनके अनुसार सलोहित पुनालुअन परिवार में पूर्णतया तथा मिथुनात्मक में बहुत कुछ मातृसत्ता ही थी। पशु-चारी जीवन में पितृसत्तात्मक परिवार स्थापित होने पर मातृसत्ता मिटी। मातृसत्ता का अभिप्राय क्या है? मेरी दृष्टि से इसके चार अर्थ हो सकते हैं, जिन्हें हम अलग-अलग शब्दों में (१) स्त्री-राज्य (२) स्त्री या मातृसत्ता (Matriarchate) (३) मातृपक्ष (Matrilocal) और (४) स्त्री की प्रधानता कह सकते हैं। स्त्री-राज्य के विवरण पुराने ग्रन्थों में बहुत अधिक मिलते हैं, जिनके अनुसार स्त्रियाँ ही शासिका थीं,

उन्हीं का शासन चलता था। जिस प्रकार मध्ययुग में पुरुष स्त्री को लूट लाते थे और जिस तरह पुरुष अपने से कम आयु की स्त्री से ही विवाह करना आज भी पसन्द करते हैं, उसी प्रकार स्त्री-राज्यों में स्त्रियाँ पुरुष को लूट लाती थीं और अपने से छोटी उम्रवाले से विवाह करती थीं। यूनान में भी स्त्री-प्रधान-सत्ता की कल्पना मौजूद थी।

स्त्री-राज्य की कल्पना बहुत अधिक अतिरंजित कल्पना है, जिसके अस्तित्व का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। कुछ भागों में स्त्रियों की जान-बूझकर ही इतनी विस्तृत कल्पना कर ली गई थी। कामरूप के सम्बन्ध में इस बीसवीं सदी में भी जो धारणायें सामान्यतया दूसरे प्रान्तों में पाई जाती हैं, वे इस अनुमान के जबरदस्त प्रमाण हैं। आज संसार में स्त्री-राज्य कहीं भी नहीं है। मणिपुर में स्त्रियों ने विद्रोह किया पर गद्दी पर बैठाया पुरुष को ही।

हम जिस अर्थ में पितृसत्ता (Patriarchate) का प्रयोग करते हैं, उस अर्थ में मातृसत्ता संसार में कहीं नहीं है। पितृसत्ता का अर्थ होता है सम्पूर्ण परिवार अथवा व्यक्तियों के समूह पर सर्वसत्ता-धारी वृद्ध या पिता का अस्तित्व। पिता को किसी के प्राण लेने अथवा अपने अधीनस्थ किसी व्यक्ति को बेचने तक का अधिकार होता है। वह जो चाहे कर सकता है। किसी को यह हक नहीं है कि वह उसके हाथ थामे या उसकी आज्ञा का उल्लंघन करे। उसके सामने किसी का कुछ नहीं है। मध्यकालीन-युग और कई स्थानों पर आज भी उसकी सत्ता सर्वोपरि थी और है। धर्मशास्त्र उसी का आदेश देते हैं जो उसी युग की देन हैं। संसार में ऐसी बहुत-सी जातियाँ हैं जिनमें पति के घर स्त्री नहीं जाती, वे ही स्त्री के घर जाकर रहते हैं। उनको अपने बच्चों की देखभाल तथा शिक्षा-दीक्षा, शासन-अनुशासन का कोई अधिकार नहीं है। अमेरिका की पुइब्लो जातियाँ, हमारे आसाम के गारो, दक्षिण भारत के नायर इसके उदाहरण हैं। गारो लोगों में तो कहीं-कहीं पति छिपकर ही स्त्री के घर जाते हैं, पुइब्लो में उसकी कोई मर्यादा नहीं रहती, वे घर के व्यक्ति नहीं माने जाते। काम-धाम करते हैं, परन्तु

अपनी कमाई के मालिक वे तभी तक रहते हैं, जब तक उसे घर के भीतर नहीं ला देते। जब कभी बाहर से आते हैं स्त्री उनका स्वागत करने के लिए द्वार तक जाती है और जो कुछ लाते हैं, ले लेती है। इससे यह माना जाता है कि सारी चीजें स्त्री की हो गईं। यदि बाहर से आने पर उनसे मिलने उनकी स्त्री नहीं गई तो इससे समझ जाते हैं कि अब हमें अपने घर चले जाने का संकेत मिल गया। इसे हम मातृपक्षी (Matrilocal) कह सकते हैं, परन्तु मातृसत्ता नहीं कह सकते।

इनमें पति को स्त्री के घर रहना पड़ता है, परन्तु स्त्री के वही अधिकार नहीं रहते जो पितृसत्ता में पिता के रहते है। पुरुष अपने बच्चों का स्वामी नहीं होता, परन्तु अपने घर पर और अपनी बहन की सन्तानों का वह पूरा अधिकारी होता है। उनकी शिक्षा-दीक्षा शासन-अनुशासन के काम उसी के जिम्मे रहते हैं। इसलिए इन्हें मातृ-पद के साथ ही नृवैज्ञानिक मातुल-सत्ता भी मानते हैं; क्योंकि वहाँ मामा ही सर्वेसर्वा रहता है। कई पितृप्रधान समाज में भी मातुलसत्ता रहती है। ठोंगा-जाति में मामा ही पालता है। आसाम के खासी मातृपक्षीय हैं, उत्तराधिकार अधिकांश छोटी लड़की को मिलता है; वह पुरोहिताइन भी होती है किन्तु समाज पर स्त्रियों का शासन नहीं है। २२ खासी रियासतें हैं, इनमें पुरुष सरदार होते हैं। सरदार की छोटी लड़की का बड़ा पुत्र सरदार होता है। जहाँ सरदार का चुनाव होता है, वहाँ स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर चुनते हैं। गारो जाति में एक स्त्री की लड़की पिता की बहन के पुत्र से विवाह करती है ताकि घर का सारा प्रबन्ध पुरातन सम्बन्धी पुरुष के हाथों में ही बना रहे—इसी प्रबन्ध की दृष्टि से मामा के मर जाने पर भगिना अपनी मामी और सास से भी विवाह कर लेता है।

बहुत-सी ऐसी जातियाँ हैं, जिनमें मातृपक्ष नहीं रहते हुए भी स्त्रियों की प्रधानता है। इस प्रधानता में एक ओर हिमालय तराई की थारू जाति है, और दूसरी ओर सन्थाल, होआदि हैं। थारू स्त्री अपने पति

के घर जाकर रहती है, पिता-माता की सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं है। पति के घर भी वह गृह के भीतर की वस्तुओं की स्वामिनी समझी जाती है पर बाहर की सारी सम्पत्ति पति की है। इतना होने पर भी पति पर उसका कड़ा शासन रहता है। दूसरी जातियों का विश्वास है कि थारू स्त्रियाँ जादू जानती हैं और मर्दों को भेड़ बनाकर रखती हैं। इसीलिए दूसरी स्त्रियाँ अपने पतियों को इनके सम्पर्क में आने से घबड़ाती हैं। थारू पुरुष भी अपनी स्त्रियों को जादूगरनी मानते हैं। यदि कोई स्त्री अपने पति पर अत्याचार करती है तो प्रतिवाद या विरोध करने का साहस उसे नहीं होता। वे बिचारे अपनी जाति के पुजारी से जिन्हें वे "भारारा" कहते हैं, प्रार्थना करवाते हैं, जिससे देवता स्त्री के दिल में दया का संचार करा दें और वह प्रसन्न हो जायँ। परन्तु पुरुष से अप्रसन्न होने पर स्त्रियाँ तुरन्त तलाक दे देती हैं। घर की कोई वस्तु स्त्री से पूछे बिना पुरुष न तो बेच सकता है और न किसी को दे सकता है। कई बार थारू पंचायतों ने स्त्रियों की स्वच्छन्दता पर नियन्त्रण लगाना चाहा, किन्तु उनके निर्णय कार्यरूप में परिणत नहीं हो सके और वे जहाँ-के-तहाँ, स्त्रियों के भय से धरे ही रह गये।

ऐसा सम्भव है कि थारू-स्त्री की प्रधानता मातृपक्ष या मातृप्रधान सभ्यता से आई है। ऐसा हो सकता है कि पहले इनमें स्त्रियों को ही उत्तराधिकार हो, पीछे सम्पर्क से अथवा कृषि-जीवन अपनाने से इनमें परिवर्त्तन हो गया हो और पुरुष सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बना हो। इसी से स्त्रियों का शासन परम्परागत रूप में चलता आ रहा है। परन्तु 'हो' और 'सन्थालों' में ऐसी कोई बात नहीं है। नियमतः उनमें स्त्री को कोई अधिकार नहीं है। पति के मर जाने पर यदि कोई सन्तान नहीं हो तो उसे भटकना पड़ता है अथवा माता-पिता के घर जाकर आश्रय लेना पड़ता है। सामूहिक देव-स्थानों में माँझी की स्त्री को छोड़कर कोई महिला पूजापाठ की अधिकारिणी भी नहीं है। हिन्दुओं में यह माना जाता है कि स्त्रियों पर अत्याचार होते हैं; किन्तु धार्मिक कृत्यों में वे पति के साथ सम्मिलित होती हैं और कई अवस्थाओं में मिताक्षरा और

दाय भाग दोनों उसे सम्पत्ति या सम्पत्ति के एक अंश की उत्ताधिकारिणी मानते हैं। इस्लाम-धर्म में भी विवाह के समय पति स्त्री को जो कुछ देता है, उससे वह किसी भी स्थिति में वञ्चित नहीं की जा सकती। परन्तु ऐसा कोई भी अधिकार 'हो' और 'संथाल' स्त्री को नहीं रहता। इतना रहने पर भी, यह एक विचित्र बात है कि इनमें स्त्रियों की प्रधानता है और पुरुषों पर उसका नियन्त्रण काफी हदतक चलता है। इसका कारण उनकी परिश्रमशीलता और बुद्धि की अपेक्षाकृत तीव्रता है। ऐसा जान पड़ता है कि बहुत दिनों से बाजार-हाट करना स्त्रियों का ही काम रहता आया है, इसलिए वे पुरुषों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् और वाचाल हैं, उनकी जीभ बड़ी तेज है। किसी व्यक्ति के यहाँ एक संथाल अपनी स्त्री के साथ काम करता है तो मजदूरी माँगना, हिसाब-किताब करना स्त्री के ही जिम्मे रहेगा। इसके लिए दोनों साथ ही जायँगे पर पुरुष चुप रहेगा, स्त्री ही बोलेगी। यदि वह पहले पहुँच गया तो तब तक प्रतीक्षा करेगा जब तक स्त्री न आ जाय। सन्थाल स्त्रियों के सम्बध में सन्थाल परगने का गजेटियर लिखता है:—

"पुरुष स्त्रियों की अपेक्षा अधिक शांतिप्रिय होते हैं। ये तीव्रतर बुद्धि और अधिक तेज जुबान वाली हैं और अच्छी तरह जानती हैं कि यदि कोई पुरुष स्त्री के विरुद्ध शिकायत करेगा तो उसे कोई भी दण्ड देना पड़ेगा जो उसपर लगाया जा सकता है[1]। पुरुष अधिक सलज्ज भी होते हैं और स्त्रियाँ स्पष्ट, निर्भीक तथा प्रसन्न-मुख। 'हो' स्त्रियों की भी यही स्थिति है। अपने परिश्रम और बुद्धि के बलपर वे पुरुषों से प्रधान पड़ती हैं। पुरुष अपना अधिक समय बच्चों में व्यतीत करते हैं; हाट-बजार स्त्रियाँ करती हैं। बर्मा तथा आसाम प्रान्त की

१. The men or more peaceable than the women, who besides having a quicker wit and a more fluent tongue, know very well if a man complains against his wife, he has to pay any fine that may be imposed. p. 128 ।

स्त्रियाँ भी पुरुषों की अपेक्षा अधिक परिश्रमी होती हैं इसलिए साधारण हिन्दी भाषा-भाषी उनमें स्त्री-राज्य की कल्पना कर लिया करते हैं।

मार्गन और उसके अनुयायी इन चारों अर्थों में मातृसत्ता का अस्तित्व मानते हैं। परन्तु उनका मतलब इतने से हल नहीं हो जाता। जब विवाह नहीं होंगे और स्त्री-पुरुष में सामूहिक और स्थिर सम्बन्ध नहीं रहेंगे तो पिता का कोई पता नहीं रह सकता और ऐसी स्थिति में सन्तानों के लिए माता के सिवाय दूसरा कोई व्यक्ति नहीं रह जाता। मातृत्व एक प्रकृति-जात सहजभाव है जो पशुओं में भी पाया जाता है। इसलिए वह थोड़े दिनों तक आरम्भिक सामाजिक-संस्कार-हीन मानवों में भी होगा। वास्तव में मार्गनवादी इसीलिए मातृसत्ता की कल्पना करते हैं। आस्ट्रेलिया की कुछ जातियाँ सन्तानोत्पादन तथा स्त्री-पुरुष मिलन में कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित कर पातीं। इसीलिए सन्तान को देवता की कृपा मानती हैं।

हमारे प्राचीन ग्रंथों में कई ऐसे आदमी आये हैं जिनके पिता कोई देवता हैं, केवल माता का पता है जैसे अञ्जनिपुत्र, पवनसुत हनुमान। कई विद्वानों की राय में यह कल्पना उसी प्रजनन की अज्ञता का फल है। श्री शरदचन्द्र राय उराँवों को राम के सहायक कपियों के वंशज मानते हैं और उनकी राय है कि उस समय कपि उसी अज्ञता की स्थिति में थे। चाहे जो हो, आज आस्ट्रेलिया की उन अज्ञ-जातियों में भी परिवार है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध ही एक प्राकृतिक ठोस आधार है और स्त्री-पुरुष-मिलन से सन्तानोत्पादन का सम्बन्ध नहीं समझने वाले पिताओं में भी स्वाभाविक वात्सल्य दिखाई पड़ता है। विचित्र बात तो यह है कि उनमें उत्तराधिकार माता से नहीं, पिता से मिलता है। वे जातियाँ पिता से वंश मानती हैं, माता से नहीं। मार्गन के आवश्यक आरम्भिक मातृसत्ता के विरुद्ध यह एक बड़ा जबरदस्त प्रमाण है। स्त्री, पुरुष, आकर्षण, मातृत्व और वात्सल्य इतने आवश्यक और प्रभावशाली तत्व हैं कि हम इनके बल पर परिवार और विवाह को मानव-जाति की एक सनातन चीज मान सकते हैं; यह बात दूसरी

है कि अनेक कारणों से वंश की गणना कहीं माता से हुई और कहीं पिता से। अर्थात् कहीं पितृपक्षीय समाज बना, कहीं मातृपक्षीय, तथा स्त्री-पुरुष सम्बन्ध एवं परिवार की मर्यादा, स्वरूप आदि युग के अनुसार बदलते रहे और बदलते रहेंगे। प्रवाह सनातन है, और लहर का स्वरूप सामयिक।

आरम्भिक श्रम तथा कार्य-विभाग एवं मातृ-अधिकार पर विस्तार से विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी जाति में शिकार करना स्त्री का काम नहीं है। इसलिए यदि हम मृगया-जीवन से समाज का आरम्भ मानते हैं तो सर्वत्र आरम्भ में मातृसत्ता के अस्तित्व की कल्पना को छोड़ देना पड़ेगा। प्रायः पूर्णतया शिकार से जीवन-यापन करनेवाली संसार की किसी जाति में मातृपक्ष नहीं है। आज की मातृपक्षीय जातियों में उद्यान-जीवी ही अधिक हैं। इसलिए सम्भव है कि इस जीवन में ही इसका विकास हुआ हो। परन्तु यह भी निश्चित नहीं है कि सभी उद्यान-जीवी मातृपक्षीय ही हों। अमेरिका की जूनी जाति की ही आर्थिक स्थिति में रहनेवाली पूर्वी अफ्रिका की ढोंगा जाति पितृपक्षीय है[1]।

भारत की मातृपक्षीय जातियों में नायर, सभ्यता की दृष्टि से भारत की किसी भी जाति के टक्कर में आ सकते हैं। गारो अभी भी झूम की स्थिति में हैं और खासी स्थिर कृषक हैं। स्त्रीप्रधान जातियों में अधिकांश कृषक हैं। यदि मातृपक्ष किसी आर्थिक-विकास से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित रहता तो आसाम की जातियों में ही कूकी और कोन्याक नागा सबसे पहले इस स्थिति में होते, कृषक खासी नहीं।

मातृपक्ष से पितृपक्ष की परिणति, मार्गन के अनुसार पशु-चारण जीवन की देन है। ऐतिहासिक काल में इस परिणति के उदाहरण बहुत कम हैं। जो हैं भी उनसे इस कथन का समर्थन नहीं होता। लब्धप्रतिष्ठ नृतत्वशास्त्री बी० मौलिनोवस्की (B. Molinowaski) के

१. विस्तार के लिए देखें, अर्थतन्त्र—एक सामाजिक अध्ययन।

अनुसार ट्रोब्रियांड द्वीपवासियों में मातृपक्ष से पितृपक्ष में परिवर्त्तित होने के संकेत दिखलाई पड़ते हैं। भूमि और भौतिक सम्पत्ति का उत्तराधिकार माता के अनुसार है; और इनमें से कुछ का उपयोग भगिना, मामा के जीवनकाल में कर सकता है किन्तु उसे उसका मूल्य चुकाना पड़ेगा। कभी-कभी बिना मूल्य के भी कुछ लोग अपने पुत्र को सम्पत्ति दे जाते हैं, किन्तु पिताकी मृत्यु के पश्चात् उसे अपने ममेरे भाइयों को लौटा देना पड़ता है[1]। ये लोग बड़े कृपण होते हैं। उपज प्रदर्शन के लिए होती है, साल के अन्त में अनाज सड़ जाना प्रतिष्ठा का सूचक है। बहन-बहनोई को अधिक दान देना कर्त्तव्य माना जाता है, सरदार कई विवाह करते हैं। इससे वे सुखी रहते हैं, सालों की कमाई पर। ऐसा जान पड़ता है कि उनमें पुत्र-प्रेम प्रधान पड़ रहा है और परम्परा के विपरीत पुत्रों को भी अधिकार दिया जाने लगा है। परन्तु इस परिवर्त्तन का कारण पशु-चारण-जीवन नहीं है, वरन् सम्पति और वर्ग का आगमन है। वे सुन्दर माली, कारीगर और नाविक हैं। इस आर्थिक वर्ग ने उनके जीवन की गति में विकास या परिवर्त्तन कर दिया है। हम मार्गन के विकास की गति का यहाँ किञ्चित् भी आभास नहीं पाते। डा० डी० एम० मजूमदार का अनुमान है कि जौनसर बावर का बहुपतित्व मातृसत्ता के आधार पर पितृसत्तात्मक संस्कृति का आगमन है। खस कृषक तथा पशुचारी हैं किन्तु उनका यह पशुचारण-जीवन सहस्रों वर्ष पुराना है और मातृसत्ता से पितृसत्ता में परिवर्त्तन सम्पर्क तथा हिन्दू धर्म अपनाने के कारण हुआ, न कि पशु-चारण-जीवन ग्रहण करने के कारण। जौनसर बावर की संस्कृति उतनी ही संक्रातिकाल से गुजर रही है जितनी सम्पूर्ण भारत की।

मार्गन के विकास की दिशा से विपरीत पितृप्रधान से मातृप्रधान में परिवर्त्तित होने के भी उदाहरण मौजूद हैं और वे अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हैं। फ्रैंज बोज (Franz Boas) के अनुसार क्वाकिउट्ल जातिने

१. देखें, Sexual life of Savesges.
१. देखें, इसी प्रकरण का बहुपतित्व प्रसंग।

ऐतिहासिक युग में ही मातृपक्ष के कई पहलू अपनाये हैं। यह जाति मूलतः पितृपक्षीय है; किन्तु इसके आसपास मातृपक्षीय समाज की प्रधानता है, जिनके सम्पर्क से ये द्विपक्षीय हैं—मातृ एवं पितृ दोनों बन गये हैं। उत्तर में तो स्पष्ट पुरुष माता की सम्पत्ति पाता है किन्तु अन्यत्र वह कई वस्तुओं का उत्तराधिकार श्वसुर से पाता है, जो उसके पास धरोहर के रूप में रहती है, और जिसे वह अपने दामाद को दे जाता है। इस जाति ने पितृपक्ष और मातृपक्ष के बीच एक संतुलन स्थापित कर लिया है। तो भी प्रधानता है पुरुष की, न कि स्त्री की। मार्गन इस परिवर्त्तन का सम्पर्क के सिवाय दूसरा कौन आधार बतला सकते हैं? हजारों वर्षों से यह जाति चयन और सैमन नाम की बड़ी मछली मारकर अपनी जीविका चलाती आ रही है। इसमें कभी भी पशुचारण नहीं था और न आज है।

सम्पर्क से पितृ-प्रधान से मातृ-प्रधान बनने के सुन्दर उदाहरण मालाबार में भी पाये जा सकते हैं। मालाबार की प्राचीन जाति नायर, पहाड़ के कारण अन्य भागों से अलग रही, इसलिए उसकी प्राचीनता और मातृ-प्रधानता बची रही और बनी रही। जब दूसरी जातियाँ उसके सम्पर्क में आईं, उन्होंने अपने को उसके अनुरूप ढाल लिया। नाम्बूद्री ब्राह्मण उत्तर से आये थे और आर्य-जाति के धर्म का प्रकाश लाने के कारण बड़े बने रहे। ये पितृ-प्रधान हैं; किन्तु सम्पत्ति का उत्तराधिकार इनमें बड़े पुत्र को ही मिला करता है। इसलिए वे ही स्वजाति की कन्या से विवाह करते हैं। शेष पुत्र नायर-कन्याओं का पाणिग्रहण करते हैं और ससुराल में रहा करते हैं। धर्म, परम्परा तथा ब्राह्मणों के श्रेष्ठत्व की धारणा ने इस परिपाटी को इतने दिनों तक जिलाये रखा है।

नायरों के संसर्ग में आनेवाली कई जातियाँ पितृप्रधान से मातृ-प्रधान में परिणत हो गई हैं। मालाबार के मोपला अरब से आये हुए हैं और इस्लाम धर्म मानते हैं। अरब में मुहम्मद साहब के समय कट्टर पितृप्रधानता थी। इसलिए निश्चित है कि ये भी मूलतः वैसे ही

होंगे। आज उत्तर मालाबार में जहाँ नायरों से उनका सम्पर्क गहरा है, वे पूरे मातृपक्षीय बन गये हैं। परन्तु दक्षिण में आज भी पितृपक्षीय है। यही स्थिति तियार और इझावान (Ezhawan) नामक जातियों की भी है। ये लोग भी ट्रावनकोर और दक्षिणी कोचीन में मातृपक्षीय और उत्तरी कोचीन तथा दक्षिणी मालावार में पितृपक्षीय हैं। ये लोग ताड़ी का व्यवसाय करते हैं। इझावान सम्भवतः इण्डोनेशिया से सिंहल होते हुए यहाँ आये हैं और निश्चय है कि इनमें मूलरूप में मातृप्रधानता नहीं, पितृप्रधानता थी। ट्रावनकोर-कोचीन में ही एक उल्लादान (Ulladan) नामक जाति है, जिसने अपने को एक विचित्र स्थिति में ढाल रखा है। उनके यहाँ सम्पत्ति का आधा भाग पुत्र को और आधा भाग पुत्री को प्राप्त होता है।[1]

संक्षेप में मातृपक्ष और पितृपक्ष की परम्परा का अस्तित्व एकमात्र जीविका और उत्पादन के साधनों पर ही निर्भर नहीं करता। आर्थिक विकास के साथ-साथ या समानान्तर इनमें भी विकास या परिवर्त्तन होना अनिवार्य है। ऐसी धारणा नितान्त भ्रामक है। संसार में सर्वत्र आरम्भिक अवस्था में मातृपक्ष की कल्पना और उसी से पितृपक्ष या पितृसत्ता के विकास की धारणा में थोड़ी भी वैज्ञानिकता नहीं है। अनेक आरम्भिक कारणों तथा तत्त्वों के बलपर जिन्हें एक शब्द में संस्कृति कहते हैं, कुछ जातियों में मातृपक्ष अपनाया गया और कुछ में पितृसत्ता का विकास हुआ। इतिहास, धर्म, सम्पर्क आदि के द्वारा इनमें परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहे। कई जातियाँ एक स्थिति से दूसरी में जा चुकी हैं और जाती रही हैं। कुछ ने पूर्णतया विकसित हो जाने के बाद भी वर्ग, स्वार्थ, धर्म तथा इतिहास की प्रेरणा से अपना प्राचीन मातृपक्षीय रूप बचाये रखा है। नायरों की परम्परा को जिलाये रखने में धर्म के अधिकारी और श्रेष्ठ समझी जाने वाली नाम्बूद्री ब्राह्मणों के स्वार्थ का भी हाथ है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु आर्थिक विकास हो जाने के बाद भी नायरों के समान शिक्षित जाति ब्राह्मणों के

१. L. A. K. Iyer, Travancore Tribes.

स्वार्थ तथा शोषण का साधन बनी रही, यही धर्म तथा लोकाचार की महान शक्ति का एक ज्वलन्त प्रमाण है। नायर यदि इसे अपना शोषण समझते तो बहुत पहले ही छोड़ देते। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं थी। इसे वे अपनी परम्परा का एक आवश्यक अंग मानते थे, इसीलिए इसमें चिपके रहे।

एक प्रश्न और उठता है, जिसका संक्षिप्त उत्तर दिये बिना भ्रम और गलतफहमी की सम्भावना है। आर्थिक विकास से परिवार के स्वरूप में परिवर्तन होता है अथवा नहीं, तथा उसका मातृपक्ष, पितृपक्ष से कोई सम्बन्ध है या नहीं? वस्तुतः आर्थिक विकास समाज के सभी अंगों पर और परिवार पर भी गहरा प्रभाव डालता है, उद्योग-केन्द्रों ने पुरातन परिवार को छिन्न-भिन्न कर दिया है, यह उसका सबसे बड़ा प्रमाण है। जीवन-विधि विशिष्ट समाज की माँग करती है और विशिष्ट पद्धति की ओर समाज को अभिमुख कर देती है। यह अपने को आवश्यकतानुसार मोड़ता है और नवीन रूप में ढालता है। साथ ही आर्थिक-विकास वर्ग तथा नवरूप का भी निर्माण करता है जिसके प्रभाव की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। परन्तु यह प्रभाव इतना शक्तिशाली होता है कि सम्पूर्ण समाज को एक निश्चित साँचे में ढालता जाता है, यह मानने का कोई कारण नहीं है। मातृपक्ष और मातृसत्ता किसी आर्थिक-जीवन की देन नहीं हो सकती। इतना अवश्य है कि मातृपक्ष बहुवर्गी और शोषण वाले समाज के लिए विशेष उपयोगी नहीं है। इसलिए इनके आविर्भाव से उसका विनाश होता जाता है। परन्तु यह भी निरपेक्ष सत्य नहीं है, नायर ही इसके उदाहरण हैं। एक बात और बड़ी महत्वपूर्ण है। भाई-बहनों के सम्बन्ध के समान ही, मार्गन के सिद्धान्त के अनुसार स्त्रीसत्ता सामूहिक विवाहों तक ही सीमित थी। किसी तरह मिथुनात्मक परिवार तक उसका अस्तित्व मानने की चेष्टा की जा सकती है। परन्तु आज कहीं भी मार्गन द्वारा वर्णित स्वरूप के अनुसार सामूहिक स्त्रीप्रधान विवाह नहीं है, जहाँ है वहाँ वह पूर्णतया युगल विवाह है। अमेजन में मातृप्रधान एकात्मक

विवाहों का प्रचलन होने के कारण कुछ नृतत्वशास्त्री इसे अमेजनियन-वाद (Amazonianism) कहते हैं, यह मार्गन से भिन्न चीज है। वास्तव में मातृपक्ष का अस्तित्व अनेक तत्त्वों पर निर्भर करता है, जिनमें परम्परा, धर्म, जाति का आरम्भिक स्वरूप एवं इतिहास मुख्य है, अर्थतन्त्र भी अपना हिस्सा बँटाता है, किन्तु वही निर्णायक तत्त्व नहीं है।

नृवैज्ञानिक और प्राचीन इतिहास की शोध करने वाले विद्वान् मार्गन की मातृसत्ता के विचार से इतने अभिभूत थे कि सर्वत्र उसकी स्थिति प्रमाणित करने का प्रयत्न किया करते थे। अभी भी अनेक विद्वान् उससे मुक्त नहीं हो सके हैं। कई विद्वानों का अनुमान है कि आर्यों के आगमन के पहले सम्पूर्ण भारत में मातृसत्ता थी। आर्यों के साथ ही पितृसत्ता आई। बलूचिस्तान में द्राविड़-भाषा में अवशेष ब्राह्मी भाषा में तथा भाषाभाषियों में मातृसत्ता के अवशेष खोजे गये हैं, नायरों की मुर्राक्ख्यायाम (Murrakkhyayam) प्रसिद्ध ही है। अनेक विधियों और व्यवहारों में भी इस सत्ता के अवशेष टो-टो कर निकालने के प्रयत्न किये गए हैं। इतना ही नहीं, भारत से लेकर बेबीलोनिया और क्रीट तक इस सत्ता के आभास का अनुमान लगाया गया है। तत्सम्बन्धी सारे प्रमाणों का विवेचन करना इस स्थल पर सम्भव नहीं है। चाहे जो हो, इतना निश्चित है कि वे प्रमाण पूर्णतया पुष्ट और अखण्डनीय नहीं हैं। गोंड़, शबर आदि अनेक अविकसित द्राविड़ हैं, जिनमें मातृपक्ष का अवशेष कहीं ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। मोहेंजोदड़ो के भग्नावशेषों में मातृसत्ता का कोई भी चिह्न नहीं मिलता। कोलों आदि आग्नेयों को मातृपक्षीय मानना विचित्र-सा लगता है। भारत से लेकर आस्ट्रेलिया तक उनमें पितृसत्ता की ही प्रधानता है; यदि हम सिन्धु सभ्यता को मातृपक्षीय थोड़ी देर के लिए मान भी लें तो भी मार्गनवादियों का मतलब हल नहीं हो पाता। वह सभ्यता कृषि-सभ्यता थी, केवल उद्यान-सभ्यता ही नहीं, ऐसी स्थिति में उनमें मातृसत्ता की कल्पना अपना ही खण्डन करती है।

भारतीय-विवाह-पद्धति का विकास

एनोल्स द्वारा समर्थित मार्गन के इस सिद्धान्त के अनुसार भारतीय परिवार तथा विवाह-पद्धति का विकास प्रमाणित करने के लिए या स्पष्ट करने के लिए कई विद्वानों ने प्रयत्न किया है, जिनमें श्री भूपेन्द्रनाथ दत्त, श्री एस० सी० सरकार, श्री ए० डांगे प्रमुख हैं। उन्होंने जिन साधनों के प्रयोग किये हैं, उनमें से मुख्य ये हैं:--

१—ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार सृष्टि के आरम्भ के लिए प्रजापति ने अपनी पुत्री से ही विवाह किया। 'प्रजापतिर्वैस्वाम् दुहितरमध्यायत'। पुराणों में यही बात ब्रह्मा के लिए भी बताई गई है। श्री डांगे एक डग और आगे बढ़कर कहते हैं कि 'ब्रह्म आर्यों का सम्मिलित परिवार समूह (कम्यून) है और यज्ञ है उत्पादन की सम्मिलित प्रणाली'। यज्ञ शब्द का अर्थ आपने किया है या ज ना अर्थात् वे सम्मिलित रूप में जाते हैं और जनते हैं।

कलिः शयानों भवति संजिह्वानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरम्॥

इस श्लोक का आपने अर्थ किया है कि कृत का अर्थ था चलनेवाला अर्थात् मृगयोपजीवी, त्रेताका अर्थ खड़ा अर्थात् सामान्य चारागाही और बर्बर युग, द्वापर का धीरे-धीरे गमन अर्थात् आरम्भिक, कृषि और कलि का अर्थ है सोना अर्थात् सभ्यता का युग। उनकी दृष्टि में सत्र आरम्भिक यज्ञ का प्रतीक है, जिसमें सम्मिलित श्रम और सम्मिलित यज्ञफल तथा समाख्या अर्थात् एक ही पात्र से सबों का सोमपान आवश्यक है। संक्षेप में आपका कहना है कि यज्ञ उन दिनों की याद है जब सब सम्मिलित रूप में श्रम करते थे, सम्मिलित रूपमें दण्ड से पीट कर या गला घोंटकर पशु को मारते थे, हड्डी से चमड़ा छुड़ाते थे, अग्नि-वेदिका के निकट भोजन करते थे और अभेदात्मक रूप में स्त्रियों के साथ शयन करते थे। पीछे अलग-झोपड़ियों में भी सोने लगे थे। इस रूप में यह प्रमाणित करने का प्रयत्न

किया गया है कि प्राचीन आर्यों में अभेदात्मक सम्बन्ध का युग था, जो मानव जाति की नितान्त वन्यावस्था थी।[1] ब्रूमफील्ड ने यज्ञ को व्यक्ति गत मानकर 'विदथ' को ही कम्यून साबित करने की चेष्टा की है।

२—ऋग्वेद में यम-यमी सम्वाद, ब्राह्मण में प्रजापतिके पुत्रों का अपनी बहनों से सम्बन्धस्थापन, मनु के पुत्रों का पुत्रियों से विवाह तथा दशरथ जातक के अनुसार सीता का राम की बहन होने का उल्लेख उन विद्वानों को मार्गन के परिवार के प्रथम रूप—सलोहित परिवार के अस्तित्व को प्रमाणित करने का अवसर देते हैं।

गण, जन और गोत्र इन विद्वानों के अनुसार उस युग की देन हैं, जब सम्बन्ध के आधार पर ही समाज का संगठन था। सम्मिलित रूप में विवाह-सम्बन्ध गण और गोत्र के भीतर ही होते थे। सब सम्बन्धी सम्मिलित रूपमें श्रम करते थे और सम्मिलित रूप में रहते थे। गण और गोत्र के बाहर का व्यक्ति उनके लिए "पर" और वध्य था। उससे सम्बन्ध स्थापित करने की कल्पना नहीं की जा सकती थी।

३—पुनालुअन परिवार की पुष्टि के लिए विशेष प्रमाण तो नहीं दिये जाते, किन्तु एस० सी० सरकार ने घुमा-फिराकर सीता को राम, लक्ष्मण की सम्मिलित पत्नी प्रमाणित करने की चेष्टा की है, द्रोपदी भी पाँचों पाँडवों की सम्मिलित पत्नी थी, यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है। इन बहुपतित्व के उदाहरणों से पुनालुअन परिवार का अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है।

४—महाभारत का आदिपर्व, हरिवंश पुराण आदि मिथुनात्मक-परिवार की कई घटनाओंका उल्लेख करते हैं—ययाति और श्वेतकेतु की कथा ऊपर बतलाई गयी है। अस्थायी और सामयिक विवाह-सम्बन्धों की अनेक गाथायें भरी पड़ी हैं, जिनमें हिडिम्बा से भीम के, बभ्रुवाहन की माँ से अर्जुन के, मेनका से विश्वामित्र के, पुरुरवा-उर्वशी आदि के सम्बन्ध प्रमुख हैं।

---

१. देखें, India from primitive communism to slavery. by S. A. Dange.

नियोगानुसार विधवा या निस्सन्तान स्त्री केवल एक या अधिक-से-अधिक दो सन्तानों के लिए देवर और किसी शुद्ध ब्राह्मण से पूर्णिमा की रात में सम्बन्ध स्थापित कर सकती थी। यह भी प्रचलित मिथुनात्मक सम्बन्ध के उदाहरण हैं।

५—पितृसत्तात्मक परिवार के उदाहरणों की आवश्यकता नहीं है, वे निश्चित रूप में कुछ दिन पहले तक मौजूद थे।

संक्षेप में मैंने मार्गनवादियों तथा एन्डोल्सवादियों के भारतीय-परिवार-सम्बन्धी मत का उल्लेख किया है। इस विकास को स्वीकार करने में अनेक आपत्तियाँ हैं, जिनमें से निम्न मुख्य हैं :—

१—यदि मार्गन का सिद्धान्त निरपेक्ष रूप में सत्य होता तो भारतीय इतिहास को भी उस दृष्टि से देखना आवश्यक और उचित कहा जा सकता। किन्तु मैंने जैसा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है वह एक नितान्त सन्देहास्पद सिद्धान्त है, जिसे किसी भी रूप में आज स्वीकार नहीं किया जा सकता। कम्यूनिज्म तथा मार्क्सवाद का उससे गठबन्धन करना आवश्यक नहीं जान पड़ता। मार्गन के व्यापक प्रभाव और अनुकरण पर चिढ़कर ही शायद आज के युग के प्रसिद्ध नृतत्वशास्त्री बोज (Boas) ने इसे 'विज्ञान के इतिहास में स्थापित या धारित सिद्धान्तों में सबसे अधिक व्यर्थ, अनुत्पादक और घातक माना है'। मार्गन हम पर इतना छा गया है कि इसके चलते समाज-विकास का स्वतन्त्र और वैज्ञानिक अध्ययन अन्धकार से घिर गया है, मानो उसने एक ऐसी पगडण्डी पकड़ा दी जिसपर टो-टो कर चलने के सिवाय उसके अनुयायियों के लिए कोई रास्ता ही नहीं रह गया। इसीलिए बोज साहब अधिक चिढ़ गये। भारतीय विद्वानों ने इस ओर उस समय ध्यान दिया, जब स्वयं अपने देश में और नृतत्वशास्त्रियों में वह अप्रतिष्ठित हो चुका था, और उसकी चर्चा केवल आलोचना के लिए ही होती थी। ऐसी स्थिति में परिवार के विकास की गति साबित करने के लिए अधिक पुष्ट प्रमाणों की आवश्यकता है। जो भूल मार्गन ने की है, वही भूल इन सब विद्वानों के द्वारा भी हुई है। इक्के-दुक्के

छिट-पुट उदाहरणों, घटनाओं और प्रतीकों के बल पर इतने बड़े सिद्धान्त की प्रतिष्ठा उचित नहीं है।

डांगे ने यज्ञ को उत्पादन-प्रणाली प्रमाणित करने के लिए जो पद्धति अपनाई है, उससे उनकी विद्वत्ता और उनके गम्भीर अध्ययन का पता चलता है, परन्तु उससे कोई भी वस्तु कुछ भी बताई जा सकती है। वेस्टरमार्क ने अति जीवन या अवशेषों के सिद्धान्त के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह कथन भी यहाँ नरम पड़ जायेगा। इतना अवश्य है कि वैदिक-आर्यों ने यज्ञ-विधि के लिए प्राचीन साधनों के उपयोग की ही व्यवस्था दी है। यह पुरातन प्रेम मानव के लिए सार्वभौमिक है तथा यज्ञ सामूहिक और सामाजिक-विधि होने के कारण व्यक्तिगत एकान्त साधना से भिन्न हैं, अस्तु इसमें "सह" की भावना बड़ी प्रबल है; परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जहाँ सह होगा, समाख्या होगी वहाँ सामूहिक-विवाह तथा सामूहिक सम्बन्ध रहेंगे ही।

मैंने मार्गन की आलोचना करते हुए यह कहा है कि उसको जो उदाहरण मिले, वे युगल-विवाह के ही नहीं तो व्यक्तिगत-विवाह के तो अवश्य थे। इसलिए उन्हें सामूहिक-विवाह की स्थिति में नहीं रख सकते। यह मार्गन की सबसे बड़ी दुर्बलता है। ठीक यही स्थिति इन मार्गनवादियों की भी है। प्रजापति ब्रह्मा की कथा से लेकर श्वेतकेतु तथा पाण्डव तक एक भी सामूहिक विवाह का उदाहरण नहीं मिल सकता। बहुपतित्व सामूहिक-विवाह नहीं माना जा सकता और न उसे विकास का एक सोपान स्वीकार किया जा सकता है।

(२) सृष्टि की उत्पत्ति और विवाह :—यह सृष्टि तथा धरती किस तरह उत्पन्न हुई, यह एक तीव्र जिज्ञासा तथा आश्चर्य का विषय बहुत पहले से रहा है। किसी ने ईश्वर की इच्छा मात्र से इसकी उत्पत्ति मान ली और किसी ने ईश्वर के साथ कच्छप तथा केंचुए के सहारे की भी कल्पना कर ली[1]। उसी प्रकार धरती बन जाने पर

१. मुण्डा जातियाँ मानती हैं कि ईश्वर के आदेश से केंचुवे ने समुद्र से मिट्टी खाकर कछुए की पीठ पर उसे उगल दिया, इसी से धरती उत्पन्न हुई।

मानवों तथा जीवों से यह किस प्रकार भर गई, तथा विवाहादि क्रम किस प्रकार चले यह भी विविध कल्पनाओं का एक उर्वर क्षेत्र रहा है। कहीं उन्हें दार्शनिकता का सहारा मिल गया और कहीं ये मानव की क्षुद्र बुद्धि के सहारे जीवित रहीं। भारत बहुत प्राचीन काल से विविध जातियों का क्रीड़ा क्षेत्र रहता आया है, इसलिए इन कल्पनाओं में भी बहुरंगीपन दिखाई पड़ता है। ईश्वर ने आरम्भ में एकाध पुरुष और स्त्रियाँ ही उत्पन्न की होंगी; अथवा सृष्टि के शुरू में एक या दो ही पैदा हुए होंगे, इससे भिन्न 'बहु' उत्पत्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इसलिए आरम्भिक-मानव के पास पिता-पुत्री और भाई-बहन के सम्बन्ध की कल्पना के सिवाय कोई चारा ही नहीं था। संसार की प्रायः सभी जातियों में इस प्रकार की गाथाएँ मिलती हैं। जो जातियाँ आगे बढ़ जाती हैं और जिनकी ये गाथाएँ अरुचिकर तथा असमाजोपयोगी जान पड़ने लगती हैं वे इसमें दार्शनिकता ला देती हैं या आदर्श तथा शक्ति की सहायता से इनका रूप बदल देती हैं। हिन्दू जाति की विविधता तथा सर्वग्राहिणी शक्ति ने सबों को अपनाया, इसलिए ऐसी सारी गाथाएँ हमारे ग्रन्थों में संगृहीत हैं, कहीं अपने रूप बदल कर और कहीं अपने पुराने नंगे रूप में ही। ब्रह्मा प्रजापति की कथा तथा प्रजापति के पुत्रों का अपनी बहनों से विवाह-सम्बन्ध ऐसी ही कल्पनाओं के नग्न रूप हैं, कहीं भी इसमें ऐतिहासिकता नहीं है।

कई धर्म-ग्रन्थों ने ऐसी कल्पनाओं को अलौकिकता से ढक दिया है, और यह बतलाने की चेष्टा की है कि ये सम्बन्ध ऐन्द्रियिक नहीं थे। इसलिए पापके कारण नहीं है। महाभारत ही जो भारतीय मार्गनवादियों के लिए अपनी विविधता के कारण सबसे बड़ा सहायक ग्रन्थ है कहता है:—

"नचैषां मैथुनो धर्मो बभूव भरतर्षभ।
संकल्पादेव चैतेषां गर्भः समुत्पद्यते।
ततस्तेता युगे काले संस्पर्शाज्जायते प्रजाः।
नह्यभून्मैथुनो धर्मस्तेषामपि जनाधिप।

द्वापरे मैथुनो धर्मः प्रजानामभवन्नृप।
तथा कलियुगे राजन्द्वन्द्वमापेदिरे जनाः॥

—शान्तिपर्व

कृतयुग में केवल संकल्प से और नेत्रों में स्पर्श से ही सन्तानोत्पादन होता था, मैथुन की आवश्यकता नहीं थी। मैथुन से प्रजा की उत्पत्ति द्वापर में आरम्भ हुई और अब कलि में द्वन्द्व से होती है।

प्राचीनता के प्रति अलौकिक स्वर्गिक पवित्रता की यह अस्वाभाविक कल्पना है, जिसकी कसौटी पर ब्रह्मा और प्रजापति के पापों को भी पवित्र प्रमाणित किया जा सकता है। आश्चर्य है डांगे साहब ने इस श्लोक को भी अभेदात्मक सम्बन्ध का ही द्योतक माना है। परन्तु सभी जातियों में और सभी संस्कृतियों में ऐसी कल्पना नहीं पायी जाती; वैराग्य और इन्द्रियदमन को ही पुण्य, धर्म और तप की चरम सीमा मानने के बाद ऐसी ही धारणा उत्पन्न हो सकती है। आवश्यकतानुसार तथा प्रसंगानुसार सीधी पुत्री-पिता, भाई-बहन के सम्बन्ध की भावना ही सीधे दिमाग को अधिक सरल जान पड़ती है और इसीलिए उसीकी प्रधानता दिखाई पड़ती है। जहाँ मनु को ही मानव सृष्टि का प्रथम पुत्र माना गया है, वहाँ भी ऐसी ही गाथायें गढ़ी गई हैं। इसमें समाज-विकास के सोपान खोजने की चेष्टा कर इस आरम्भिक जिज्ञासा की सरल तृप्ति के लिए कल्पित गाथाओं का वास्तविक मूल्य नहीं आँकना है।

(३) **विभिन्नताः**—भारत एक विस्तृत देश है, जहाँ विभिन्न जातियों तथा संस्कृतियों की अनेकता पद-पद पर दिखाई पड़ती है। आज भी नैतिकता के इतने परस्पर-विरोधी रूप, आदर्श और आदेश मिलते हैं कि इन सबों को एक मानना और विकास को विभिन्न सोपानों में अवस्थित समझ बैठना सबसे अधिक अवैज्ञानिकता है। हिमालय की तराइयों की कुछ प्रथायें अभी भी हमें अजीब और अनैतिक जान पड़ेंगी। जौनसर बावर की चियाबिया प्रणाली का विवेचन किया जा चुका है। बहु-पतित्व के साथ ही वहाँ स्त्रियोंके लिए दुहरी नैतिकता है? एक पति के

घर की, दूसरी पिता के घर की। वहाँ पति-गृह में स्त्री 'ध्यान्ति' तथा पिता के घर में 'रंती' कहलाती है। ध्यान्ति अपने पतियों के प्रति पूर्ण निष्ठावान् रहती हैं, परन्तु रंती पर कोई नैतिक बन्धन नहीं माना जाता। पिता समझता है कि उसने लड़की को बेंच डाला है, उसकी देखरेख करने का उत्तरदायित्व उस पर नहीं है। वहाँ सन्तान का अभाव है, माता का मूल्य इसलिए अधिक है। यही कारण है कि कि रंती की अवस्था में सन्तान होने पर भी पति स्वीकार कर लेते हैं। हिमालय की तराइयों में ही एक सतिया नामक अपराधी जाति है, जिसमें स्त्रियों को बन्धक तक रखते हैं। पीपल को साक्षी रख-कर बन्धक के काल में वह साहू के घर उसकी स्त्री की तरह रहती है और इस समय जो सन्तान होती है, वह साहू की मानी जाती है। यह समय समाप्त हो जाने पर वह अपने स्वामी के पास चली जाती है।

तिब्बती न्यायशास्त्र (Jurisprudence) के अनुसार पिता और चाचा भी आश्रित और अवलम्बित रहने पर पतोहू के साथ सम्भोग करने के अधिकारी माने जाते हैं। कई विद्वानों का अनुमान है कि पहले सम्पूर्ण हिमालय में अतिथि-सत्कार के लिए घर की बेटियाँ, चाहे विवाहिता हों या अविवाहिता, समर्पित की जाती थीं। प्रचलित प्रथा रहने के कारण इसमें कोई आपत्ति नहीं होती थी। आज भी हिमालय के भीतरी भाग में यह परिपाटी जीवित है। गालव और ययाति की पुत्री माधवी की कथा मिथुनात्मक विवाह के प्रसंग में लिखी जा चुकी है। वह सतिया जाति की प्रणाली का सुधरा रूप है। महाभारत के अनुसार सुदर्शन नामक व्यक्ति कहीं बाहर गए हुए थे। उनकी अनु-पस्थिति में उनकी पत्नी ओघवती ने अतिथि-सत्कार के लिए अपने को अर्पित किया और सुदर्शन के लौट आने पर सारी बातें कह दीं। ऋषि गौतम की तरह लाल-पीले नहीं हुए, वरन् इस परम्परा-पालन के लिए प्रसन्न ही हुए। यह हिमालयवाली परिपाटी से भिन्न नहीं है। अन्तर इतना ही है कि आज पिता के घर में ही यह अतिथि-सत्कार होता है, सुदर्शन के यहाँ पतिगृह में भी यह सम्पन्न हुआ।

मार्गन का यह सोपान भारत पर लागू करने के लिए तीन तथ्य प्रमाणित करने पड़ेंगे। (१) हिमालय की यह प्रथा विकास की विशेषतया आर्थिक-विकास की देन है। (२) यह तुरानियन वैवाहिक पद्धति से विकसित हुई है। (३) गंगा और सिन्धु की उपत्यका में भी कभी यह प्रचलित थी। जौनसर बावर के खस आर्थिक-दृष्टि से कष्टकारक जीवन व्यतीत करते हैं, किन्तु विकास की दृष्टि से वे पशुचारण तथा कृषि की स्थिति में हैं। इसीलिए बड़ा भाई प्रधानतया घर पर ही रहता है, मँझला पशुओं की देखरेख करता रहता है और छोटे भेंड़ चराते हैं। बच्चे क्रमशः इन्हें बड़े बाबा, डांगरा बाबा और भेड़ी बाबा कहते हैं। यों तो बहुपतित्व तथा दुहरी नैतिकता के अनेक कारण हैं, पर उनमें आर्थिक-स्थिति और जीवन-विधि भी है जिनसे बाध्य होकर पुरुषों को घर से बाहर रहना पड़ता है। परन्तु आर्थिक विकास की किसी भी स्थिति में इस पद्धति का कारण नहीं माना जा सकता। मार्गन के अनुसार मृगया-जीवन में ही सामूहिक विवाह थे, पशुचारण-जीवन में पितृसत्तात्मक परिवार पैदा हो गया, किन्तु ये हिमालयवासी पशु-चारी तथा कृषक ही हैं। इस क्षेत्र से लगा हुआ ही गढ़वाल है, जो आर्थिक विकास के उसी सोपान में है जिसमें "खस" हैं, किन्तु उनमें इस परिपाटी का नामोनिशान भी नहीं मिलता।

हिमालय की यह प्रथा हजारों वर्ष पुरानी है। कोई किसी भी आधार पर यह नहीं प्रमाणित कर सकता कि इनमें कभी मलाया या तुरानियन परिवार था। उनके कोई भी चिह्न कहीं नहीं मिलते। यह परिपाटी सनातन भी नहीं है प्रत्युत् हजारों वर्षों से विकसित होकर जीवित है। खस लोगों में बहुपतित्व मातृसत्ता का फल है। आप देखेंगे जहाँ कहीं बहुपतित्व है, वहाँ दुहरी नैतिकता भी है चाहे, अतिथि-सत्कार के नाम पर हो, चाहे अन्य कारणों से। इस्किमो, दक्षिण भारत के टीडा आदि की भी यही स्थिति है। परन्तु हमें तो ऐसा लगता है कि महाभारत में वर्णित विशृंखलताओं का एक अन्य जबरदस्त कारण है। जब विभिन्न आर्थिक स्तरों में अवस्थित समाजों

का सम्पर्क होता है तो केवल दासता आदि को ही प्रोत्साहन नहीं मिलता। अनैतिकता, विच्छृंखलता तथा अव्यवस्था का भी जन्म होता है। आर्थिक शोषण, नैतिक व्यभिचार का भी जनक है। आर्यों के आगमन के पूर्व ही भारतवर्ष में विभिन्नता तथा तज्जन्य शोषण प्रारम्भ हो गया था। इसीलिए इतिहास के पण्डितों का अनुमान है कि मुहें-जोदड़ो और हड़प्पा की सिन्धु सभ्यता में ही वेश्या वृत्ति स्थापित हो गई थी। निश्चित है कि इस वृत्ति का आरम्भ अन्य जातियों की स्त्रियों को लूट कर उनसे सामूहिकरूप से व्यभिचार करके सम्मिलित रूप में भोजन आदि की व्यवस्था करने की भावना से हुआ। हमारे यहाँ इस-लिए वेश्या को "रामा" भी कहते हैं; रामा का अर्थ है कृष्ण वर्ण की स्त्री। आर्यों के आ जाने पर इस अनेकता तथा विषमता एवं तज्जन्य आर्थिक नैतिक शोषण एवं विशृंखलता में और भी वृद्धि ही हुई। वशिष्ट के अनुसार 'काली जाति की स्त्रियाँ भोगार्थ हो सकती हैं धर्मार्थ नहीं।' यह एक सामान्य अनुभव का विषय है कि दरिद्र साधनहीन चरित्रवान् जातियों का भी तथा-कथित सभ्यों तथा श्री-सम्पन्नों के सम्पर्क में महान् पतन हो जाता है। इस विषम सम्पर्क का प्रभाव केवल पद-दलितों पर नहीं पड़ता, शोषकों के चरित्र पर भी पड़ता है। भारतवर्ष गलत और विपरीत स्वांगीकरण (assimilation) का भी विस्तृत गढ़ रहा है और आज भी है। यह विपरीतता महाभारत काल में ही स्पष्ट होने लगी थी।

हरिवंश तथा महाभारत में जितने अस्थायी अल्पकालीन सम्बन्धों के उदाहरण हैं उनमें आर्येतर स्त्रियों की संख्या सबसे अधिक है। भीम की वन-प्रवास-कालीन सहवासिनी घटोत्कच की माँ हिडिम्बा राक्षसी थी, मणिपुर की चित्रांगदा, उलूपी-बभ्रुवाहन की जननी, वहाँ की मूलनिवासी जातियों में से थी। गौतम की जानपदी, भारद्वाज की घृताची पुरुरवा थी उर्वशी आदि अप्सरायें हिमालय पर रहनेवाली किरात थीं। आस्तकि की माँ मनसा नागकन्यका थी, जो पूर्वी प्रान्तों के रहने वाले मूल निवासी थे। इस तरह के सम्बन्ध इसलिए नहीं होते रहे

कि ये स्त्रियाँ जिस जाति की थीं उनकी यह परिपाटी थी, बल्कि इसलिए होते रहे कि वे सैनिक तथा आर्थिक दृष्टि से पददलित थीं और वीरों तथा श्री-सम्पन्नों की अपनी काम-वासना मनमाने रूप में तृप्त करने के लिए शिकार बनाई गई थीं। कई अनैतिक समझी जाने वाली जातियों का पतन उसी काल में प्रारम्भ हुआ था और उनमें कई आजतक उसी स्थिति में चली जा रही हैं। इस प्रकार की कई अनैतिकता के पाठ पढ़ी हुई जातियाँ मूल स्रोतों से अलग हो गईं। किन्तु परिस्थितिवश उन्होंने जो कुछ ग्रहण किया था वही अभ्यास करते-करते प्रथा के रूप में परिणत हो गया। सतिया जाति में स्त्री बन्धक रखने की परिपाटी उनकी मूल संस्कृति नहीं हो सकती, वह तो आर्थिक शोषणों को दी हुई कृपा का फल है। सम्भव है, और भी कई चीजें इसी आधार से विकसित हुई हों। इस प्रकार के सम्बन्धों को कइयों ने स्थायी बना लिया और इससे उत्पन्न सन्तानों को अपनी सन्तान मान लिया, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह एक विधिवत् परिपाटी थी।

श्वेतकेतु और दीर्घतमस के नाम आने से यह मान लेना पड़ता है कि मिथुनात्मक परिवार की परिपाटी हिमालय की तराइयों के समान ही गंगा और सिन्धु की उपत्यका में भी जीवित थी और समय पाकर वहाँ से उठ गई। परन्तु दीर्घतमस और श्वेतकेतु के पिता उद्दालक ऋग्वेद के ऋषि हैं। अस्तु जो, इनके अनुभव हैं उनका कहीं न कहीं ऋग्वेद में भी उल्लेख होना चाहिए था। किन्तु यम-यमी सम्वाद (दशवाँ मण्डल) तथा उर्वशी पुरुरवा कथनोपकथन को छोड़ कर कहीं भी इस प्रकार की प्रणाली का संकेत भी वहाँ नहीं मिलता, यम-यमी सम्वाद की चर्चा आगे होगी। उर्वशी भी हिमालय वासी किरात थी। पुराणों के अनुसार ये प्राचीनतम ऋषियों में से नहीं हैं, प्रत्युत काफी पीछे के हैं। महाभारत के अनुसार श्वेतकेतु ही विवाह की प्रणाली स्थापित करनेवाले हैं, परन्तु वे दीर्घतमस से काफी पीछे के हैं, इसलिए प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री जयचन्द विद्यालंकार ने दीर्घतमस को ही वैवाहिक प्रणाली का जनक तथा श्वेतकेतु को उसमें

संशोधन करनेवाला माना है[1]। यदि श्वेतकेतु अथवा दीर्घतमस से पूर्व विवाह नहीं रहते तो ऋग्वेद के मन्त्रों की रूपरेखा दूसरी ही होती। प्रथम मण्डल में उषा के सम्बन्ध में लिखते हुए ऋषि कहता है—'अभ्रातएव पुंसएति।' इस स्थल के दो अर्थ लगाये जा सकते हैं, प्रथम बिना भाई की बहिन का चरित्र गिर जाता है, द्वितीय जिस स्त्री को भाई नहीं होता वह स्वतः ही पति के पास जाती है। दोनों अर्थों से यह ध्वनि निकलती है कि बहन की देखरेख भाई करता था और स्त्रियाँ स्वतः विवाह की बातचीत नहीं करती थीं, यह काम भाई का था[2]। यदि श्वेतकेतु की कथा के अनुसार किसी पुरुष को अधिकार रहता कि वह किसी भी स्त्री को उसके विवाहित पति के सामने ही मैथुन के लिए ले जा सके तो भाई की देखरेख का और पुंश्चली का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता।

ऋग्वेद के समय आर्यों का समाज अच्छे और बुरे सभी अर्थों में पूर्ण विकसित हो चुका था। व्यक्तिगत-सम्पत्ति और उत्तराधिकार के नियम स्थापित हो चुके थे। पिता का अधिकारी पुत्र होता था और पुत्र नहीं हो तो पुत्री और जमाता को ही अधिकार देने की परिपाटी थी[3]। यह स्थिति कभी भी मिथुनात्मक परिवार की या उसके पहले की नहीं हो सकती। पुत्र को तो स्थिर विवाहों में ही अधिकार मिल सकता है। इतना ही नहीं पति के मर जाने पर उसकी सम्पत्ति लेने के लिए ही स्त्रियाँ पतिगृह जाती थीं। स्त्रियाँ गृह समझी जाने लगी थीं[4]। देवताओं से कहा जाने लगा था कि तुम दम्पति को एकमन करते हो[5]।

---

१. देखें भारतीय इतिहास की रूपरेखा प्रथम भाग।

२. यह मन्त्र उद्दालक के मन्त्रों के पीछे का नहीं हो सकता।

३. ऋग्वेद ३।३१।१–२७।

४. ऋक ३।५३।४।

५. दम्पति समनसा कृणोषि ५।३।२।

वास्तव में वैदिक आर्य पितृसत्तात्मक परिवार में आ चुके थे। एक-एक पुरुष को कई स्त्रियाँ रहने लगी थीं। स्त्रियाँ अपनी सपत्नियों को कष्ट देने और अपने पति को वश में करने के लिए औषधियाँ पति के सिरहाने रखा करती थीं। उनकी कामना रहती थी कि यह जड़ी सपत्नी को दूर कर दे और पति केवल उसी का बनकर रहें। क्या सम्भव है कि यह स्थिति अस्थिर विवाहों में उत्पन्न हो? श्री डांगे ने महाभारत शान्तिपर्व के एक मन्त्र का उदाहरण देकर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि यज्ञ-विधि त्रेता में आई, कृतयुग में नहीं थी। परिणाम निकालते हैं कि कलियुग में वन्य-जीवन था और सामूहिक परिवार था। परन्तु पुराणों और महाभारत के कथनानुसार ही कृतयुग मनु से लेकर राजा सगर तक रहा तथा मनु ही वर्ण और यज्ञ के प्रचारक थे और प्रकाशक थे। क्या श्री डांगे की सम्मति में राजतन्त्र और एकराजतन्त्र वन्य-जीवन में उत्पन्न हो सकता है।

महाभारत और पुराण अनेक कालों के संग्रह हैं? अस्तु उनमें परस्पर-विरोधी बातें भी दी गई हैं। वेदों की प्रमाणिकता प्रथम है और जहाँ वेदों के विपरीत नहीं जायँ वहीं महाभारत और पुराणों से निकाले हुए परिणाम मान्य हो सकते हैं। त्रेतायुग में यज्ञ-विधि की कल्पना गीता आदि में दिखाई पड़ने वाले ज्ञान की प्रधानता स्थापित करने के लिये की गई ताकि ज्ञान ही कृतयुग की और प्राचीनतम वस्तु मानी जा सके। यही स्थिति दीर्घतमस और श्वेतकेतु वाली कथा की है। महाभारत ही एक स्थान पर (१, १०४, ३४, ३६ में) दीर्घतमा को विवाह की प्रथा चलाने वाला मानता है और दूसरे स्थान पर श्वेतकेतु (औद्दालिक) को। मुझे तो लगता है कि इन लोगों ने या तो वैवाहिक परिपाटियों में कुछ सुधार किये और इनके वंशजों ने इनकी

१. वही १०।१४५ और १५९।

२. वही १०।१४५।२।

३. त्रेतायुगे विधिस्तु एष यज्ञनाम् न कृतयुगे।

४. महाभारत १, १२२, ४, १८ में।

अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा में इन्हें ही विवाह का आरम्भ करने वाला ही बना डाला, अथवा ये लोग किसी भ्रांत और विपरीत स्वांगीकरण से भ्रष्ट जाति के सुधारक थे। नाम-साम्य के कारण इन्हें वैदिक ऋषियों से अभिन्न मान लिया गया है। इस नाम-साम्य से विभिन्न व्यक्तियों को एक मान लेने के कारण प्राचीन इतिहास में कितनी उलझनें पैदा हो गई हैं, यह हरेक इतिहास-प्रेमी जानता है।

(४) **परस्पर-आक्षेप**—भारत में अनेक वंश शासनाधिकार के लिए लड़ते रहते थे। उनमें परस्पर बड़ी गहरी शत्रुता उत्पन्न हो गयी थी। इसलिए अलग-अलग वंशों के और शासकों के आश्रित ऋषि और कवि विरोधियों की निन्दा करने में नहीं हिचकते थे। हमारे यहाँ रक्तशुद्धिकी धारणा बहुत पहले ही दृढ़ हो गई थी। इसलिए नीच-जन्मा प्रमाणित करने के लिए सबसे अधिक चेष्टा की जाती थी। ऋग्वेद में ही आर्यों के दो वंश—तृत्सुभारत तथा यदुतुर्वश आपस में लड़ने लगे थे। सातवें मण्डल में उल्लिखित 'दशराज्ञ-युद्ध' इन्हीं के बीच का युद्ध था। यही कारण है कि कई स्थानों पर यदुतुर्वशों की प्रशंसा है और कई स्थानों पर अपमानजनक निन्दा। मनुपुत्र नाभा मेदिष्ट ऋषि ने उन्हें 'दाशा परिवशे' (दासों के समान स्थिति) और "गोपरीणसा" कहा है; और अनेक बार नये तथा निन्दनीय कहा गया है। यह क्रम लिखित रूप के साथ-साथ मौखिक भी चलता गया। महाभारतकाल तक और भी बढ़ गया; क्योंकि शत्रुता भी बढ़ गई। बौद्धों तथा जैनों ने इस वृत्तिके साथ ही ब्राह्मणों पर आक्षेप किया। जातकों में कई स्थानों पर ब्राह्मणों को नीच-जन्मा कहा गया है[1]। दशरत जातक ने राम और सीता को भाई-बहन कहा गया है, इसके भीतर यही मनोवृत्ति दिखाई पड़ती है। यह जातक कोई प्रमाणित ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। इस प्रकार के बौद्ध प्रमाणों के सम्बन्ध में घुर्ये ने लिखा है कि "बौद्ध प्रमाणों पर बिना काँट-छाँट के विश्वास नहीं करना चाहिए—उनके लिए अपने विरो-

---

१. देखें Rhys David कृत Budhist India पृ० ६०।

धियों को नीचा दिखलाना स्वाभाविक था[1]।" महाभारत की अनेक गाथाओं में विभिन्न रूपों में गढ़ी हुई तथा पल्लवित की हुई कल्पनाओं तथाभ्रांत धारणाओं की छाप है, जिससे ऐतिहासिक तथ्य निकाल कर बाहर कर लेना असम्भव-सा कार्य है। हरिवंश पुराण की भी यही स्थिति है।

कई प्रमाणों को ऐतिहासिक सत्य मानने के लिए प्रसंग भी देखना आवश्यक हो जाता है। कर्णनेमदु को अपमानित करने के लिए उनके देश में प्रचलित स्त्री-स्वातंत्र्य का उल्लेख किया है। क्रोध में और गाली देने के समय मनुष्य सही बात ही कहता है, यह कहना ठीक नहीं है। इसी प्रकार नियोग के लिए कुन्ती और माद्री को प्रस्तुत करने की दृष्टि से पाण्डु ने प्राचीनकालीन स्वतन्त्रता का उल्लेख किया है। वे कहते हैं:—

अनावृताः किल प्रदा स्त्रियः आसन्वरानने,
कामाचार विहारिण्यः स्वतंत्राश्चारु हासिनी।

यह अनिच्छुक को विशेष कार्य के लिए प्रेरित करने की दृष्टि से कहा गया है, यह सत्य भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता। सत्य प्रमाणित करने के लिए और पुष्ट प्रमाण आवश्यक है।

(५) अलंकारिता—हम निर्गुण पंथियों, गोरख पंथियों तथा ब्रज यानियों की उलट-बाँसियों से परिचित हैं। इनमें अनेक स्थलों पर प्रचलित व्यवस्था, परिपाटी और स्वाभाविकता से विपरीत विरोध से लगने वाले रूपकों, उत्प्रेक्षाओं तथा दृष्टान्तों से अपने किसी कथन को आकर्षक बनाया गया है। कहीं-कहीं ये विरोधाभास उनके कथनों का स्पष्टीकरण करते हैं और कहीं उसे गुह्य बनाते हैं। साधारण बातें भी इसके द्वारा रहस्य-सी बन जाती हैं। इन विरोधाभासों की परम्परा नई नहीं है बहुत पुरानी है। अथर्ववेद में उसका पूरा प्रयोग है। ऋग्वेद में भी कई स्थानों पर निर्विवाद रूप में ऐसे अलंकारित विरोधाभास

---

१. देखें Caste and Class in India, पुस्तक।

मौजूद हैं जिनके भीतर किसी घटना या तथ्य का आरोप नहीं किया जा सकता। दसवें मण्डल के ३१ वें सुक्त में ऋषि इन्द्र और अश्विद्वय की स्तुति करता हुआ, प्रातःकाल की चर्चा चलाकर लगातार तीन मन्त्रों में कन्या से रति कामी होने का उल्लेख करता है। यहाँ सूर्य और उषा के मिलन के सिवाय कोई दूसरा अर्थ निकालने में द्राविड़ प्राणायाम करना पड़ेगा। पिता-पुत्री संभोग के अलंकार का प्रयोग करने वाला वेद क्या यम-यमी भाई-बहन के प्रेम का प्रयोग नहीं कर सकता? ऐसी स्थिति में यम-यमी सम्वाद की निरुक्त द्वारा दी हुई व्याख्या ही अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। वास्तव में वह कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं, नक्षत्रों की गति के लिए आरोपित अलंकारिता है।

यम के सम्बन्ध में एक तथ्य और विचारणीय है। यह इरानियों तथा फीनिशयनों (पणियों) का भी देवता है। इससे निश्चित है कि यह अत्यन्त प्राचीन है, जिसके साथ अनेक कारणों से अनेक कल्पनाएँ सम्बन्धित हो जाना असम्भव नहीं है। ऐसे प्रतीकों तथा अलंकारों के कारण भ्रम से कालान्तर में किसी भी देवता या व्यक्ति के साथ इस प्रकार असम्बद्ध घटनाओं का जुट जाना भी स्वाभाविक है। आज भी पौराणिक अलंकारिता को तथ्य ही माना जाता है। सम्भव है बहुत-सी इस प्रकार की कथाओं में यह भ्रम मौजूद हो।

(६) **गोत्र**—श्री डांगे के अनुसार गोत्र और प्रवर का अर्थ है पूर्वजों का एक होना, और वे गोत्र सामूहिक विवाह से उत्पन्न हुए हैं तथा जनकाल से पूर्व सलोहित परिवार से व्युत्पन्न माने बिना ये व्यर्थ की कल्पना बन जाते हैं। यह दलील स्पष्ट समझ में नहीं आती। हम हिन्दू विवाहों की समस्याओं के प्रसंग में इसके विकास का स्पष्टीकरण करेंगे। डांगे की कल्पना अवश्य ही एन्गेल्स से उधार ली हुई है। हमें यह आवश्यक नहीं जान पड़ती और बिना गोत्र-विवाह से सम्बद्ध किये ही हम गोत्र और प्रवर को समझ सकते हैं।

गोत्र-विवाह के सम्बन्ध में मार्गन के सामने भी उलझनें थीं;

यद्यपि उसका रूप डांगे से भिन्न था। मार्गन जन-भावना के विकास के साथ सगोत्र-विवाह-वर्जन को अपने विकास के सोपान में एक अनिवार्य अंग मानता है। इसे हटा देने पर उसका सारा सोपान भहराकर गिर जायेगा। किन्तु एक ओर वह अनेक जन-जातियों में सगोत्र-विवाहों का निषेध पाता है, दूसरी ओर उसी के घर पर उसके स्वजातियों के यहाँ चचेरी बहन से विवाह करने की परिपाटी मौजूद है। इन दोनों को कैसे मिलाये, बेचारा समझ नहीं सकता; और इसलिए उसने परिवार से सम्बन्धित संस्थाओं के विकास में एक सोलहवाँ सोपान जोड़ दिया और घोषणा कर दी कि "आर्यन, सुमेरियन और यूराल के सलोहित सम्बन्ध निश्चित रूप से एक ही हैं और सब युगल-विवाह से विकसित हैं। उसके सारे सम्बन्ध वही हैं, जो विवाह और परिवार के उस रूप के साथ मौजूद थे।"

इस कथन की गम्भीर आलोचना में डूबने की कोई आवश्यकता नहीं है। मिश्र, इरान, अरब तथा सुमेरियन जातियों में सगोत्र ही नहीं सलोहित-विवाह अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलित हैं, कम-से-कम तब से—जब से हमें उसका इतिहास उपलब्ध है। इस प्रणाली का विकास हुआ अथवा यह आरम्भ से चलती आ रही है, यह कहना कठिन है। यदि मार्गन का कहना सही मानें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हजारों वर्षों तक, विकास के कई सोपानों तक सलोहित सम्बन्ध निषिद्ध होने के पश्चात् सहसा वहाँ फूट पड़े। ऐसा क्यों और कैसे हुआ क्या मार्गन बतला सकते हैं? वह इस विकास को भी स्वाभाविक मानते हैं, परन्तु वास्तव में यह उतना स्वाभाविक नहीं है;

१. The Aryan Semetic, and Uralian system of consanguinity which are essentially, identical, were created by the Morogamian family. Its relationships are those which actually existed under this form of marriage and of the family.
—Ancient society p. 513.

यह मानना ही अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता है कि इनमें यह परिपाटी अत्यन्त पहले से मौजूद है और क्रमबद्ध विकास की किसी प्रेरणा से नहीं आई है। कुछ जातियों में सगोत्र-विवाह विवर्जित हो गये और कुछ में आरम्भ से ही चलते रहे, इनमें विकास के किसी सोपान का निर्धारण कल्पनामात्र है। इस तरह की धारणाओं में परिवर्त्तन होता है और विवर्जित जातीय प्रथा और विधान भी विहित बनता है। किन्तु इनके लिए दो प्रकार के कारण होते हैं—प्रथम प्रभाव और ग्रहण, द्वितीय परिस्थिति। व्यापक ग्रहण और प्रभाव किसी उच्च अथवा शक्तिशाली धर्म और सभ्यता के सम्पर्क और स्वीकृति से होता है। भारतीय मुसलमान-धर्म ग्रहण करने से सगोत्र-विवाह करने लगे हैं। परिस्थिति अधिकांश बाध्यतामूलक होती है। कोल परिवार की जातियों में सगोत्र-विवाह नहीं होते, परन्तु कांखा और पहाड़ी खरिया सीमितक्षेत्र में घिर जाने से ऐसा करने लगे हैं। परन्तु इरान से लेकर विस्तृत यूरोप तक प्रचलित सलोहित-विवाह को न तो एकदम प्रमाणित मानने का कोई ऐतिहासिक आधार है और न वाध्यतामूलक परिस्थिति से उत्पन्न मानने का किंचित विश्वसनीय कारण।

प्राचीन वैवाहिक पद्धतियाँ

यदि प्रबल प्रमाणों से यह साबित हो जाय कि भारतीय-विवाह मार्गन के अथवा अन्य ऐसे किन्हीं सोपानों से विकसित हुआ है जो हमारे आज के संस्कारों के बिलकुल विपरीत है तो उसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार के संस्कारों से उत्पन्न भावनायें वैज्ञानिकता और ऐतिहासिकता में बाधक बनती रहें तो एक सत्य के शोधक को उन्हें उतार कर फेंक देना ही उचित है। किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि प्रमाणों के अभाव में भी इधर-उधर के छिटफुट उदाहरणों और कथनों को नोच कर किसी निश्चित सिद्धान्त (सेट-फार्मूला) के साँचे में ढालने के कार्य को भी हम वैज्ञानिक मान लें और

स्वीकार कर लें। हमने जो कुछ कहा उससे यह स्पष्ट है कि विवाह के आरम्भ की कल्पना कोरी कल्पना है और जिज्ञासावृत्ति की तृप्ति के लिए गढ़ी गई है। आज का नृवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्री परिवार के आरम्भ की बात नहीं करता, उसे वह व्यर्थ का परिश्रम जान पड़ता है, वह केवल परिवर्त्तन तथा विकास की खोज करता है। भारतीय परिवार के नितान्त आरम्भ की कल्पनायें—चाहे महाभारत तथा श्वेतकुतोपनिषद् की ही अथवा आधुनिक मार्गनवादियों की, उतनी वैज्ञानिक तथा निर्भ्रान्त नहीं है। किन्तु इतना अवश्य है कि स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की ऐसी परिपाटियाँ प्राचीनकाल में थीं जिनकी चर्चा से कट्टर हिन्दू भावना को ठेस लगती है।

यह कहा जा चुका है कि भारत विभिन्न संस्कृतियों तथा समाजों का संगम-स्थल रहा है। इसमें अलग-अलग संस्कृतियाँ विभिन्न आधारों और धरातलों से विकसित होकर इस महा सांस्कृतिक सागर में मिलती रही हैं। एक ने दूसरे से ग्रहण किया है और दूसरों की प्रणालियाँ अपनायी हैं। आज बहुत से संस्कारों के सम्बन्ध में यह बतलाना कठिन है कि वे मूलआर्य संस्कार हैं, अथवा किसी आर्येतर जाति से लिए हुए हैं। सम्पूर्ण भारत में कभी भी प्रणालियों की एकरूपता नहीं आ सकी, क्योंकि विभिन्न समाजों को कभी भी एक ही साँचे में ढालने का प्रयत्न नहीं किया गया। यह विभिन्नता बराबर बनी रही और आज भी बनी है। जब अर्थशास्त्रों तथा धर्मशास्त्रों की परम्परा चली तो अर्थशास्त्रों ने उन सारी पद्धतियों को जिनमें तत्कालीन राजसत्ता की आपत्ति नहीं हो सकती थी कानून का रूप देने और व्यवहार की सीमा में लाने का प्रयत्न किया एवं धर्मशास्त्रों ने उन्हें काँट-छाँट कर ऐसे रूप में रखने की कोशिश की जिसमें तत्कालीन हिन्दू समाज को कोई आपत्ति नहीं हो। तो भी सारे वैवाहिकरूप उसमें आ सके, ऐसा कहना समीचीन नहीं जान पड़ता। कौटिल्य को धर्म नहीं बताना था, कानून की रूपरेखा देनी थी, इसलिए उसे भय था कि कहीं किसी समाज में ऐसे विवाह न निकल आयें जिनकी

व्यवस्था नहीं है और कहीं ऐसे अनिर्दिष्ट विवाहों से उत्पन्न सन्तान के सामने कानून की अड़चन नहीं पड़े, इसलिए उसने पुत्र-विभाग अध्याय के अन्त में घोषित कर दिया कि 'देश का, जाति का, संघ का या ग्राम का जो धर्म हो, उसका उसी के अनुसार दाय-धर्म सिद्ध करे।'

ब्राह्म-विवाह—कौटिल्य के अर्थशास्त्र में केवल दो प्रकार के ही विवाह धार्मिक माने गये थे—ब्राह्म और शौल्क। ब्राह्म का अर्थ उन विवाहों से था जो वेदमन्त्रों द्वारा सम्पन्न हुए हों और शौल्क से अभिप्राय उनसे था जिनमें शुल्क लिया-दिया गया हो। प्राचीन ग्रन्थों तथा कथाओं से यह स्पष्ट है कि सारे विवाह इन दो भेदों के अन्तर्गत ही नहीं लाये जा सकते। यह वर्गीकरण पीछे का तथा शुद्धतावादियों का है। वेदों के समय विवाह स्थिर थे और पूर्ण पितृसत्तात्मक थे। विवाहों के लिए "समन" नाम का एक मेला होता था जिसमें वर-वधू अपनी इच्छा से अपनी जोड़ी चुनते थे और कभी-कभी पुरुष को किसी स्त्री के लिए शक्ति-प्रदर्शन की प्रतियोगिता में भी भाग लेना पड़ता था। ऋग्वेद में घोषा चर्मरोग से पीड़ित होने के कारण पति पाने में असमर्थ थी, अन्त में उसका रोग दूर हो गया और एक ऋषि ने उसे अपनी सहधर्मिणी बनाया। पति निर्वाचन में स्त्रियों का भी हाथ था और उनकी स्वीकृति भी ली जाती थी। सूची के लिए रथ-चालन प्रतियोगिता का विवरण भी मिलता है। किन्तु इन निर्वाचनों तथा प्रतियोगिताओं के पश्चात् वधू को यही आशीर्वाद दिया जाता था कि घर (नये घर) गृहपत्नी के रूप में जाओ। पति के वश में रहकर व्यवस्था करो तथा ससुर की साम्राज्ञी बनो और सास की साम्राज्ञी बनो, ननदों की साम्राज्ञी बनो और देवरों की साम्राज्ञी बनो[2]। इसमें दोनों के हृदयों को मिलाने की प्रार्थना होती थी[3]।

१. गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासोवशिनी त्वम् विदथम वदासि १०।८५।२६।

२. साम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्वांभव, ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधिदेवृसु १०।८५।४६।

३. समाजन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।

इससे स्पष्ट है कि विवाह तथा परिवार की प्रणाली पूर्ण विकसित थी, परिवार सम्मिलित ही था, जिसमें सास, ससुर, ननद तथा देवर भी शामिल रहते थे। बड़े पुत्र और वधू का अधिकार घर में अधिक था, यह साफ है। परिवार का यह रूप काफी विकसित तथा दृढ़ था। विवाहिता पत्नी के अधिकार भी नियत थे और तत्सम्बन्धी प्रथाओं एवं लोकाचारों का प्राबल्य स्थापित हो चुका था।

शौल्क—आर्यों का आर्येतर संस्कृतियों से सम्पर्क वैदिककाल के आरम्भ में ही शुरू हो गया होगा। सम्भव है कि पितृसत्तात्मक स्थिर सम्मिलित परिवारों की परिपाटी के विकास में भी, जिसका आभास हमें ऋग्वेद से ही मिलता है, आर्येतरों का हाथ हो। किन्तु दोनों को अलग करने का कोई भी साधन अभी उपलब्ध नहीं हुआ है। सांस्कृतिक ग्रहण के तीन रूप होते हैं; मधु-ग्रहण, कटु-ग्रहण और रुग्ण-ग्रहण। मधु-ग्रहण में दूसरों की वस्तु तथा दूसरों के लोकाचार लेकर पचा लिये जाते हैं और अपने सांस्कृतिक साँचे में ढाल कर अपना बना लिये जाते हैं। इस ग्रहण में न तो कोई विशृंखलता उत्पन्न होती है और न ग्रहण करनेवाले समाज को यह अनुभव ही होता है कि वह बदल रहा है, दूसरों की वस्तु अपना रहा है। कटु-ग्रहण में क्रान्तियाँ होती हैं, कभी कम और कभी बेशी। समाज एक झटके का अनुभव करता है, इस ग्रहण को रोकना भी चाहता है, परन्तु कोई व्यक्ति या समाज का अंश ऐतिहासिक प्रेरणा से प्रेरित होकर इस ग्रहण के लिए कष्ट सहता है। इस प्रकार के अधिकांश ग्रहण अन्ततोगत्वा समाज की पद्धति में सम्मिलित हो जाते हैं; यद्यपि इनसे समाज का रूप बदल जाता है। प्रथम ग्रहण सरलता से आत्मीकृत हो जाते हैं। दूसरे में थोड़े दिनों तक समाज को अपच हो जाता है और धीरे-धीरे वह उसे पचाता है। इस विस्तृत देश में आर्य ज्यों-ज्यों फैलते गये त्यों-त्यों उन्हें भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में आना पड़ा और इसलिए इस मधु और कटु-ग्रहण के कारण उन्होंने

विभिन्न भूभागों में विभिन्न सम्पर्कों से भिन्न-भिन्न रूप अपनाये और फलस्वरूप उनकी मूल परिपाटी में अन्तर आते गये।

रुग्ण-ग्रहण समाज के लिए अभिशाप है। मैंने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि महाभारत तथा हरिवंश पुराण की नैतिक विशृंखलता वाली अनेक कथाओं और घटनाओं के मूल में कोई सामाजिक प्रथा अथवा व्यवस्था नहीं है। वरन् अनियमित और विषम सम्पर्क से उत्पन्न विष है। हम इसे ही रुग्ण-ग्रहण कहना चाहते हैं। यह एक संस्कृति का कोढ़ है। कुछ दिनों पहले तक और थोड़ा बहुत आज भी हिन्दू, बर्मा, अफ्रिका तथा बाली आदि पूर्वी द्वीप समूहों में वहाँ के स्त्री स्वातन्त्र्य का अनुचित लाभकर वहाँ की स्त्रियों से विवाह तथा सन्तानोत्पादन कर लिया करते हैं परन्तु अन्त में उन्हें धोखा देते हैं और अधिकांश अपनी इन पत्नियों से उत्पन्न सन्तानों को सन्तान ही नहीं मानते तथा अपने को उतना ही पवित्र समझते हैं जितना प्रथानुसार जीवन व्यतीत करनेवाला हिन्दू। यह स्थिति कुछ अंशों में अल्पस्त्री संख्यावाले प्राचीन आर्यों की भी हुई; इसमें सन्देह नहीं। इतना ही नहीं हुआ, अन्यों की परिपाटियों से लाभ उठाकर अपनी वासना तृप्ति तक ही नहीं की गई, उनकी प्रथाओं तथा लोकचारों के विपरीत अपनी शक्ति, साधन तथा सम्पत्ति के बल पर उनको च्युत भी किया गया और वेश्या, दासी, वर्णाशङ्कर तथा अज्ञात पितृ सन्तानों की परम्परा भी आरम्भ हुई।

विवाहों के ब्राह्म तथा शौल्क वर्गीकरण का अभिप्राय एक ओर कटु-ग्रहण तथा रुग्ण-ग्रहण को रोकना और विविधता में मन्त्र तथा शुल्क के द्वारा एकरूपता लाना था, दूसरी ओर ऐसी संतानों को आर्यों की सम्पति से उत्तराधिकार से वञ्चित कर देना और उन्हें दासों तथा हीन जातियों की श्रेणी में ढकेल देना था, जो कई प्रकार के कटु-ग्रहण और रुग्ण-ग्रहण से उत्पन्न थीं। रक्तशुद्धि का शायद यह गृह्य-सूत्रों द्वारा आयोजित प्रथम प्रयास था। इतना निश्चित है कि यह वर्गीकरण भी पीछे का है। उस समय का है जब वेदों की रचना बहुत पहले ही

समाप्त हो गई थी और उनकी कथाओं का उपयोग मन्त्रों के लिए होने लगा था, साथ ही आर्यों को सम्पत्ति में उत्तराधिकार का बहुत महत्त्व हो गया था। यह भी सम्भव है कि ब्राह्म और शौल्क पहले से प्रचलित विवाह हों, जिनका नया अर्थ लगाया गया हो।

शौल्क को ब्राह्म से भिन्न मानने का यह स्पष्ट अर्थ है कि जिन विवाहों में शुल्क दिया-लिया जाता था, वे वेद-मन्त्रों से सम्पन्न नहीं होते थे। उनमें वैदिक विधियों का आगमन पीछे हुआ होगा। वेदों में समनोत्सवों के साथ शुल्क की कहीं भी चर्चा नहीं है। इससे मुझे तो सम्भव जान पड़ता है कि ब्राह्म-विवाह मूल आर्य-विवाह पद्धति के विकसित रूप थे और शौल्क ग्रहण किये हुए। कौटिल्य ने शौल्क को आर्य-विवाह कहा है और शुल्क केवल सांकेतिक रखा है। केवल एक जोड़ी बैल। मनुस्मृति में भी इस परिपाटी में एक जोड़े बैल लेने की ही व्यवस्था दी है (३।२९)। किन्तु साथ ही अन्यत्र किसी भी रूप में कुछ भी लेने की घोर निन्दा की गई है (३।५३) तथा इसे भी एक प्रकार का कन्या-विक्रय ही माना है। इसे आर्ष नाम देकर धर्म-ग्रन्थों ने प्रशस्त बतलाया है और यह व्यवस्था दी है कि गोमिथुन कन्या-मूल्य नहीं था। डा० पी. के. आचार्य के अनुसार यह ऋषि द्वारा विवाह की इच्छा का द्योतक था। चाहे जो हो, ब्राह्म-विवाह से इसकी भिन्नता, तथा शौल्क नाम बतलाते हैं कि यह ग्रहण ही अधिक था। आज सवर्णों में कन्या-शुल्क देना या लेना निकृष्ट माना जाता है। परन्तु संसार की अनेक जन-जातियों में बिना कन्या-मूल्य के विवाह हो ही नहीं सकते। भारत में शायद ही ऐसी कोई जन-जाति हो जिसमें कन्या-मूल्य या शुल्क नहीं हो। संथाल इस शुल्क को "पोन" कहते हैं तथा पोन देकर होने वाले विवाह को किरिज (क्रय) बापला। पोन भी मोल-तोल करके लिया-दिया नहीं जाता। वह भी नियत और सांकेतिक है। यद्यपि हो आदि जातियों में यह सांकेतिकता नष्ट होकर एक समस्या बन रही है इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि आर्यों ने शौल्क-विवाह की परिपाटी आर्येतरों से ग्रहण की होगी और शुल्क देकर वे अन्यों से

भी उपयुक्त कन्यायें लेते होंगे। बहुपत्नित्व के कारण उनमें कन्याओं का कृत्रिम अभाव भी हो गया था, इसमें सन्देह नहीं (हम इन्द्र की कई पत्नियों का उल्लेख कर चुके हैं)। आवश्यकतावश धीरे-धीरे ये दोनों विवाह प्रचलित हो गये। एक प्राचीन परिपाटी से ही विकसित ब्राह्मणों द्वारा सम्पन्न तथा विधिवत् मंत्रों द्वारा सिद्ध, दूसरा आर्येतरों की कन्यायें, उनकी प्रथा के अनुसार ही, शुल्क देकर क्रीत या परिणीत। जिन समाजों से ये प्रधानरूप से कन्यायें लेते थे, वे कालान्तर में आर्यों से घुल-मिल गये और यह परिपाटी आर्य परिपाटी मान ली गई। मनु ने भार्या-मुक्ति या मोक्ष (अर्थशास्त्र) या त्याग की अवैधता का उल्लेख करते हुए 'निष्क्रय' शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ इस निष्क्रय का अर्थ कन्या-मूल्य, शुल्क लौटाने के सिवाय अन्य कुछ नहीं हो सकता। इससे यह जान पड़ता है कि मनुस्मृति के काल तक शौल्क-विवाह काफी प्रचलित थे और उन जातियों और समाजों में भी होते थे, जिनको मनुस्मृतिकार भार्या-मुक्ति या तलाक का अधिकार नहीं देना चाहते।

सूर्य ने अपनी पुत्री सूर्या के विवाह में चादर और गायें दी थीं, ऐसा संकेत ऋग्वेद में ही है[2]। परम्परागत या पीछे चलकर जो ब्राह्म कहलाये, उनके विवाहों में पिता पुत्री को उपहार दिया करता था। ये ही उपहार पीछे चलकर दायज के रूप में परिणत हो गया। कुछ लोगों का कहना है कि शुल्क देने से ही कन्या पति-कुल की होती थी, यों नहीं; किन्तु यह सत्य नहीं जान पड़ता। वेदों के समय पितृ-सत्तात्मक परिवार थे और कन्या पिता के कुल से निकल कर या अलग हो कर पतिकुल की किसी भी स्थिति में हो जाती थी[3]।

---

१. मनुस्मृति (९।४८–४९)।

२. ऋग्वेद १०।८५।१३

३. प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्। मैं पितृ कुल से छुड़ाता हूँ, दूसरे स्थान से नहीं। १०।८५।२५

ब्राह्म और शौल्क का नियम उतना संकुचित नहीं था, जो विवाह सम्बन्धों को एक सीमित दायरे में बाँध कर रख सके, आज की दृष्टि से तो कह सकते हैं कि उसमें ऐसी चेष्टा भी नहीं थी तो भी उस समय की दृष्टि से हिन्दू-समाज को आर्येतर से बचाने का प्रयास अवश्य था। परन्तु सारे सम्बन्धों को यह वर्गीकरण इन्हीं तक सीमित रख सकने में असमर्थ रहा। नयी-नयी प्रणालियाँ, धर्माचार्यों के न चाहने पर भी आती गईं, कुछ तो इसलिए कि वे अनेक जन-जातियों में प्रचलित थीं और कुछ इसलिए कि उस स्थिति में उनका अपनाया जाना स्वाभाविक था। कौटिल्य ने जिन प्रणालियों को अधर्म्म के अन्तर्ग रखा है, वे इसी प्रकार की थीं, जो बहुत पहले से और शायद सूत्रों के निर्माण के भी पहले से चली आ रही थीं।

दैव—धर्म-शास्त्रों के अनुसार ब्राह्म और शौल्क या आर्ष के अतिरिक्त दैव तथा प्रजापत्य विवाह धर्म थे। दैव के अन्तर्गत सालंकृता कन्या दक्षिणा स्वरूप यज्ञकर्ता ऋषि या पुरोहित को दे दी जाती थी। दैव नामकरण का कारण शायद दैवयज्ञ के समय देने के कारण था। ऋग्वेद के ५।६१ सूक्त की व्याख्या करते हुए एक कथा कही गई है जिसके अनुसार पुरोहित अर्चना द्वारा अपने पुत्र श्यावाश्व के लिए राजा दर्भवीति से कन्या माँगी गई परन्तु राजमहिषी ने ऋषि नहीं होने के कारण अस्वीकार कर दिया है। श्यावाश्व ने घोर तपस्या के पश्चात् ऋषिका पद प्राप्त किया और राजपुत्री को पत्नीरूप में पाया। वेद के कई स्थलों में पुरोहित को वधुयें मिलने की चर्चा है। सम्भव है उनमें दासियाँ भी हों। खैर, गृह्य तथा धर्म सूत्रों ने भी इसे स्वीकार किया है परन्तु ब्राह्म से इसे निम्नकोटि का माना गया है।

प्रजापत्य—प्रजापत्य विवाह-प्रणाली के अनुसार वर-कन्या सहधर्म का आचरण करने की प्रतीक्षा करते थे[1]। प्रायः यही बात सर्वत्र दुहराई गई है। सम्भव है वर या वर के पिता वधु की याचना करते

१. अश्वालायन गृह्य सूत्र १।६

हों और शर्तों के साथ विवाह कार्य सम्पन्न होता हो। परन्तु शर्तें क्या हो सकती हैं ? स्त्री-पुरुष के अधिकार प्रायः निश्चित हो चुके थे फिर शर्त का क्या अभिप्राय हो सकता है ?

कई विद्वान् ब्राह्म-विवाह से इसे भिन्न मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। डा० अल्तेकर साहब का कथन है कि प्रणालियों की संख्या आठ करने के लिए ही इसे जोड़ दिया गया है। ऐसा मानने के आधार हैं। वसिष्ठधर्मसूत्र में ६ विवाह ही गिनाये हैं; ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व, क्षात्र (राक्षस) तथा मानुष (आसुर)[1]। आपस्तम्ब में ब्राह्म, दैव और आर्ष तीन हैं। ऐसा जान पड़ता है कि आपने धार्मिक या स्वीकृत विवाहों को ही विवाह माना है, उनमें भी प्रजापत्य नहीं है। महाभारत के अनुशासन पर्व में पाँच ही माने गये हैं; ब्राह्म, आसुरा, गान्धर्व तथा राक्षस ज्यों के त्यों हैं ! एक नया विवाह है क्षात्र, जिसका अर्थ है वर-पक्ष को दहेज देकर किया विवाह। ब्राह्म के साथ ही इस क्षात्र तथा गान्धर्व को भी धर्मानुकूल माना है। केवल दो ही, राक्षस तथा आसुर, पापमय हैं। महाभारत मध्ययुग की भावना का द्योतक है, तथा शेष सामान्य तथा मनुस्मृति से पूर्व की स्थिति के। ऐसी स्थिति में यह शंका अत्यन्त स्वाभाविक है कि बीच में ही प्रजापत्य कैसे आ गया।

वेदों में वर-पक्ष द्वारा कन्या-याचना के अनेक उल्लेख हैं। पहले यह एक सामान्य बात थी, इससे इधर ध्यान ही नहीं जाता था। चाहे जिसकी याचना हो विवाह ब्राह्म ही था[2]। धीरे-धीरे समय बीतने पर, वर का महत्व अधिक हो गया और फलस्वरूप कन्या-पक्ष की ओर से ही अधिक प्रयत्न होने लगे। तो भी दोनों परिपाटियाँ साथ-साथ चलती रहीं, किन्तु विधि-व्यवहार, दान, उपहार की प्रणाली में सामान्य अन्तर आते गये। इसलिए धर्मशास्त्रोंने दक्षिणा के रूप में ऋषियों के साथ किये विवाह को दैव, वर-पक्ष द्वारा याचित को प्रजापत्य तथा

१. वसिष्ठ धर्मसूत्र १।२९

२. आज भी तो कई जन-जातियों में वर-पक्ष को ही प्रयत्नशील होना पड़ता है।

परस्परमिलकर किये हुए ऐसे विवाह को ब्राह्म मान लिया जिसमें कन्या पक्ष ही प्रधान रूप में प्रयत्नशील हो। काल-क्रम से कन्या-याचना अपमान-जनक व्यापार हो गया; इसकी अपेक्षा लूट लेना भी थोड़ा-बहुत वीरोचित कर्म था। इसलिए उच्चवर्णों में एक प्रकार से यह परिपाटी ही समाप्त हो गई। महाभारत का विवरण इसी भावना की देन है।

गान्धर्व—इन चार धर्म्म-विवाहों के अतिरिक्त अधर्म्म के अन्तर्गत चार विवाह गिनाये गये हैं: गान्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पैशाच। गान्धर्व का अर्थ उस विवाह से है जिसमें बिना किसी संस्कार या विधि के, माता-पिता द्वारा बिना शुल्क दिये या उपहार लिये हुए ही स्त्री-पुरुष पति-पत्नि के रूप में जीवनयापन करने लगें। इस परिपाटी का नामकरण हिमालय में रहनेवाली जाति के नाम पर किया गया है। ऐसा साधार अनुमान किया जाता है कि पहले हिमालय पर मातृसत्ताप्रधान जाति का निवास था, जिसमें प्रेम ही पूज्य तथा मान्य था, विधि तथा अन्य विवाह के उपचार उस तरह मूल्यवान् तथा अनिवार्य नहीं समझे जाते थे। इस जाति में सम्पत्ति तथा घर पर पुत्री का अधिकार था। विवाह केवल उसी की इच्छा पर निर्भर करते थे, सम्भवतः अन्य मातृ-प्रधान जातियों के समान इनमें भी सम्बन्ध-विच्छेद अधिक होते थे और बिना विशेष विधि-विधान के नये विवाह सम्पन्न हो जाते थे। उर्वशी और पुरुरवा की ऋग्वेद तथा पुराणों द्वारा वर्णित कथा के भीतर भी इसी परिपाटी की भावना दिखाई पड़ती है। आर्यों ने इसे ग्रहण किया, परन्तु उसका एकांगी रूप ही लिया। विवाह-विच्छेद के नियम उतने ढीले नहीं रखे गये। कुछ विद्वानों ने प्रेम की अवस्थिति में ही गान्धर्व-विवाह की कल्पना कर ली है। परन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता। ऐसा लगता है कि वेदकालीन सभी विवाहों में कन्या की स्वीकृति प्रायः आवश्यक थी। वैदिक ऋषि के अनुसार भद्र कन्या धन आदि पर नहीं जाकर योग्य पुरुष का निर्वाचन अपने मन के अनुकूल कर लिया करती

थीं[1]। अथर्ववेद में भी पूर्वप्रेम तथा निर्वाचन के उल्लेख मिलते हैं। ब्राह्मादि विवाह भी प्रेम से शून्य नहीं थे। वास्तव में गान्धर्व-विवाह उन्हीं विवाहों को कहते थे जिनमें बिना विधि या माता-पिता की आज्ञा के ही युवती तथा युवक स्त्री-पुरुष रूप में रहने लगते थे। अथर्ववेद में एक स्थान पर अप्सरा तथा गन्धर्वदम्पति का स्पष्ट उल्लेख है[2]।

पीछे धर्म शास्त्रों में इस प्रणाली को अधर्म मान लिया गया तथा कई सूत्रकारों ने इसे विवाहों के अन्तर्गत गिना ही नहीं तो, भी यह काफी प्रचलित परिपाटी थी। इसकी निन्दा तथा प्रशंसा दोनों आपको मिलेगी। शकुन्तला तथा दुष्यन्त की प्रेम कहानी प्रसिद्ध है। कण्वने इस प्रसंग में महाभारत के अनुसार स्पष्ट बताया है कि मन्त्ररहित होने पर भी कामनामयी नारी का कामनायुक्त पुरुष से सम्पर्क श्रेष्ठ कहा जाता है।[3]

चाहे जो हो अपनी रीतियों द्वारा समर्थित प्रेम-व्यापार ही जब बहुत आगे बढ़ जाता था तो उसे गान्धर्व नाम दे दिया जाता था। पीछे चलकर जब विवाह के सम्बन्ध में स्त्रियों की स्वतन्त्रता का अपहरण, विदेशी आक्रमणकारियों के भय से कर लिया गया तथा बाल-विवाह की ओर हम जाने लगे तो पूर्व प्रेम ही अवैद्य तथा कलंकमय घोषित हो गया। गान्धर्व विवाह कैसे सहन होता? उसके विपरीत फतवा दे देना स्वाभाविक था। हमारी कई जन-जातियों में यह प्रणाली अभी भी किसी न किसी रूप में जीवित है। लोगों में एक घर में रहना ही विवाह मान लिया जाता है। नागाओं में तो कभी-कभी एक प्रकार का प्रयोगात्मक विवाह हो जाया करता है। प्रेम के वशीभूत होकर कुमारी लड़के के घर जाकर रहने लगती है। यदि पटरी नहीं बैठी तो विवाह नहीं होता वह लौट आती है; अन्यथा विधि पूरी हो जाती है।

---

१. ऋग्वेद १०।२७।१२।

२. अथर्ववेद ४।३७।२२।

३. सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रः श्रेष्ठ उच्यते।

आसुर—आसुर का अर्थ स्त्री खरीद कर विवाह करना है। मेरा तो विश्वास है कि असुर जाति की प्रणाली के आधार पर यह नाम दिया गया। नेनेवा तथा असीरिया के इतिहास-प्रसिद्ध असुरों में कन्या-मूल्य की भयंकर परिपाटी थी। विवाह सामान्यतया स्त्रियों को खरीद कर ही किये जाते थे। इसलिये उपपत्नियों तथा वेश्याओं का भयंकर प्रचलन हो गया था। प्रतापी परन्तु निर्मम विजयी सम्राट आसुर बनिपाल की मृत्यु (६१२ ई० पू०) के बाद ही इस जाति का अस्तित्व प्रायः समाप्त हो गया था। किन्तु इस वैवाहिक प्रणाली का अवशेष अफगानिस्तान से लेकर सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिमी एशिया में पाया जाता है। स्त्री क्रीत है इसलिये उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह बिचारी खिड़की से झाँक भी नहीं सकती। ऐसा करने पर पुरुष बिगड़ कर कहता है "दूसरे मर्दों से नजर लड़ाने के लिये ही तुम्हें खरीदा है ?" भयंकर पर्दे की प्रथा का भी जन्म शायद इसी की प्रधान देन है।

प्राचीन आर्यों में यह प्रणालियाँ थीं या नहीं, यह एक विवादास्पद विषय-सा लगता है। कुछ विद्वान् इसका किसी न किसी रूप में उस समय भी अस्तित्व मानते हैं। ऋग्वेद से इसके लिये दो उदाहरण पेश किये जाते हैं। एक उद्धरण[1] स्पष्ट नहीं है। उसमें तो इतना ही उल्लेख है कि 'कुछ कन्यायें केवल द्रव्य से ही प्रसन्न होकर पुरुष पर आसक्त होती हैं।' यह आसक्ति इतना भी बतला सकती है कि उस समय जाति और अन्य गुणों की अपेक्षा धन की महत्ता भी भोगार्थ स्थापित हो गई थी। खरीदने की बात ही आवश्यक नहीं है। दूसरा मन्त्र[2] विजामातृ और श्यालक द्वारा दिये हुए धन की अधिकता का उल्लेख करता है। विजामातृ का अर्थ क्रोतापति (खरीदी स्त्री का पति) लगाया जा सकता है। साथ ही ऐसा जामाता भी हो सकता है जो अयोग्य, गुणहीन, या न्यायतः हीन जाति का हो।

सूत्र ग्रन्थों में आसुर-विवाह का उल्लेख नहीं है। इससे यह

१. ऋग्वेद (१०।२७।१२)
२. ऋग्वेद (१।१०९।२)

शंका हो सकती है कि उनमें इसकी गणना शौल्क-विवाह के ही अन्तर्गत है। अभी तक कई स्थानों में कन्या-शुल्क सांकेतिक ही है। मैथिल ब्राह्मणों में मुद्रा नाम से शुल्क की भी एक विचित्र परिपाटी है जिसे हम जाति-शुल्क कह सकते हैं। जो जाति में, पंजी प्रबन्ध के हिसाब से ऊँचे रहते हैं, चाहे कन्या पक्ष के हों या वर पक्ष के, वे दूसरे से एक विशेष हिसाब से द्रव्य लिया करते हैं जो १) से ५०१) रुपये तक जा सकता है। यों भले बहुत अधिक व्यय कर दें, परन्तु इस द्रव्य के लिये विवाद हो जाता है; क्योंकि यह द्रव्य नहीं जाति के स्तर का, छोटे बड़े होने का, परिचायक है। ऐसा लगता है कि ये आसुर-विवाह शौल्क-विवाह के ही विकृत रूप हैं। शौल्क में जो एक जोड़ी बैल का प्रतीक था वही विकृत होकर आसुर-विवाह हो गया। अब मैथिल ब्राह्मणों में भी प्रतीकात्मक द्रव्य की परिपाटी समाप्त हो रही है और उसके स्थान पर हजारों रुपयों का लेन-देन होने लगा है। ऋग्वेद में ऊपर जो विजामातृ शब्द का प्रयोग है उसका अर्थ उस जामाता से है जो जाति और गुण में हीन होने के कारण बिना शुल्क दिये विवाह नहीं कर पाता था। किन्तु ऐसा लगता है कि यह शुल्क प्रतीकात्मक होगा। उसमें क्रय-विक्रय की भावना उसी तरह नहीं आई होगी जिस तरह आज से कुछ दिनों पहले तक मैथिल ब्राह्मणों में नहीं आई थी।

आर्येतरों में कई ऐसी जातियाँ आज भी हैं जिनमें कन्या-शुल्क है। उनमें अधिकांश में यह शुल्क प्रतीकात्मक है। वैदिक समय में भी आर्यों तथा आर्येतरों में सम्पर्क तथा सम्मिलन आरम्भ हो गया था। इससे छोटे-बड़े के भेद तथा जाति और वंश के आधार पर सामाजिक स्तर हो गये थे। इससे किन्हीं वर्गों में संसर्ग से प्रतीकात्मक या विकृत रूप में ही शुल्क का आना असम्भव नहीं है; यद्यपि प्रेम मूलक समानाश्रित ब्राह्म विवाह की ही प्रधानता थी, वह भी उच्चवर्गों में और उन लोगों में, जो विजामाता नहीं चाहते थे सुजामाता ही पसन्द कर सकते थे।

हमारी जनजातियों तथा निम्न वर्ग के लोगों में आज भी विधिवत् कन्या-शुल्क है जिन्हें नीची निगाह से नहीं देखते। नियम रहने पर नहीं लेना ही अपमान माना जाता है। इनमें से कइयों में इसका प्रतीक-रूप नष्ट हो गया है और सीधा क्रय-विक्रय और मोल-तोल चल पड़ा है। वास्तव में आसुर-विवाह के अन्तर्गत सांकेतिक मूल्य वाले विवाह नहीं आ सकते, क्रय-विक्रय वाले आते हैं। निम्न कोटि का गिना जाने पर भी और शास्त्रों द्वारा निन्दित घोषित हो जाने के बाद भी ये विवाह हमारे भीतर आने लगे थे और आ गये थे, इतना मानना पड़ेगा। हमारा हीं नहीं हमारी कई जन-जातियों का जीवन भी इसके चलते कष्टमय हो रहा है। हो जाति उदाहरण स्वरूप है। उनका यह रूप नये सम्पर्क की ही देन है, मौलिक नहीं।[1]

अपहरण विवाह—राक्षस तथा पैशाच—युद्ध में बलात् अपहृत कन्या से विवाह करने की प्रणाली को राक्षस-विवाह कहते हैं। यह प्रणाली राक्षसों के साथ ही क्षत्रियों में भी प्रचलित थी इससे इसका नाम क्षात्र-विवाह भी है। सम्बन्धियों और भाई-बन्धुओं को मार कर घायल कर रोती-चिल्लाती कन्या को पकड़ ले जाना इसके लक्षण हैं। शास्त्रों ने इसकी निन्दा की है, तो भी यह बहुत प्राचीन काल से ही प्रचलित जान पड़ता है। ऋग्वेद में भी इसके उदाहरण मिलते हैं। कई स्थानों में अश्विद्वय की कृपा से पुरुमित्र राजा की पुत्री शुन्द्ध्युप के अपहरण तथा विमद से उसके विवाह का उल्लेख है[2]। पीछे चलकर तो क्षत्रिय वीर इसमें अपना गौरव समझने लगे थे। भीष्म जैसे दृढ़ प्रतिज्ञ, धर्मज्ञ भी इसे क्षत्रियों के लिए एकमात्र उत्कृष्ट मानते हैं[3]। धर्म-शास्त्रों ने भी इसे औरों के लिए हीन बतलाते हुए क्षत्रियों के लिए ग्राह्य ही माना है।

---

१. देखें हो जाति के सम्बन्ध में डी० एन० मजूमदार की पुस्तक The Affairs of a Tribe.

२. देखें १। ११२। १९ तथा १०। ३९। ७

३. क्षत्रियणां तु वीर्येण प्रशस्तं हरणाम् बलात्।

राजपूतकाल तक यह प्रणाली चलती रही। विभिन्न काव्यों ने इसके वर्णन में उज्ज्वलता तथा सरसता ला दी। ऐसे विवाहों में प्रेम के भोग के भी चित्रण बहुत मिलते हैं और अधिकांश में हरण, कन्या को इच्छा से ही होता था। पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता के तथा आल्हा ऊदल द्वारा अनेकों के अपहरण प्रेम के फल थे। उस समय यह विश्वास था कि लड़की अपने से उच्च को ही देनी चाहिये। परन्तु मिथ्याभिमान के कारण सभी राजपूत-रजवाड़े अपने को ही सर्वश्रेष्ठ समझते थे और इसलिये किसी को भी धर्मशास्त्रों द्वारा बाल-विवाह का आदेश देते हुए भी, अपनी पुत्री देना अपमान समझते थे। फलतः या तो पुत्रियों को जन्म लेते ही नमक चटाकर मार डालते थे या यदि नहीं मार सकते थे तो बिना हरण के यों विवाह नहीं करते थे। इसी से यह प्रणाली इतनी प्रचलित हो गई थी।

यह शुद्ध अपहरण-विवाह है इसके एक दूसरे रूप का भी उल्लेख मिलता है जिसे पैशाच कहते हैं। धोखे से सोई हुई, मूर्च्छित अथवा उन्मत्त कन्या को अपहृत कर लेना पैशाच माना जाता था। कई शास्त्रकारों ने बलात् या अचेतावस्था में संयोग करने को भी पैशाच कहा है। यह प्रणाली सबसे घृणित तथा नीचतापूर्ण मानी गई है। इसी से सभ्यता के निम्नतम् स्तर पर अवस्थित कच्चा मांस खाने वाले पिशाच जाति के नाम पर इसका नामकरण किया गया है।

विभिन्न रूपों में अपहरण-विवाह प्रायः सभी जन-जातियों में मौजूद था और थोड़ा-बहुत आज भी है। उड़ीसा के पहाड़ी भुइयों या पाउरी जाति में आज तक इसी प्रणाली की प्रधानता है। वर पक्ष के अनुरोध पर कन्या-शुल्क (मूल्य), निश्चित करके विवाह करने की पद्धति, जिसे वे माँगी-विवाह कहते हैं, अपहरण से निम्न कोटि का तथा अपेक्षाकृत कम प्रचलित है। सबसे प्रचलित उनमें 'धारी-पारा' विवाह है। बन्धु ग्रामों के बालक चार-पाँच दिनों तक आकर मंडा घरों में नाचते हैं। लड़कियाँ भी जाती हैं। इससे अनेक लड़के लड़कियों में प्रेम हो जाता है। प्रेमी प्रेमिका को राँगे की माला देता है और दोनों

फूल-मित्र (फूल बसिबा) कहलाते हैं। वर्षों बाद जंगल में लकड़ी चुनते हुए लड़की का अपहरण हो जाता है। फिर युद्ध के दृश्य होते हैं किन्तु अन्त में सब ठीक हो जाता है और विवाह की विधि पूरी की जाती है। अपहरण की परिपाटी इतनी प्रतिष्ठित मानी जाती है कि कभी-कभी प्रेमी अपने घर वालों को सूचना दे देता है और वे कन्या पक्ष के लोगों से मिलते हैं। वे कहते हैं—"खींचीं काढ़ी लेइ जेवा" (खींच कर ले जाओ)। वे जंगल में आते हैं, लड़की भी बहाने से अपनी सखियों के साथ भेज दी जाती है और लड़का अपहरण कर लेता है। सखियाँ घर आकर कहती हैं 'अमुक लड़की को बाघ उठाकर ले गया'। सब लोग जंगल की ओर दौड़ते हैं और हल्ला करते हुए लड़के के घर पहुँच कर मार-पीट का स्वाँग करते हैं, फिर सब तय हो जाता है। इस विवाह को झिका या खींचा विवाह कहते हैं।

संथालों में मध्यस्थ (रायबार) द्वारा निश्चित किरिज बावला (क्रीत-विवाह) के साथ ही अपहरण (आङ्गीर) भी प्रचलित है। लड़की के गाँव वाले हल्ला करते हुए लड़के के घर पहुँचते हैं और उसके गाँव में जो बकरा-बकरी, सूअर पाते हैं उठा ले जाते हैं। आज लड़के वाला अपने गाँववालों को लूटे पशुओं का मूल्य चुकाता है। सम्भव है पहले नहीं चुकाना पड़ता होगा, क्योंकि विवाह भी प्राथमिक जनपद की सम्मिलित जिम्मेवारी थी। इस क्रिया को खसी मारू (बकरी काटना) कहते हैं। मिल जाने पर लड़के को भी दण्ड दिया जाता है। पीछे कन्या-शुल्क (पोन) देकर विधिवत् विवाह के सारे कार्य हो जाते हैं। मध्य प्रान्त में अपहरण सरकार के द्वारा अनियमित ठहरा दिया गया है। इसलिए गोंड़, बैगा आदि जातियों में अपहरण, मारपीट, हल्ला-गुल्ला आदि की विधि किसी न किसी रूप में पूरी की जाती है। बरात जब कन्या द्वार पर जाती है उस समय अनेक जातियों में धक्का-धुक्की और थोड़ी-बहुत मारपीट का अभिनय होता है। कहीं-

---

१. विस्तार के लिए देखें श्री शरतचन्द्र राय कृत Hill Bhuiyas.

कहीं तो गालियाँ भी दी जाती हैं। यह अपहरण तथा संघर्ष विवाह का ही अवशेष है। अपहरण के साथ ही बलात् विवाह का एक रूप दिखाई पड़ता है। बाजार में, जंगल में या कहीं भी लड़का लड़की को अचानक अपने साथियों की सहायता से सिन्दूर दान जैसी विधि कर देता है और भाग खड़ा होता है। संथालों में इसे इतुल कहते हैं। इसमें सिन्दूर या धूल भी लड़की के सिर पर लड़का डाल देता है। इसे खरिया में, सुन्दरम् ताप्पा, बिरहोड़ सिपुदुर बापला, हो ओपार तिपी, मुण्डा सिन्दरी ताप्पा कहते हैं, इनमें सिन्दूर ही प्रधान रूप में देते हैं। पहाड़ी भुइयाँ सिर में चिउड़ या कोई भी लाल फूल खोंसते हैं, इसलिए इसे 'फूल खुसी' कहते हैं। इनमें भी वही मार-पीट, हल्ला-गुल्ला होता है, बकरे, सूअर काटे जाते हैं। पर अन्त में सब कुछ तय हो जाता है। यदि तय नहीं हो सका और इस तरह के विवाह सम्पन्न नहीं हुए, तो लड़की का जो विवाह अन्यत्र होता है उसमें विधवा या परित्यक्ता के समान पुनर्विवाह की विधि होती है, प्रथम विवाह की नहीं।

अपहरण-विवाह की पद्धति आर्यों ने आर्येतरों से ली, शौल्क-विवाह के समान यह आवश्यक नहीं जान पड़ता। अपहरण एक स्वाभाविक तथा स्त्री-अभाव में आवश्यक तत्त्व है, जो संसार में सर्वत्र पाया जाता था। ब्राह्म-विवाह के समान यह भी एक मूल पद्धति थी। अधिक से अधिक इतना ही माना जा सकता है कि पहले विजातियों की ही कन्यायें लूट कर लाई जाती थीं, पीछे स्वजातियों की भी लाई जाने लगीं, परन्तु इतना भी मानना न तो आवश्यक है और न साधार। अपहरण-विवाह सर्वत्र थे और आर्यों में भी थे। सम्भव है लूट लाने के पश्चात् संथाल आदि जनजातियों के समान सामान्य-विवाह की विधियाँ पूरी कर ली जाती थीं या आवश्यकता पड़ने पर कन्या-शुल्क देकर कन्या-पक्ष को भी प्रसन्न कर लिया जाता था। इसलिए उसे भी ब्राह्म और शौल्क के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया। पीछे कौटिल्य के कुछ पहले उससे धर्माचार्यों को अरुचि होने लगी और उसके प्रति अपना विरोध प्रदर्शित करने के लिए अलग अधर्म्य विवाहों की कोटि में

उसे गिना गया। इतना होने पर भी ऐसे विवाहों को राजकीय स्वीकृति से विरत करना असम्भव जैसा ही था। इसलिए कुछ शर्तों के साथ उन्हें वैध माना गया। ये शर्तें दो थीं—प्रथम कन्या के माता-पिता की स्वीकृति, द्वितीय वृत्ति या स्त्री-धन की स्थापना। धर्म्य-विवाहों में स्त्री-धन के लिए विशेष चिन्ता की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया गया, यद्यपि वहाँ भी स्त्री-धन था, किन्तु वह पिता से प्राप्त और सम्बन्धियों से मिला हुआ उपहार मात्र था। अधर्म्य-विवाहों में माता-पिता की पूर्व सम्मति नहीं रहने और नियमानुसार विधि सम्पन्न नहीं होने के कारण इस प्रकार के स्त्री-धन की कोई आशा नहीं की जा सकती थी। इसलिए कौटिल्य ने उसके लिए अलग शर्त रखी है। आशा की जाती है कि ऐसे विवाहों में ये शर्तें स्वतः परिपाटी और प्रथा के अनुसार पूरी कर ली जाती थीं, कौटिल्य ने उसका उल्लेख किया है। आज जनजातियों में माता-पिता की स्वीकृति तो मिल जाती है, किन्तु स्त्री-धन की कोई व्यवस्था नहीं है।

धर्म-शास्त्रों ने भी विवाह के इन आठ भेदों को स्वीकार किया है, किन्तु अधर्म्य के परित्याग और धर्म्य विवाहों की ओर अधिकाधिक झुकने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई। मोक्ष या त्याग, विधवा-विवाह और नियोग की परिपाटियों में भी इसी प्रकार का परिवर्त्तन होता गया। कौटिल्य ने अनबन होने पर स्त्री-पुरुष सम्बन्ध-विच्छेद की स्वीकृति दी है, और उसके लिए पूरी व्यवस्था है। किन्तु मनु-स्मृति ने स्त्री को वह अधिकार नहीं दिया और न पुरुष को ही। स्त्री की आज्ञा से अधिवेदन (दूसरा विवाह) करने की आज्ञा दी। कन्या के लिए शुल्क लेना भी उसने पाप करार दिया। विधवा-विवाह को घृणा की दृष्टि से देखने का आरम्भ मनुस्मृति में ही है। यद्यपि 'पूनर्भू' स्त्रियों की चर्चा याज्ञवल्क्य ने भी की है। नियोग की भी यही स्थिति है। मनुस्मृति नियोग को बुरा मानते हुए भी विशेष परिस्थितियों में सधवाओं को और विधवाओं को भी केवल एक या दो सन्तान के लिए देवर या सपिण्ड से नियोग का आदेश देती है। याज्ञवल्क्य ने

भी इसके लिए आदेश दिया है। किन्तु इसके पश्चात् नियोग अनियमित करार दे दिया गया।

कई विद्वानों ने इन आठ वैवाहिक प्रणालियों में भी विकास का क्रम निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार पैशाच, राक्षस, गान्धर्व, आसुर, प्रजापत्य, आर्ष या शौल्क, दैव और ब्राह्म क्रमशः ऐतिहासिक विकास के सोपान हैं। इस क्रम का अर्थ क्या है? यदि कोई समझे कि भारत में एक के बाद दूसरी प्रणाली का विकास हुआ तो यह भ्रम है। एक ही साथ इनमें से कई रूप मान्य रहे, इसे इतिहास के विद्यार्थी को स्वीकार करना ही पड़ेगा। वरन् मुझे तो ऐसा लगता है कि आर्यों में पहले ब्राह्म-विवाह ही प्रधान रूप में स्वीकृत था। इनमें अन्य पीछे सम्पर्क के फलस्वरूप आये हैं। आज की भावना के अनुसार इनमें उत्तरोत्तर उत्कृष्टता का आरोप हम कर सकते हैं।

सारांश यह है कि भारतीय विवाह के आरम्भ का कोई संकेत नहीं मिलता, वैदिककाल में ही पितृसत्तात्मक स्थिर विवाहों की परिपाटी पुष्ट हो चुकी थी, वृद्धावस्था तक गृह में शासन करने की कामना नव वधू के लिए की जाती थी[1]। किन्तु स्थिर विवाहों की प्रथा का यह अर्थ नहीं था कि आज के संस्कार से भिन्न प्रणालियाँ नहीं थीं। कुछ तो स्वयं अपनी परम्परा से और कुछ आर्येतरों के सम्पर्क से हमें खटकने वाले विवाह होते थे और समाज में स्वीकृत भी थे। द्रोपदी जैसी पाँच भाइयों की पत्नी को आज समाज सहन नहीं कर सकता और मन्दोदरी, तारा जैसी पुनर्भू एवं अहिल्या तथा कुन्ती जैसी अनियमित सम्बन्ध वाली नारियाँ आदरणीय नहीं मानी जा सकतीं। आदर्श तथा नैतिकता-अनैतिकता सम्बन्धी धारणाओं में अन्तर पड़ा है और उनमें विकास हुआ है; किन्तु इस परिवार के विकास का कोई भी सोपान नहीं निर्धारित किया जा सकता।

---

१. देखें १०।८५।२७।

तीसरा प्रकरण

हमारी वैवाहिक समस्यायें

हिन्दू विवाह की समस्यायें जितनी आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक हैं, उससे अधिक सामाजिक हैं। हमारा समाज, संसार के अन्य समाजों की अपेक्षा बहुत अधिक प्राचीनता के रंग में रँगा हुआ है। समय और युग के थपेड़े इन्हें तोड़ने का प्रयत्न करते हैं, तोड़ते भी हैं, परन्तु ये इतनी कंकरीली मिट्टी से बने हुए हैं कि आज भी पूरे नहीं टूट पाते। ये समस्यायें सामान्यतया निम्न हैं :—

१. निषेध

हिन्दुओं में अपने गोत्र तथा प्रवर में विवाह नहीं हो सकते। इतना ही नहीं सपिण्ड-विवाह भी निषिद्ध हैं। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने प्रवरों तथा गोत्रों के अध्ययन से यह निश्चित किया है कि "किसी कुल के प्रवर ऋषि वे पूर्वज हैं जिन्होंने ऋग्वेद के सूक्त रचे। यजमान उन्हीं के नाम पर अग्नि की प्रार्थना करता है[1]। प्रवर ऋषि तीन, चार या पाँच होते हैं। गोत्र एक ऋषि के नाम पर होता है।" दोनों पूर्वजों का बोध कराते हैं। महाभारत शान्ति पर्व के अनुसार मूल गोत्र चार ही थे—अङ्गिरा, कश्यप, वशिष्ठ तथा भृगु। अन्य गोत्र इन्हीं से निकले। प्रवर भी प्रायः इन्ही के वंशज हैं। गोत्र इनमें से ही किसी एक या इनके किसी वंशज के नाम पर चले—चाहे वह ऋषि हों या न हों। एक ही पूर्वज के वंशजों में विवाह सम्बन्ध निषिद्ध होने पर दोनों का निषेध आवश्यक होता जाता है।

---

१. विस्तार के लिये देखें 'हिन्दू भारत का उत्कर्ष' तीसरी पुस्तक, पाँचवाँ प्रकरण।

विद्वानों का कहना है कि वेदों में इस अर्थ में गोत्र शब्द का प्रयोग नहीं होता था। वहाँ गोत्र का अर्थ है गायों का बाड़ा। इस अर्थ में इस शब्द का प्रथम प्रयोग छान्दोग्य उपनिषद् में आया है, जब कि सत्यकाम जाबालि से गुरु गौतम ने उसका गोत्र पूछा हैं। परन्तु बौद्ध तथा जैन साहित्य में वर्तमान अर्थ में गोत्र-भावना का पूरा विकास-सा दिखाई पड़ता है। वेदों में गोत्र तो नहीं; परन्तु कुल की भावना बड़ी दृढ़ है। भरताः भृगवः आदि के नाम पर बराबर गर्व किया गया है। खैर, जो हो, यम-यमी संवाद[1] इतना तो स्पष्ट करता है कि निकट सम्बन्धियों के वैवाहिक सम्बन्ध घृणा की दृष्टि से देखे जाने लगे थे। परन्तु वर्त्तमान वैवाहिक निषेध उस समय प्रचलित नहीं थे, यह भी साफ हो जाता है। शतपथ ब्राह्मण में तीसरी-चौथी पीढ़ी में भाई-बहन के विवाह का उल्लेख मिलता है[2]। प्रवर-विवाह का निषेध, शायद प्रथम बार गृह्य-सूत्र में है; परन्तु सगोत्र विवाह का नहीं।

सपिण्ड का अर्थ होता है उन पूर्वजों की सन्तानें जिन्हें समान रूप से पिण्डदान का अधिकार है। मिताक्षरा के अनुसार इसके अन्तर्गत मातृपक्ष की पाँच तथा पितृपक्षकी सात पीढ़ियाँ आ जाती हैं। दक्षिण में जिस तरह मामा की लड़की से विवाह करना उत्कृष्ट माना जाता है उस तरह की थोड़ी-बहुत भावना शायद वैदिककाल में थी[3]।

सपिण्ड सगोत्र-विवाह का निषेध पहली बार धर्म-सूत्रों में मिलता है। वाशिष्ट में सगोत्र-विवाह विवर्जित हैं; परन्तु श्री राजबली पाण्डेय जी का कहना है कि गोत्र की सीमा वहाँ छोटी है। सपिण्ड की जो परिभाषा ऊपर दी गयी है वहीं तक, अर्थात् सातवीं पीढ़ी तक ही सगोत्रता मानी जाती थी। कुछ ऐसा लगता है कि जब सम्पूर्ण सगोत्र विवर्जित में आ जाता

---

१. ऋग्वेद १०।१०

२. इदं हि चतुर्थे पुरुषे तृतीये संगच्छामहे।

३. तृप्तां जदुमातुलस्येव पोषा भागस्ते पैतृष्वसेयी वपामिव। देखें श्री राजबली पाण्डेय कृत Hindu Sanskaras पृ० ३००

है तो सपिण्ड में पिता की सातवीं पीढ़ी का क्या उपयोग हो सकता है? शायद प्रथम-प्रथम वही निषेध की रेखा थी। आपस्तम्ब ने इस गोत्र का पूरा विस्तार कर दिया है। परन्तु पूरा पालन स्मृतियों में ही मिलता है[1]।

इन विद्वानों के कथनों के समर्थन में महाभारत तथा पुराणों की अनेक घटनाएँ रखी जा सकती हैं, जिनमें इन निषेधों के पालन की थोड़ी भी चिन्ता नहीं है। फिर ये निषेध कैसे और क्यों आये? श्री राजबलीजी पाण्डेय का अनुमान है कि ईसा की पहली शताब्दी में उनका आगमन हुआ तथा श्री अल्तेकर साहब कहते हैं कि ई० पू० ६०० के पहले हम इसे नहीं पाते। इससे यह अनुमान होता है कि इन चार पाँच सौ वर्षों के भीतर ही यह परिपाटि पुष्ट हुई। इतिहास के जानने वालों को ज्ञात है कि यह काम भारतीय जीवनमें विराट उथल-पुथल का काम है, इसीलिये कई महान् धर्मों के अविर्भाव का भी श्रेय इसे है। इस युग में एक ओर विभिन्न जातियों का सम्पर्क अधिक गाढ़ा हुआ, दूसरी ओर विदेशियों से भी संघर्ष; तत्पश्चात् सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा समिश्रण की गति बड़ी तीव्र हो गई। यह निश्चित है कि ऐसे समय पुराने स्थापित नियम ढीले पड़ जाते हैं तथा चारित्रिक शिथिलता का जोर हो जाता है। ऐसी स्थिति में समाज या तो पतन की ओर बढ़ जाता है या प्राचीन नियमों का सूत्र पकड़ कर उन्हें और व्यापक बना अपने बन्धन और कड़े कर लेता है। जीवन-शक्ति रखने वाली जाति का यही लक्षण रहा है और हिन्दू जाति ने भी यही किया।

हमारे सम्पर्क में आनेवाली कई जातियों में सगोत्र-विवाह विवर्जित था, यह उनका पुराना संस्कार था जो लांछन तथा कूरी के द्वारा

---

१. इस विषय में अधिक विस्तार के लिए देखें उक्त का Limitations of the Marriage प्रसंग तथा श्री अल्तेकर का The Position of Women in Hindu Civilization ग्रन्थ।

द्वारा जीवित था[1]। एक ओर स्व की भावना के विकास के कारण दूर के सम्बन्धियों को भी परिवार के भाई-बहनों की तरह समझने की धारणा बढ़ रही थी, दूसरी ओर जन-संख्या की वृद्धि तथा विजातीय जनों के मिश्रण के कारण विवाह के लिए उपलब्ध नारियों की संख्या का अभाव नहीं रह गया था। ऐसी परिस्थिति में चारित्रिक शैथिल्य को रोकने तथा पुराने निषेधों की रक्षा के लिए उन्हें और विस्तृत कर देना अथवा युग की आवश्यकता के अनुरूप स्वतः उनका विकास और विस्तृत हो जाना स्वाभाविक था। गृह्य सूत्रों में प्रवर-विवाह-निषेध से भाई-बहन भावना की सीमा को थोड़ा विस्तृत किया; धर्म सूत्रों ने धीरे-धीरे और व्यापक बना दिया। वस्तुतः यह निषेध भाई-बहन सम्बन्ध की धारणा के विकास का ही फल है जिसका आरम्भिक सूत्र हमें यम-यमी संवाद में मिल जाता है।

२. जातीय विवाह

हिन्दू जाति के असपिण्ड तथा असगोत्र के साथ ही जातीय विवाह का कठोर नियम है। वैदिककाल में इसकी परिपाटी विकसित नहीं हुई थी। उस समय विवाहों के लिए प्रायः समनोत्सव हुआ करते थे। शक्ति और कला के प्रदर्शन के उपरान्त विवाह होते थे। इस प्रकार के समनों में जाति-पाँति का विचार सम्भव नहीं था। ब्राह्मणों से राजपुत्रियों के विवाहों के उल्लेख ऋग्वेद से लेकर महाभारत, रामायण तथा पुराणों में सहस्रों बार हुए हैं। ब्राह्मण कन्या से क्षत्रिय या वैश्य के विवाहों की चर्चा बहुत ही कम है। ऋग्वेद १।१२६ में लोमशा तथा स्वनय के मिलन की चर्चा है। कुछ विद्वानों का कहना है कि लोमशा ब्राह्मण कन्या थी; परन्तु निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। अथर्ववेद में ब्राह्मण सर्वोत्तम पति बतलाया गया है; परन्तु ऐसा उल्लेख है कि कुछ ब्राह्मण कन्याएँ अन्य वर्णों के पुरुषों के साथ

---

१. इस विषय का स्पष्टीकरण बाह्य-विवाह के प्रसंग में किया जा चुका है

चली जाती थीं जिनका उद्धार राजाओं की सहायता से करना पड़ता था[1]। यजुर्वेद में अयोगु शब्द आया है। स्मृतियों में अयोगव का अर्थ है शूद्र पिता द्वारा वैश्य-कन्या से उत्पन्न संतान। महाभारत में ऐसी संतान को तक्षक या बढ़ई कहा गया है। मुझे स्मृतियों के ऐसे विवरण पूर्ण वैज्ञानिक नहीं जान पड़ते और ऐसा जान पड़ता है कि वे अटकलपच्चू हैं। तो भी इन विवरणों से ऐसा अनुमान करना स्वाभाविक जान पड़ता है कि उच्च वर्ण की कन्या से निम्न वर्ण के पुरुष के विवाह आरम्भिक काल से ही बुरे समझे जाते थे। अथर्ववेद से पत्नि के प्रेमी दास के विपरित यंत्रमंत्र का उल्लेख है; परन्तु अवैध सम्बन्ध की बात है वहाँ वैध विवाह नहीं है। परन्तु न जाने कैसे अश्वालायन गृह्यसूत्र में परिवार के दास को स्वामी की विधवा से विवाह करने का नियमित रूप में बहनोई के समान अधिकार दिया गया है[2]। जो कुछ अनुमान यजुर्वेद तथा अथर्ववेद से लगाया जाता है उससे यह नितान्त विपरीत पड़ता है। सम्भव है अश्वालायन पतित विधवा की चर्चा करते हों।

विद्वानों का अनुमान है कि ऋग्वेदकाल में ब्राह्मण तथा राजन्य का भेद इतना स्पष्ट तथा गहरा नहीं था[3]। राजन्य के पुत्र भी ब्राह्मण हो सकते थे तथा ब्राह्मण भी राजन्य होते थे। गर्ग इसी तरह ब्राह्मण बने थे तथा भरद्वाज राजा भरत द्वारा गोद लिए गये थे। इसीलिए ब्राह्मण कन्या राजन्य की पत्नी भी बन सकती थी। यजुर्वेदकाल में यह अन्तर चौड़ा हो गया था; इसलिए इस परिपाटी का विनाश कर दिया गया।

प्रतिलोम-विवाहों के विपरीत अनुलोम-विवाह चलते थे, परन्तु उनमें भी प्रतिबन्ध लगने लगे थे। यजुर्वेद के समय शूद्र कन्या से विवाह करने वाले आर्य का व्यंग्य उड़ाया जाता था। परन्तु ऐसे विवाह खूब प्रचलित थे तथा किसी न किसी रूप में दसवीं सदी तक चलते रहे। सूत्रों में स्वजातीय विवाह की ही प्रशंसा की गई है। वसिष्ठ धर्मसूत्र

१. देखें Hindu Sanskaras पृ० ३०४
२. वही पृ० ३०९।
३. देखें श्री चि० वि० वैद्य का 'हिन्दूभारत का उत्कर्ष'।

में लिखा है कि शूद्रा या दासी भोगार्थ हो सकती है, धर्मार्थ नहीं। अन्य सूत्रों में दासपत्नी को उपादेय नहीं माना है। पराशर ने ब्राह्मण को तीन, राजन्य को दो तथा वैश्य को एक पत्नी रखने का आदेश दिया है। परन्तु धीरे-धीरे यह परिपाटी लुप्त होने लगती है। स्मृति-ग्रन्थों में अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न सन्तानों को पिता से भिन्न जाति में रखा गया है, इससे स्पष्ट है कि उस समय यह परिपाटी अपना पुराना महत्त्व खो चुकी थी और हीन दृष्टि से देखी जाने लगी थी।

बात यह है कि आरम्भिक स्थिति में स्त्रियों के अभाव में और लूट के रूप में आर्येतरों की स्त्रियाँ स्वीकार की गयीं; दक्षिणा के रूप में दासियों को भी दिया जाता था। ऋग्वेद में इसके अनेकों विवरण हैं। तृतीय मण्डल में विश्वामित्र को सुदास द्वारा तथा पहले में कक्षीवान् को रथों पर भर कर दासियाँ भी मिली थीं। कक्षीवान् इन्हें दासी नहीं कह कर वधू कहते हैं। स्वनय द्वारा भूरे रंग के अश्ववाले दस रथ वधुओं से भरे हुए आये थे, १०६० गायें भी थीं, ऋषि ने ग्रहण करके पिता को दे दिया।

ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि दासी-पुत्र उत्कृष्ट तथा उच्च स्थानों पर भी पहुँचने लगे थे—उनके साथ कोई भेद-भाव नहीं था। यह क्रम काफी दिनों तक चला। यजुर्वेद के काल में इसे बुरी दृष्टि से देखा जाने लगा। इसके कई कारणों का अनुमान किया जा सकता है।

प्राचीन अनेक जातियों में कन्या देना एक सामान्य बात नहीं थी। इसका अर्थ था सामाजिक स्तर की स्वीकृति। कन्या देनेवाला मानों यह स्वीकार करता था कि जामाता का पद उससे बड़ा है। पुरातन-काल में स्त्रियों के लिए जो युद्ध होते थे उनके पीछे केवल काम ही नहीं था; उसके लिए दूसरे रास्ते भी मिल सकते थे। वासना पूर्ति से अधिक शक्तिशाली तत्त्व था अपने महत्त्व, वीरता की धाक जमाना, परन्तु इससे भी बड़ी भावना थी सामाजिक स्वीकृति और अपने पद को मंजूर करा लेने की धारणा। लोक-गीतों में लोरिकायन और आल्हा में

सारे युद्ध नारी के लिए ही हुए हैं। क्यों? आभीर इस देश में नये आये थे। अपनी वीरता के बल पर वे यहाँ के निवासियों से विवाहों के द्वारा अपने बड़प्पन की स्वीकृति करा लेने के लिए उतावले हो रहे थे। आल्हा के भी आदि पूर्वज बनस्फर हूण, कुशनों के सेनापति थे। क्षत्रियों में अपना स्थान स्थिर करा लेने के लिए वे लड़ते थे; केवल विवाह के लिए ही नहीं।

खैर आर्य भी इस भावना से परे नहीं थे। इसीलिए पणियों तथा दूसरे सभ्य आर्येतरों की कन्यायें दासी या पत्नी रूप में स्वीकार करने में वे अपना गौरव समझते थे। ऋग्वेदकाल तक यही स्थिति रही। किन्तु उसके बाद आर्येतरों का एक उच्च वर्ग या तो आर्यों में सम्मिलित हो गया या नितान्त पतित समझा जाने लगा। जो सम्मिलित हो गये वे तो अपने ही अंग बन गये और अधिकांश विश या वैश्यों की पंक्ति में आ गये। शूद्र तो वही रहे जो हीन समझे जाते थे; उनकी कन्यायें तो कोई अभाव में ही स्वीकार कर सकता था। इसीलिए यजुर्वेद में उनकी हँसी उड़ाई गई है। अनुलोम-विवाह में ब्राह्मण तीन वर्णों की, राजन्य दो वर्णों की तथा वैश्य एक अपने ही वर्ण की कन्या ले सकता था। पराशर का यही आदेश है। वशिष्ठ इसीलिए शूद्र-कन्या को धर्मार्थ नहीं मानते। इसी समय संघर्ष समाप्त हो जाने के कारण जाति-व्यवस्था भी स्थिर हो गई। आर्यों के जिस स्तर में आर्येतरों को सम्मिलित होना था वे समा चुके, जिन्हें अलग रहना था वे अलग हो गये। इसलिए भी विवाह के नियम, भाव तथा वृत्ति-साम्य एवं सामाजिक स्तर की दृष्टि से निर्धारित कर दिये गये। स्मृतिकाल में अनुलोम-विवाह स्वीकृत तो थे, परन्तु धीरे-धीरे उनपर भी पुरानी श्रद्धा उठने लगी। ई० पू० ९०० से १००० के बीच जिन कारणों से निषेध कड़े हो गये, उन्हीं कारणों से जातीय विवाह भी अधिक उपयुक्त हो गये, तो भी मिटे नहीं। मुसलमानों के आक्रमण जब जोर पकड़ने लगे तो हिन्दू-जाति को अधिक आवश्यकता पड़ी कि अपनापन बचाने के लिए अपने बन्धन और कड़े तथा नियम संकुचित बना ले। फलतः स्मृतियों

की छूट भी समाप्त हो गई और जातीय विवाह पूर्ण प्रतिष्ठित हो गये।

धर्मशास्त्रों तथा स्मृतियों की दी हुई व्यवस्था ही सम्पूर्ण हिन्दू-जाति के जीवन पर लागू थी। मुझे तो इसमें संदेह जान पड़ता है। हम देखते हैं कि हमारे सम्पूर्ण सामाजिक-जीवन का नियमन जातीय नियमों तथा परम्पराओं से होता है, परन्तु धर्मशास्त्रों तथा स्मृतियों का आधार वर्ण है न कि जाति। यह विश्वास नहीं होता कि आज का सारा सामाजिक आधार मुस्लिम आक्रमण के समय ही निर्मित हुआ; स्मृतियों के काल में नहीं था। सामाजिक परम्पराओं के अन्वेषण तथा ऐतिहासिक विकास की छान-बीन से उल्टा ही फल निकलता है। आज जो जातीय या उपजातीय-विवाह के आधार हैं, उनका उत्तर स्मृतियाँ दे सकती हैं? नहीं। ब्राह्मणवर्ण के भीतर भी कई स्थानीय तथा उपजातीय भेद हैं, नागर, सारस्वत, मैथिल तथा कान्यकुब्ज आदि। ये कोरे स्थानीय नहीं हैं, संस्कृति, संस्कार आदि के विभेद पर भी आधारित है। शाक्यद्वीपी, बंगाली वैद्य आदि का अन्तर जातीय या उपजातीय हैं; स्थानीय नहीं। भूमिहार तो एक स्वतंत्र जाति है ही। क्षत्रियों में ऐसे भेद अपेक्षाकृत कम हैं, परन्तु ऊँच-नीच के आधार पर कई अन्तर तो हैं ही। बिहार में बनौत एक उपजाति ही बन गयी है। वैश्य और शूद्र तो कोई जाति नहीं, अनेक जातियों के समुदाय हैं। मूलतः वैश्य शब्द निकला भी है विश से, जिसका वेदों में अर्थ है सामान्य जनसमाज या प्रजामात्र। ब्राह्मणों तथा राजन्यों का विशिष्ट वर्ग बन जाने पर जो शेष आर्य तथा इनमें सम्मिलित और घुले-मिले आर्येतरों के वंशज रह गये वे वैश्य कहलाये। शूद्र शब्द थोड़े निम्न-स्तर के लोगों के लिए प्रयुक्त होने लगा।

कई विद्वानों का मत है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार उतना ठोस नहीं है, जितना धर्म ग्रन्थों ने बताया है। हिन्दूसमाज वर्णों में नहीं जातियों और उपजातियों में ही बँटा हुआ था। बहुत-सी ऐसी जातियाँ थीं जिनका कोई वर्ण निश्चित नहीं था। मुझे तो यही मत सोलहो आने सही जान पड़ता है; क्योंकि समाज के जातीयरूप पर और जातीय

पहलू के समाजशास्त्र पर विचार करते समय कई ऐसे प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं, जिनके उत्तर वर्णों की पूर्णता स्वीकार कर लेने पर मिल ही नहीं पाते। वास्तव में वर्ण गत्यात्मक सामाजिक स्तर के निर्देशक-मात्र थे। जिस जाति की गणना जितने ही ऊँचे वर्ण में की जाती थी उसका समाज में उतना ही ऊँचा स्थान हो जाता था। जातियाँ अपना समाज और अपने परम्परागत नियम लिये हुए साधन, कार्य और शक्ति के अनुसार वर्णों में ऊपर-नीचे खिसकती रहती थीं।

सामाजिक-स्तर में स्थान निर्धारित करने के लिए वर्ण आवश्यक थे, किन्तु जाति के दैनिक जीवन के लिए उस तरह अनिवार्य नहीं थे। साधारण जनता का सामाजिक जीवन जातीय नियमों से परिचालित होता रहता था। राज्य भी इन्हें ही मान्यता देते थे और इनके ही द्वारा जन-समाज तक पहुँचते थे। जब अर्थशास्त्रों, धर्मशास्त्रों तथा स्मृतियों की परम्परा चली तो अर्थ-शास्त्रों ने उन सारी जातीय प्रणालियों को—जिनमें तत्कालीन राजसत्ता को कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी, कानून का रूप दे देने और व्यवहार की सीमा में लाने का प्रयत्न किया। धर्मशास्त्र उतनी दूर नहीं जा सकते थे। उनके सामने प्रधान-रूप में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के ही व्यवहार थे। तो भी विभिन्न जातीय व्यवस्थाओं और पद्धतियों की नितान्त उपेक्षा कर देना सम्भव नहीं था। इसलिए उन्होंने इन्हें काट-छाँट कर ऐसे रूप में रखने की कोशिश की जिसमें सवर्णों को आपत्ति नहीं हो सके। अर्थशास्त्रों तथा धर्म-शास्त्रों के विधानों में अन्तर है, उसके मूल मे ये ही तत्त्व काम कर रहे थे। इसी के चलते कौटिल्य ने मोक्ष (तलाक) की स्पष्ट व्यवस्था दी, परन्तु धर्मशास्त्र सदा हिचकते रहे। इतना होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि सभी प्रणालियों को कानून या व्यवहार के साँचे में ढालने में अर्थशास्त्र सफल ही रहे। यह सदा भय बना रहता था कि कहीं किसी अनिर्दिष्ट प्रणाली की स्वीकृति देने में कठिनाई नहीं हो जाय, इसलिए ये लोकाचार तथा जन-रीतियों को भी स्वीकृति दे दिया करते थे। कौटिल्य ने पुत्र-विभाग

के अन्त में घोषणा कर दी है कि "देश का, जाति का, संघ का या ग्राम का जो धर्म हो उसका उसी के अनुसार दाय-धर्म सिद्ध करे।" यदि वर्ण ही रहता तो जातिधर्म की व्यवस्था क्यों होती? जो स्थिति दाय-धर्म की थी, वही प्रायः अन्य धर्मों की भी थी। इससे स्पष्ट है कि जाति के सामाजिक-जीवन का नियमन अर्थशास्त्र या धर्मशास्त्र द्वारा नहीं, जातीय परम्परा तथा रीतियों द्वारा ही होता था। इस लिए हम कह सकते हैं कि वर्णों को मूल मान कर उनके आधार पर दी हुई व्यवस्थायें धर्मशास्त्रों में पड़ी रहती थीं या अधिक-से-अधिक ब्राह्मण, क्षत्रियों के काम आती थीं, शेष समाज केवल उनपर ही निर्भर नहीं था।

हमारी अनेक जातियाँ विभिन्न आधारों और स्रोतों से निकल कर, अपने नियम, अपनी परम्परा और संस्कार लिये हुए हिन्दुओं के जातीय महासमुद्र में मिली थीं। उनकी अपनी संस्कृति ज्यों-की-त्यों बनी रही और बची रही, यह नहीं कहा जा सकता। समय, सम्पर्क तथा नवीन जीवन की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन, परिवर्द्धन होते रहे; वे अपने पुरानेरूप से काफी दूर चली गईं, हट गईं, परन्तु उसकी थोड़ी-बहुत बू भी अनेकता की स्वीकृति के कारण बचाये रही। विवाहों का जातीय तथा उपजातीय रूप बहुत कुछ उसकी ही देन है। स्वजाति की भावना जातीय पंचायतों द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक जीवन पर नियंत्रण आदि तत्त्वों ने मिल कर उस प्राचीनरूप को और दृढ़ ही किया।

जाति के साथ व्यवसाय, शिल्प सम्बद्ध हो जाने से जातीय-विवाह के रूपों में और भी स्थिरता तथा दृढ़ता आई। यह जाति के इस रूप के कारण भी इतने दिनों तक जीवित रहा। श्रम-विभाग का यह प्राचीनरूप सर्वत्र था; परन्तु हमारी विशिष्ट स्थिति तथा संस्कृति के बल पर हमारे यहाँ सामाजिक संघटन का दीर्घजीवी मूलाधार ही बन गया। हिन्दू धर्मग्रंथों के साथ ही बौद्धों तथा जैनों के यहाँ भी शिल्प का सम्बन्ध जाति से दिखाई पड़ता है। इतना ही नहीं उनमें

उच्चता तथा हीनता की भावना का भी आरोप मिलता है। हीन तथा उच्च शिल्प के उल्लेख कई स्थलों पर मिलते हैं। प्राचीन परम्परा तथा रीति-नीति के साथ ही शिल्प, व्यवसाय तथा जीवन-वृत्ति भी कुछ-न-कुछ अंशों में चारित्रिक विशिष्टता का निर्माण करती है[१]। इसलिए व्यवसाय-साम्य चरित्र तथा संस्कृति में भी समता उत्पन्न करता है। जातीय-विवाहों के कारण सामान्यतया समान-संस्कृति तथा वृत्ति के स्त्री-पुरुष दम्पत्ति बनते थे। इसके साथ ही पितृ-गृह तथा पति-गृह में एक ही व्यवसाय, एक ही शिल्प तथा एक ही कार्य करने पड़ते थे; इससे स्त्री पति की अधिक सहायिका हो सकती थी और होती ही थी। आज भी जिन जातियों में अपना विशिष्ट कार्य जीवित है; उनमें स्त्रियाँ बहुत अधिक सहायक होती हैं; क्योंकि उन्हें कुछ नया काम सीखना नहीं पड़ता। जातीय-वृत्ति की व्यवस्था का एक बहुत बड़ा भार भी जातीय पंचायतों के ही जिम्में था। आन्तरिक कलह तथा अन्य जातियों से आर्थिक, सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था ये पंचायतें ही करती थीं; इसलिए भी सारा जीवन और साथ ही विवाहादि सम्बन्ध भी जाति के द्वारा ही संचालित होते थे।

श्रम-विभाग की दृष्टि से ब्राह्मण और क्षत्रिय विचित्र स्थिति में थे। जिस तरह सामान्य शिल्प की योग्यता माता-पिता के द्वारा ही आसानी से मिल सकती है, उसी तरह विद्या सब को नहीं मिल सकती। साथ ही इतनी बढ़ी हुई आबादी का जीवन-निर्वाह केवल धर्म तथा विद्या द्वारा ही सम्भव नहीं था। ब्राह्मणों में भी शाक्य द्वीपी ब्राह्मणों के समान कुछ के निश्चित व्यवसाय थे और आज भी हैं; किन्तु अधिकांश इससे परे ही थे। ऐसा लगता है कि आर्थिक दृष्टि से उनकी दुरवस्था ब्राह्मण काल में ही आरम्भ हो गई थी; इसी से ब्राह्मणों को आदायी (दान लेने वाले), आपायी (सोम पीने वाले) आवसायी (भोजन की खोज में रहने वाले) तथा यथा काम प्राप्य (जब खोजिये मिल जानेवाले)

१. स्पष्टीकरण के लिए देखें मेरी "समाज की भूमिका" पुस्तक का सांस्कृतिक आदर्श प्रसंग।

कहा गया है। पुराणों तथा जातकों की कथाओं में भी अनेक स्थलों पर ऐसी चर्चा है। फलतः उनकी न तो कोई पंचायत थी न कोई निश्चित शिल्प था। विद्वान तथा विद्याहीन के सामाजिक स्तर में बहुत अन्तर आ गया था। इससे वे अन्य वर्णों की कन्याओं से विवाह करके भी काम चला लेते थे। स्त्री-शिक्षा के अभाव ने इस स्थिति की और भी पुष्टि की। दूसरी जाति वाले उच्चता के कारण ब्राह्मण को अपनी लड़की देना उत्कृष्ट मानते थे। थोड़ी-बहुत क्षत्रियों की भी यही स्थिति थी। यही कारण है कि अनुलोम-विवाह ब्राह्मण क्षत्रियों में चलते रहे तथा बहुत दिनों तक धर्मशास्त्र एवं स्मृतियों में यह व्यवस्था जीवित रही। तो भी स्मृतियों के रंग-ढंग से ऐसा जान पड़ता है कि ऐसे विवाह आर्यों में भी, जाति की व्यवस्था स्थिर हो जाने के बाद, काफी कम पड़ गये; क्योंकि इनमें कई कठिनाइयाँ थीं। जो कुछ भी थोड़ा-बहुत जीवित थे, विदेशी आक्रमणों के जोर पकड़ने पर समाप्त हो गये। मध्य एशिया में स्त्रियों की संख्या कम थी, इससे ये आक्रमणकारी नारी-लोलुप थे। फलतः चारित्रिक संजीदगी ने पर्दा-प्रथा को जन्म दिया और विवाहों की सीमा को और भी संकुचित कर दिया। परन्तु ठोस सामाजिक आधार होने के कारण जातीय-विवाह बने रहे; वरन् ब्राह्मण, क्षत्रिय भी अपनी सुविधायें छोड़, विस्तृत सीमा संकुचित कर जातीय-विवाह पर ही आकर रुक गये।

(३) बाल विवाह

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में जहाँ कहीं विवाह, प्रेम आदि का उल्लेख है वहाँ इसका स्पष्ट संकेत है कि विवाह के समय वर-वधू दोनों की आयु पूरी हो गयी थी तथा वे पति-पत्नि के रूप में जीवन व्यतीत करने योग्य हो गये थे। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद दोनों वधू को घर की साम्राज्ञी बनने का आदेश तथा शीघ्र सन्तानोत्पादन का आशीर्वाद देते हैं। ऋग्वेद कहता है:—

"सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्वाँ भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु।१०।८५।४५।

यही बात अथर्ववेद में भी है (९।१।१४)। = ऋक् १०।८५।२१ तथा २२ मन्त्रों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि विवाह योग्य पूर्ण-वयस्का कन्याओं के साथ विश्वावसु देव का तबतक निवास माना जाता था जबतक उसका विवाह नहीं हो जाय। समनों में प्रेम का आविर्भाव हो जाता था तथा विवाह के पूर्व ही कन्यायें पति की कामना करने लगती थीं। सूर्या के विवाह का थोड़ा विस्तृत वर्णन है। सूर्या मन-ही-मन पति की कामना करने लगी थी[1]। इस तरह के अनेकों प्रमाण दिये जा सकते हैं, परन्तु बाल-विवाह के लिए कोई भी निर्भ्रान्त प्रमाण वैदिक साहित्य में नहीं मिल सकता।

गृह्यसूत्रों में भी वयस्क-विवाह के ही आदेश हैं। पारस्कर ने विवाह के बाद एक वर्ष, १२ रात, ६ रात या कम-से-कम ३ रात संयम का आदेश दिया है। अन्तिम की आवश्यकता क्यों पड़ी? पूर्ण युवती होने से ही तो! बोधायन ने भी विवाह के समय मासिक धर्म की चर्चा चलाई है और तत्सम्बन्धी विधान दिये हैं। केवल मानव गृह्य-सूत्र में नग्ना वधू सर्वोत्तम मानी गई है। यद्यपि महाभारत में एक स्थान पर १६ वर्ष की कन्या को नग्निका माना गया है[2]।

रामायण, महाभारत में प्रधानतया वयस्का वधूओं की ही चर्चा है। रामायण में वधुएँ आते ही पतियों के साथ मुदित होकर रहने लगती हैं—(मुदिताः सर्व भर्तृभिः सहिताः रहः)। सीता अनुसूया से धनुष यज्ञ की चर्चा चलाती हुई कहती हैं—"पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता। चिन्तामभ्यगमद्दीनो वित्तनाश दिवा धनः।" निश्चित है सीता विवाह के पूर्व पूर्ण युवती हो गई थीं। इसी तरह गान्धर्व विवाह कर लेने के बाद कण्व शकुन्तला से कहते हैं :—

---

१. ऋग्वेद १०।८५।९।

२. त्रिंशद्वर्षः षोड़शवर्षां भार्यां विन्येत नग्निकाम्।

"ऋतवो वहवस्ते वै गता व्यर्था शुचिस्मिते।
सार्थकं साम्प्रतं ह्येतन्नच पाप्माऽस्तितेऽनघे॥"

इतना होने पर भी वन काण्ड में सीता से कहलवाया गया है कि हरण काल में उसकी आयु १८ थी तथा राम की २५। १२ वर्षों तक वे अयोध्या में रहे थे। इससे तो सीता की उम्र विवाह काल में ६ वर्ष ठहरती है; परन्तु ऊपर "पति संयोग सुलभंवयो" में इसका मेल कैसे बैठाया जा सकता है? यह पीछे का प्रक्षिप्त-सा जान पड़ता है।

स्मृतियों में परस्पर-विरोधी उल्लेख हैं। चाहे जो हो यह मानना पड़ेगा कि इस काल में चौथी शताब्दी पूर्व से ही छोटी आयु में विवाह होने लगे थे। मेगास्थनीज ने भी छोटी उम्र के विवाहों के उल्लेख किये हैं। तो भी श्री अल्तेकर साहब का यह अनुमान है कि मौर्यकाल में विवाह की अवस्था १४-१५ वर्ष ही थी। परन्तु उसके बाद पहली शताब्दी तक इस सम्बन्ध में परस्पर-विरोधी मत रहे। स्मृतियाँ उन्हें ही हमारे सामने रखती हैं, परन्तु इसके बाद अल्पवय का ही प्राधान्य रहा। सामान्यतया कन्याओं के पाँच भेद माने गये, (१) नग्निका ८ वर्ष से कम उम्र की, (२) गौरी—८ वर्षों की, (३) रोहिणी—९ वर्षों की, (४) कन्या—१० वर्षों की, (५) उसके बाद रजस्वला। इसके पूर्व ही विवाह कर देना, अनिवार्य बना दिया गया। नहीं करनेवाला पिता रक्त-पीता है यह घोषणा कर दी गई[1]। इस छोटी आयु के विवाह की इतनी प्रधानता स्थापित हुई कि महाभारत में एक प्रक्षिप्त अंश घुसेड़ दिया गया जिसके अनुसार जन्म लेते ही विवाह कर देने का आदेश दिया गया[2]। ब्रह्म पुराण ने खेलने के समय ही शादी कर देने का विधान दिया। गुप्तकाल में हम पुनः जागरण पाते हैं; और देखते हैं कि पुनः वयस्क-विवाह प्रचलित हो गये तथा मुसलमानों के आक्रमण-काल तक चलते रहे[3]।

१. मासि-मासि रजस्तस्याः पिता पिवति शोणितम्।
२. जातमात्रा तुदातव्या कन्यका सहशेवरे।
३. विस्तार के लिए देखें Hindu Sanskaras और The Position of women in Hindu Civilization के एतद्विषयक प्रसंग।

इसके परिवर्तन के कारण क्या हैं? प्रधान कारण अरक्षा की भावना है। प्रायः चौथी सदी से भारत पर विदेशियों के आक्रमणों का ताँता बँध गया और कई सौ वर्षों तक एक पर एक चलता रहा। यूनानी, ईची, कुशन, शक आदि एक पर एक आते रहे। आपस के मत-भेद से जर्जर भारतवासी इनका सामना जिस तरह चाहिए नहीं कर पाए। इन जातियों में कई ऐसे स्थान से आई थीं, जहाँ स्त्रियों का सामान्यतया अभाव था। साथ ही इनकी संस्कृति में स्त्रियों का स्थान अत्यन्त निम्न था। हजारों वर्षों से मध्य एशिया में आसुर, राक्षस और पैशाच-विवाहों की परिपाटियाँ चलती थीं परन्तु हमारे धर्मशास्त्रों ने इन विवाहों के नामकरण इन्हीं जातियों के नाम पर किये थे। इनमें नारियाँ क्रय-विक्रय की सामग्री समझी जाती थीं। उनका लूटना तथा सोते उठा ले जाना उतना अधर्म नहीं माना जाता था। पुरानी सभी जातियाँ दूसरी जाति से व्यवहार के लिए नियमों का पालन आवश्यक नहीं समझतीं—वह भी विशेषतया नारी सम्बन्धी। हमारे धर्मशास्त्र भी युद्ध के समय पानेवाले को या लूट लेनेवाले को ही कुछ सामान दे देने की व्यवस्था देते हैं; जिनमें नारी भी हैं (मनु० ७।९६)। जब संयम-नियमन को धर्म माननेवाली जाति की यह स्थिति है तो लूटपाट ही में रत रहने वालों की क्या होगी, आसानी से अनुमान किया जा सकता है। इनके अन्याय तथा अत्याचार से अपनी नारी जाति को बचाना आवश्यक हो गया; चाहे जैसे हो, जिस स्थिति में हो तथा जो कुछ संकट झेलना पड़े।

आज हमारे देश में ऐसी जातियाँ हैं जिनकी नारियों का सामूहिक चारित्रिक पतन होता है तथा उनके पुरुष उसपर ध्यान नहीं देते। हिन्दू तथा मुसलमान दोनों में वेश्यावृत्ति से जीवन निर्वाह करने वाली एक जाति ही है। परन्तु इनका यह रूप सनातन नहीं है अस्वस्थ सांस्कृति करण और मिश्रण unhealthy acculturation and assimilation की यह देन है। हमारी अधिकांश जातियाँ नारी-चरित्र को ही जातीय-जीवन की मूल कसौटी मानती हैं और उसपर जितना ध्यान

देती हैं उतना अन्य किसी तत्त्व पर नहीं। इसमें भी एक बड़े समाज में जाति के भीतर के चारित्रिक दोषों का किसी तरह शारीरिक, आर्थिक दण्डों द्वारा प्रायश्चित भी हो सकता है। यदि किसी जाति के पुरुष के साथ किसी अवैध नारी का सम्बन्ध हो गया तो उसके लिए परम्परागत विधान हैं। या तो उस पुरुष को उसे पत्नी रूप में ही रख लेना पड़ेगा या अभिभावक या पहले पति की, साथ ही स्वीकार करनेवाले नए पुरुष की क्षतिपूर्ति करनी पड़ेगी। परन्तु दूसरी जाति के पुरुष से सम्बन्धित होने पर कोई उपाय नहीं है। यह स्थिति है उन जातियों को जो हिन्दू समाज में थोड़े निम्नस्तर की मानी जाती हैं। ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों में यह भी सम्भव नहीं है। ऐसा लगता है कि उनके भीतर यह परिपाटी काफी पुरानी है और जिन धारणाओं के कारण विधवा-विवाह विवर्जित हुआ उन्हीं के चलते यह कड़ाई भी आई चाहे जैसे हो हमारे समाज में चाहे निम्नस्तर में पड़े हुए लोग हों या उच्चस्तर वाले हों; कोई भी विदेशियों के साथ अपनी नारियों का सम्पर्क किसी भी रूप में सहन नहीं कर सकता था। प्रायश्चित या नियमन विजयी विदेशियों के ऊपर चल भी तो नहीं सकते थे।

बड़ी जातियों की अपेक्षा छोटी जातियों में बाल-विवाह अधिक भयंकर रूप में मौजूद है। वास्तव में जन्म लेते ही दे देने (जात मात्रातु दातव्या) की परिपाटी उन्हीं में मिलती है। इसका भी एक जबरदस्त कारण है। इस परिस्थिति में समाज के उच्चस्तर में तथा बड़ी जातियों में पर्दे की परिपाटी चली। मध्य एशिया में ही यह परिपाटी थी इसलिए नवागन्तुकों को इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं जान पड़ी; परन्तु सामान्यतया छोटी जातियाँ इसे नहीं अपना सकीं, क्योंकि पर्दे का अर्थ है स्त्रियों को घरों में ही बन्द कर देना तथा इस तरह उन्हें उत्पादन के कार्यों से विरत कर लेना। फलतः उन्होंने बच्चियोंकी ही शादी कर देना नवागन्तुक आक्रमणकारियों से बचाने के लिए आवश्यक समझा। विधवा-विवाह प्रचलित होने के कारण उसका भयंकर रूप उनके सामने नहीं आया।

पिता हमार न चाले बाता। त्रासन बोलि सकै नहीं माता।"

गोस्वामी तुलसीदास भी प्रसन्नराघव के आधार पर विवाह के पूर्व ही राम-सीता के हृदय में प्रेम का अंकुर उत्पन्न करा लेते हैं। यह सारा साहित्य प्रचलित परिपाटी के विपरीत चित्रण करता है, यह मानना ठीक नहीं लगता। ऐसा अनुमान करना स्वाभाविक है कि कम-से-कम राजपूतों में और वह भी राजस्थान के राजपूतों में बाल-विवाह का प्रचलन बहुत दिनों तक नहीं था।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद इस ओर लोगों का ध्यान बहुत अधिक गया है तथा समाज के जागृत व्यक्ति इसे मिटाना चाहते हैं। समाज-सुधारकों की प्रेरणा से इसे रोकने के लिए कई अधिनियम गठित हुए हैं; जिनमें अन्तिम सारदा-कानून के नाम से प्रसिद्ध बाल-विवाह निरोधक अधिनियम (Child Marriage Restrain Act) है। इसके अनुसार विवाह की कम-से-कम आयु बालकों के लिए १८ वर्ष तथा बालिकाओं के लिए १४ वर्ष निर्धारित की गई है। १९५१ की जनगणना के अनुसार ५ और १४ की आयु के बीच २८,३३,०००, बालक तथा ६१,१८,००० बालिकायें विवाहिता थीं। इनके अतिरिक्त इसी उम्र में ६,६०० विधुर तथा १,३४,००० विधवायें भी हैं। १४ वर्ष की बालिकाओं तथा १५,१६,१७ वर्ष के पुरुषों में विवाहितों की संख्या का हिसाब नहीं लगाया जा सका है।

इस जनगणना के अनुसार सारदा-कानून के विपरीत विवाहों की संख्या भी काफी है। विभिन्न क्षेत्रों में १५ वर्ष से कम आयु के विवाहित बालकों, बालिकाओं एवं विधुर और विधवाओं की संख्या विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न रूप में है :—

क्षेत्र	संख्या लाखों में	क्षेत्र का प्रतिशतक
उत्तरी भारत	२५·७	४·१
पूर्वी भारत	२७·६	३·२
दक्षिणी भारत	५·२	०·७
पश्चिमी भारत	६·८	१·७
मध्य भारत	१९·२	३·७
उत्तर-पश्चिमी भारत	७·०	२·२
सम्पूर्ण भारत	९१·५	१५·६

यह संख्या कम नहीं काफी अधिक है। दक्षिणी भारत और पश्चिमी भारत के सिवाय उसका प्रतिशतक भी सर्वत्र भयावह ही है। अलग-अलग वर्गों तथा श्रेणियों में क्या रूप है, यह हिसाब लगाने का कोई साधन हमारे पास नहीं है। शिक्षित वर्ग में यह घट रहा है। पूर्वी भारत में निम्नस्तर वालों में ही बहुत अधिक जीवित है; किन्तु जन-जातियों में यह अभिशाप नहीं घुस सका है; यदि घुसा भी है ता उन्हीं में जो हमारे सम्पर्क में आ चुके हैं।

भावना तथा शिक्षा-प्रचार के कारण यह धीरे-धीरे मिट रहा है, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु गति उतनी तीव्र नहीं है, जितनी होनी चाहिए। इसलिए कहना कठिन है कि कब तक यह निर्मूल हो सकेगा। १५ वर्ष से कम की आयुवाले सम्पूर्ण विवाहितों के कितने प्रतिशतक हैं, इसका क्षेत्र के अनुसार निम्न आँकड़ा है:—

क्षेत्र	१९४१ का प्रतिशतक		१९५१ का प्रतिशतक
उत्तरी भारत	१०·९	—	१०·१
पूर्वी भारत	१०·५	—	८·२
दक्षिणी भारत	५·०	—	२·६
पश्चिमी भारत	९·५	—	६·०
मध्य भारत	१२·८	—	१२·६
उत्तरी पश्चिमी भारत	७·४	—	६·५
सम्पूर्ण भारत	५६·१	—	४६·०

विश्वास है अगली जनगणना के समय यह गति और भी तीव्र होगी।

(४) दहेज

भारतवर्ष में विशेषतया हिन्दुओं में दहेज की भयंकरता के कारण विवाह और वह भी कन्याओं का विवाह, परिवार के लिए अभिशाप बन जाता है। दहेज वह द्रव्य है जो कन्या का पिता वर के पिता को देता है। इस प्रथा के सूत्र पुराने ग्रन्थों में कम मिलते हैं। वास्तव में इसकी भयंकरता का प्रचण्ड रूप तो अब सामने आया है और दिन-पर-दिन बढ़ता हो जा रहा है। ऋग्वेद में विवाह के प्रसंग में 'वहतुः' शब्द (१०।८५।१३) आया है; जिसका सायण ने अर्थ किया है कन्या की प्रसन्नता के लिए दिए हुए गौ आदि पदार्थ[1] साथ ही इसी मन्त्र में गाय की भी चर्चा है। एक दूसरे मन्त्र में[2] उपबर्हण (चादर) अभ्यजन तथा कोश का भी उल्लेख है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय उत्कृष्ट माने जाने वाले विवाहों में पिता कन्या को वस्त्र, आभूषण तथा कुछ कोश भी देते थे। यह कोश क्या था बतलाना कठिन है। सम्भव है यही गाय आदि के रूप में दिया हुआ "वहतुः" हो।

वास्तव में इसे हम दहेज का रूप नहीं दे सकते। इतना निश्चित है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का बहुत अधिक विकास वैदिककाल में ही हो गया था। यह सम्भव ही नहीं है कि एक राजतंत्र तथा उससे साम्राज्य की भावना आ जाय; परन्तु सम्पत्ति उत्पादन के साधन तथा उत्पन्न पदार्थ सामाजिक या सामूहिक ही रहें। इसके साथ ही इतना निश्चित है कि पिता की सम्पत्ति पर प्रधानतया पुत्र का ही अधिकार हुआ करता था[3]। ऐसी स्थिति में पिता अपनी कन्या को विवाह के समय प्रेम से, बिना किसी बाध्यता-मूलक रीति-नीति के ही, गाय, वस्त्र तथा कोश दिया

१. कन्या प्रियार्थं दातव्यो गवादि पदार्थो वहतुः।

२. ऋग्वेद १०।८५।७

३. स्थानाभाव के कारण प्रमाण नहीं दिये जा रहे हैं।

करता हो तो इसमें आस्वाभाविकता क्या है ? हम इसे दहेज या मुद्रा नहीं कह सकते। यह तो पारिवारिक भावना और साम्पत्तिक मनोवृत्ति का स्वाभाविक फल है।

एक दूसरे मंत्र में[1] अन्धी कन्या के भरण-पोषण तथा विवाह का उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि उसे कोई बुद्धिमान ग्रहण नहीं करेगा; परन्तु ग्रहण करनेवाले की कोई बुराई भी नहीं करेगा। मुझे ऐसा नहीं जान पड़ता कि दोषपूर्ण कन्या के साथ द्रव्य लेकर विवाह करने की कोई चर्चा है, जैसा कि कुछ विद्वान मानते हैं[2]। इसके बाद वाले १२ वें मंत्र में भी भद्रा और सुदेशा (सुदेशाः शोभनरूपा—सायण) कन्या या वधू को मन के अनुकूल कइयों में से एक को चुन लेने की सुविधा के सम्बन्ध में कहा गया है। इसी तरह अथर्ववेद में भी वधू द्वारा पति के घर कुछ लाने की चर्चा है। चाहे जो हो, ये सब इस प्रणाली के समर्थन में नहीं पेश किये जा सकते। स्मृति आदि में इसका कहीं भी विधान नहीं मिलता।

इसके विकास का रूप स्पष्ट करने के लिए, मेरी दृष्टि में मैथिल ब्राह्मणों की तत्सम्बन्धी परिपाटी एक सुन्दर कुंजी देती है। इनमें जो कोई—चाहे वर-पक्ष हो या कन्या-पक्ष—कुल और वंश में उच्च होता है वही उत्कृष्टता के अनुपात में मुद्रा पाता है, जिसे व्यवस्था कहते हैं। ये रुपये बहुत अधिक नहीं होते, केवल ५१ से लेकर प्रायः २५१ तक जाते हैं। कौन कितना पायेगा, इसका हिसाब-किताब रखने के लिए घटक तथा पंजीकार नियत अधिकारी होते हैं। इनके पास एक व्यवस्थित रजिस्टर रहता है जिसे पंजी कहते हैं। इसमें वंशावलियाँ तथा उच्च-निम्न निर्णय करनेवाले तथ्य संग्रहीत रहते हैं। इस सामान्य देन-लेन में दस-बीस रुपयों के लिए ऐसे-ऐसे सम्पन्न व्यक्ति भी लड़ पड़ते हैं जो हजारों, बिना संकोच के ही उड़ा सकते हैं; और उसी विवाह में उड़ा देते हैं। सम्बन्ध की इच्छा रहने पर यदि किसी के

---

१. ऋग्वेद १०।२७।११

२. देखें, श्री राजबली पाण्डेय, Hindu Sanskaras पृ० २८४

पास रुपये नहीं रहते तो उनके स्थान पर कंकड़ गिना लिये जाते हैं; परन्तु गिनना अनिवार्य है। ऐसा क्यों होता है? कौन-सी मनोवृत्ति काम करती है? वास्तव में उन रुपयों का मूल्य उनकी क्रयशक्ति या अर्थशास्त्रियों के सीमान्त उपयोग (Marginal utility) के द्वारा नहीं आँका जा सकता; क्योंकि वे सामान्य रुपये नहीं; प्रतीक हैं। उनसे सामाजिक स्तर मापा जाता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि सामाजिक स्तर की भावना एक बहुत बड़ी शक्ति है, जो मानव की प्रेरणा का एक बड़ा अस्त्र है। इसमें हमारा सम्पूर्ण "अहम्" कुछ और ले-देकर समा जाता है। मनुष्य में दैनिक आवश्यकताओं के बाद ही, उनकी पूर्ति होने के साथ ही, स्तर की प्रेरणा काम करने लगती है; वरन् यह प्रेरणा हमारी जीवात्मक आवश्यकता को मोड़ती है, घुमाती-फिराती है तथा उसे स्वरूप देती है। स्तर एक ऐसा तत्त्व नहीं है जो केवल आत्मतृप्ति पर ही निर्भर करे; वरन् यह तो बहुत बड़े अंश में दूसरों की उपस्थिति तथा स्वीकृति पर ही टिका रहता है। इस स्तर का परिचय कैसे और कब मिलता है? यों तो प्रत्येक क्षण इसका पता चला करता है। हम उठने-बैठने, मिलने-जुलने, प्रणाम करने, आशीर्वाद देने के ढंग से भाँप लेते हैं—कौन बड़ा है और कौन छोटा। परन्तु ये ही पर्याप्त नहीं होते। समान-से दिखाई पड़नेवालों में जो थोड़ा सूक्ष्म भेद होता रहता है, उसका आभास इनसे नहीं मिल सकता। साथ ही इन व्यवहारों में केवल आयु की दृष्टि से भी छोटे-बड़े का लिहाज करना पड़ता है और किया ही जाता है। सामान्य-जीवन में थोड़े से ही अवसर ऐसे आया करते हैं जिनमें हमारा स्तर स्पष्ट होता है। विवाह उन अवसरों में साधारण पारिवारिक-जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्यों के लिए, शायद सबसे प्रधान अवसर है। यह हमारे सामाजिक स्तर का परिचय ही नहीं देता वरन् उसका नये सिरे से आकलन कराता है, नवीन परिस्थितियों के अनुसार उपयुक्त क्रम में रखता है तथा हमें स्वयं उस सम्बन्ध में आत्मज्ञान कराता है। इसलिए वह इसे यों ही छोड़ नहीं सकता, इसे चाहने पर

भी भुला नहीं सकता; क्योंकि यह उसके सम्पूर्ण सामाजिक अस्तित्व तथा प्रतिष्ठा का मापक है। इसे छोड़ते हुए उसकी आत्मा डोल जाती है।

पहले मानव का सामाजिक स्तर कुल और वंश को छोड़कर अकेले नहीं उठ सकता था। द्रव्य जीवन की सारी सुविधायें, सारे सुख-विलास खरीद सकते थे, परन्तु अकेले आज के समान स्तर नहीं उठा सकते थे। इसके लिए अनेक तत्व काम कर रहे थे। पहले मनुष्य, वास्तव में इतना व्यक्तिवादी नहीं था, वह समुदाय या समूह के लिए अधिक सोचा करता था। यह मनोवृत्ति, यह भावना यों ही नहीं आ गई थी। मनुष्य को उसकी योग्यता तथा उपलब्धियाँ उसे तभी उठा सकती थीं जब उसके साथ उसका कुल या वंश अथवा कम-से-कम उसका परिवार भी उठ सके। इसके लिए ये व्यक्ति पर जितने आश्रित थे उससे हजार-गुना वह इनका मुखापेक्षी था। इसलिए केवल कन्या की सुख-सुविधा देखते हुए उसे कुल का ध्यान छोड़कर दे देना अथवा वंश की मर्यादा के लिए जो लेना था लिये बिना उसे नगण्य और उपेक्षणीय समझ कर छोड़ देना, सामाजिक भावना वाले व्यक्ति के लिए महा कठिन कार्य था। ऐसा जान पड़ता है कि समय-समय पर वंश या परिवार के स्तर को नवीन परिस्थिति के अनुकूल नियमित तथा सन्तुलित करने के लिए भी ऋग्वेद के कोश तथा वहातु से इस दहेज की प्रथा का विकास हुआ।

प्रेम तथा आत्मीयता के कारण दिये जाने वाले उपहार से यह इस रूप में कैसे ढल गया? हम अनुमान कर सकते हैं, परन्तु हमारे इस कार्य में पुराने ग्रंथ पूरी सहायता नहीं कर सकते। जातीय-विवाह के विकास के विवरण में स्पष्ट किया जा चुका है कि पीछे चलकर वधू की इच्छा का मूल्य नहीं रहा, विवाह सम्बन्ध जाति में ही सीमित हो गए। तथा कन्या अपने से उच्च वंश या जाति में देना ही उत्कृष्ट समझा जाने लगा। विभिन्न वर्णों में सम्बन्ध होने से ऊँच और नीच का निर्धारण कुछ आसान था। इसके लिए वर्ण-व्यवस्था मौजूद थी

चाहे अपूर्ण ही क्यों न हो। परन्तु जब सारे विवाह जाति के भीतर ही सीमित हो गए तो स्तर का प्रश्न थोड़ा जटिल हो गया। एक ही जाति में कौन छोटा और कौन बड़ा है, यह निश्चय कई ऐसे तत्वों पर निर्भर था और आज भी है, जो अपेक्षाकृत परिवर्तनशील तथा ऊपर-नीचे होते रहने वाले हैं। इसके लिए वंश तथा कुल के स्तर का अभिसमय से स्थान निर्धारित हुआ, जो उतना स्थिर नहीं रह सकता। इस तरह की सुरक्षा की गारण्टी या परिवर्तन का मापक क्या हो सकता था? जाति के भीतर सामाजिक स्तर का सबसे बड़ा उपयोग विवाह में ही हो सकता है। इसलिए धीरे-धीरे, प्रथा के रूप में, मापक की तरह मुद्रा की प्रथा चली; जो विभिन्नरूपों में प्रचलित हुई। जो कोश या 'वहतु' प्रेम से कन्या को दिए जाते थे उनके अतिरिक्त जातीय स्तर में छोटा बड़े को कुछ मुद्रायें देने लगा। ये एक रूप में नहीं रहीं। विभिन्न स्थानों तथा जातियों में इन्हों ने भिन्न-भिन्न रूप लिए।

जो ब्राह्मण और क्षत्रियों से भिन्न जीवित व्यवसाय-संघ-बद्ध जातियाँ थीं उनमें जातिय पंचायतें जीवन-वृत्ति पर नियन्त्रण करने के कारण जीवित रहीं; अस्तु उनमें इस सम्बन्ध में अधिक विकृति नहीं आई। परन्तु अन्यों में और विशेषतया उच्च समझे जानेवाले वर्णों में यह परिपाटी बहुत विकृत हो गई। श्री हरिसिंह जूदेव के शासन-काल में पञ्जी की व्यवस्था की गई, इसलिए मैथिलों की प्राचीन परिपाटी बहुत दिनों तक जीवित रही और थोड़ा-बहुत आज भी साँस ले रही है। उनके निकट ही रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में; भूमिहारों में तथा क्षत्रियों में एक दूसरे ही रूप में इसका विकास या ह्रास हुआ। इनमें अपनी कन्या अपने से बड़े घर में ही देना धर्म रहा, अर्थात् सामान्यतया अपने से ऊँचे स्तर में स्थित माने जाने वाले के साथ ही ये कन्या का विवाह करते रहे। इसलिए कन्या के नाम पर कुछ लेना कन्या-विक्रय के समान पाप माना जाता रहा जबकि मैथिल ब्राह्मणों में अपने से निम्न जाति या वंश में कन्या देने पर जाति का प्रतीकात्मक मूल्य नहीं लेना अपना अपमान समझा गया। क्षत्रियों में वीरता तथा

जाति के अभिमान की भावना इस तरह अनिश्चित थी, तथा पागलपन की हद तक पहुँची हुई थी, कि कन्या-वध की परिपाटी चली और युवतियों को पिता के विरुद्ध अपने-अपने मन के अनुकूल पुरुषों को भीतर ही भीतर सहायता देने तक की नौबत आने लगी। महाभारत अनुशासन पर्व में विवाह का एक भेद माना गया है क्षात्र-विवाह—इसका अर्थ उन विवाहों से है जिनमें कन्या-पक्ष वाले वर पक्ष-वालों को दहेज देते हैं। इससे यह अनुमान होता है कि यह परिपाटी पहले क्षत्रियों में आई। राजा तथा सामन्त वही थे, इससे दूसरों ने उनका अनुकरण किया। मैथिल ब्राह्मण बहुत दिनों तक इसके भयंकररूप से बचे रहे, परन्तु अन्य लोग तो पहले ही चपेटे में आ गए थे; और उनमें स्तर की प्रतीकात्मकता समाप्त हो गई थी। सारांश यह है कि इसके विकास के तीन रूप हैं, प्रेमोपहार, स्तर का प्रतीकात्मक मूल्य और दहेज।

वर्त्तमान युग में इस प्रथा के विपरीत जबरदस्त प्रचार किया जा रहा है। इधर कई राज्य भी इसके विरुद्ध नियम बनाना चाहते हैं; समाज-सुधारक तो सदियों से इसे मिटाने के नारे लगाते आ रहे हैं; परन्तु क्या कारण है कि यह परिपाटी मिटती नहीं; दिन-पर-दिन अधिकाधिक भयंकर तथा विषमय होती जा रही है[1]? वास्तविक बात यह है कि दहेज में मिलनेवाले रुपयों की सुविधा भी एक लोभ है। मैथिलों के विवाह की परिपाटी, व्यय तथा लेन-देन की दृष्टि से कुछ दिनों पहले तक आदर्श तथा अनुकरणीय थी। किन्तु आज वह रूप मिटता जा रहा है। प्रतीकात्मक-मूल्य समाप्त हो गया, जातीयता की आधारशिला भी बहुत-कुछ खिसक गई है। विवाह-व्यय भी उनका उतना भयंकर नहीं है। इसलिए रुपये गिनाकर लेनेवालों में कुछ लोग तो अन्यों के समान ही व्यय करने लगे हैं, परन्तु कुछ ऐसे लोग भी हैं

---

१. इस प्रथा के कुपरिणाम इतने स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष हैं कि इन पर विचार करना मैं ठीक नहीं समझता। प्रत्येक पढ़ा-लिखा या साधारण ज्ञान रखने वाला व्यक्ति इसकी बुराइयों पर एक लम्बा भाषण दे सकता है।

जो रुपये रख लेते हैं, तो भी उनकी संख्या अधिक नहीं है। अन्यों में तो जितना ही लेंगे उतना ही अधिक घर से लगाना पड़ेगा। इसलिए इसे हम लोभ नहीं कह सकते।

वास्तविक बात यह है कि यह मध्य युग की तरह आज भी सामाजिक स्तर का परिचायक तथा नियामक (Regulator) ही है। जैसा लिखा जा चुका है सामाजिक स्तर वंश और कुल पर ही निर्भर था, इसलिए वह जाति के भीतर ही घटता-बढ़ता था। एक क्षत्रिय क्षत्रियों से ही प्रतिस्पर्द्धा कर सकता था, इसी तरह ब्राह्मण ब्राह्मण से। परन्तु आज वह स्थिति नहीं है। प्रतियोगिता का प्रधानक्षेत्र अर्थ हो गया है। इसीलिए अर्थ-संचय तथा अर्थ-व्यय के आधार पर सामाजिक स्तर का निर्धारण होता है, अस्तु वह जाति के बाहर भी जाता है। विवाह-सम्बन्ध जाति के भीतर होते हुए भी स्पर्द्धा की दृष्टि से हमारा ध्यान बाहर के लोगों की ओर भी रहता है। इसीलिए पुराना यौतुक प्रेम-मय तथा प्रतीकात्मक मात्र था; परन्तु आज वह रूप नहीं रह गया। अर्थ अपने सीधे रूप में एक का ही प्रतीक बन सकता है और वह है क्रयशक्ति का, जिससे आज सब कुछ और सामाजिक स्तर भी, खरीदा जा सकता है।

आज मानव की पिपासा प्रतियोगितात्मक संस्कृति की प्रेरणा से अश्रान्त हो रही है, इसलिए वह इसे बुझाने की अभिलाषा से सब कुछ पी सकता है; यद्यपि शराब की प्यास की तरह यह कभी भी बुझ नहीं पाती। हम आगे आना चाहते हैं; कुछ करने के लिए कम, हम कुछ हैं यह दिखाने के लिए अधिक। इसका जबरदस्त प्रभाव इस परिपाटी पर भी पड़ा है; यह दिखाने-देखने का एक बहुत-बड़ा सामाजिक अवसर देता है। फिर इसका साधारण मनुष्य क्यों न प्रयोग करे इसे यों ही क्यों छोड़ दे?

हम दहेज की परिपाटी को मिटाना चाहते हैं; मिटेगी और अवश्य मिटेगी। परन्तु कब और कैसे? कानून बनाने से? बाल-विवाह की प्रथा सारदा-कानून से नहीं मिटी, जो घटी है अपने-आप ही। कन्ट्रोल

के द्वारा भोजों तथा पार्टियों के रूप नहीं बदले जा सके; तो क्या हम इसे मिटाने की आशा करें ? भावना का प्रचार आवश्यक है, इसमें क्या सन्देह ! यह तो अनिवार्य है। परन्तु केवल इससे ही पूरे लाभ की आशा नहीं कर सकते। वास्तव में इसकी आधारशिला जब तक नहीं खिसकेगी तब तक इसका नष्ट होना या उचितरूप में बदल जाना सम्भव नहीं है। वह आधारशिला क्या है ? सामाजिक स्तर का आर्थिक आधार मिटते ही यह प्रथा भी भहरा कर गिर पड़ेगी।

(५) विधवा-विवाह एवं सम्बन्ध-विच्छेद

आज उच्च वर्ण के माने जाने वाले ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों में विधवा-विवाह तथा सम्बन्ध-विच्छेद का नाम लेना भी अपराध है। वैश्यों में कई जातियाँ ऐसी हैं, जिनमें यह परिपाटी नहीं चलती परन्तु एक बड़े वर्ग में चलती है। वैश्य से इतर लोगों में इसका पूरा प्रचलन है। विधवा-विवाह निषेध से ही सती की भयंकर प्रथा का जन्म हुआ था। नियम बन जाने के बाद यह समाप्त हो गई, आज यह कोई समस्या नहीं रही। परन्तु विधवा-विवाह तथा सम्बन्ध-विच्छेद का प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना है। विद्वानों का अनुमान है कि वैदिककाल में पति की मृत्यु के बाद विधवा अग्नि-संस्कार के समय पतिके साथ लेटती थी; फिर लोग उसे उठा कर ले जाते थे। मन्त्र कहता है—"हे नारि ! जीव लोक का विचार कर उठो। गत प्राण के पास सोई हो। पाणि-ग्रहण तथा गर्भधारण करने वाले के साथ तुम कर्त्तव्य कर चुकी। इसकी मृत्यु का निश्चय कर चुकी उठो[1]।

इस मंत्र से यह अनुमान लगाया जाता है कि उस समम सती-प्रथा नहीं थी तथा अन्य लोगों का विचार करते हुए स्त्री मृत पति को छोड़ देती थी। किन के लिए ? पुत्रादि के लिए भी छोड़ सकती थी, परन्तु १०।४०।२ मंत्र कुछ और भी बतलाता है। उसका कहना है कि "शयन काल में विधवा देवर का (शयुत्रा विधवे व देवरं) तथा कामिनी पति का

१ ऋक् १०।१८।८

समादर करती है" देवर का अर्थ भी द्वितीय वर ही होता है। अथर्ववेद भी समर्थन करता है (या पूर्वं पतिं वित्वा अथान्यं विन्दते पतिम्) धर्मसूत्रों में मृत्यु निश्चित नहीं होने पर भी विवाह करने का आदेश दिया गया है। निश्चित है ई० पू० प्रथम सदी तक इसमें बाधा नहीं थी। पीछे के धर्मशास्त्र तथा स्मृतिग्रंथ इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं।

वास्तव में ये तीनों सती-प्रथा, विधवा-विवाह तथा विच्छेद, परस्पर सम्बन्धित हैं और ऐसा जान पड़ता है कि तीनों प्रायः साथ-साथ उत्पन्न हुईं, यह थोड़ा टेढ़ा परन्तु विचारणीय प्रश्न है। वैदिककाल में ही पुरुषों की प्रधानता हो गई थी, सम्पत्ति पर उन्हीं का अधिकार था। धीरे-धीरे धार्मिक कार्यों से भी स्त्रियों का निष्कासन होने लगा, साम्पत्तिक अधिकार के बाद यह एक आवश्यक काम था। ऐसा लगता है कि बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के पहले ही महिलायें बहुत-कुछ अधिकार-च्युत हो गई थीं। इसीलिए उन्हें संघ में सम्मिलित करने के प्रश्न पर भगवान बुद्ध भी द्वन्द्वहीन नहीं थे। उन्हें अपने संघ में सम्मिलित करते हुए भी वे स्त्री-पुरुष के प्राकृतिक सम्बन्ध को समुचितरूप में संयमित, नियमित तथा अधिकाधिक धर्मोपयोगी बनाने पर विश्वास नहीं करते थे, वरन् उन्हें समाप्त करने को ही धर्म तथा ज्ञान मानते थे। वासना से परे जाने की चिन्ता में ही रहनेवाले पुरुष के लिए नारी मोह तथा वासना की मूर्ति है; क्योंकि उसे देखते ही च्युत होने की आशंका तथा सम्भावना हृदय में प्रवेश कर जाती है। धर्म के इस अतिमानवीयरूप ने नारी के स्वरूप के प्रति व्यापकरूप में घृणा के भाव भर दिए। नारी की जो कुछ भी महत्ता बची हुई थी, समाप्त हो गई। धर्म की इस अप्राकृतिकता ने व्यवहार में विलासिता को जन्म दिया। यह भी एक स्वाभाविक परिणाम ही है, जहाँ अप्राकृतिक तथा प्रायः असम्भव-सी त्याग की शिक्षा जोर पकड़ती है, वहाँ प्रतिक्रियास्वरूप अतिसंग्रह तथा अतिविलासिता उत्पन्न हो ही जाती है। भारत में भी यही हुआ। फलतः नारी शुद्ध अर्थ में सहधर्मिणी नहीं रह गई, विलास की संगिनी मात्र समझ ली गई। पुरुष की इस प्रधानता ने किसी के साथ कुछ भी काम-व्यतीत

करनेवाली नारी को अपने लिए अयोग्य समझने की प्रेरणा दी और इस सम्भावना का संयोग ही समाप्त कर देने के लिए सम्बन्ध-विच्छेद तथा विधवा-विवाह दोनों निषिद्ध हो गये।

पहले जब तक अनुलोम-विवाह की प्रणाली चलती रही उच्च वर्ण वालों को स्त्रियों का अभाव बहुत ही कम था। ऐसी स्थिति में ये विधवाओं से क्यों विवाह करते? अथवा सम्बन्ध-विच्छेद द्वारा—जिसे कौटिल्य 'त्याग' कहते हैं—पति से मुक्त नारी को क्यों स्वीकार करते? धीरे-धीरे चुपचाप यह व्यवहार अभिसमय बन गया; फिर काफी समय व्यतीत हो जाने के बाद धर्माज्ञा का रूप दे दिया गया।

यह परिपाटी बहुत कुछ उच्च वर्णों में अभिसमय का रूप ले रही थी या ले चुकी थी, तभी विदेशियों के धावों का ताँता बन्ध गया। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि इन्हीं आक्रमणों ने बाल-विवाह को जन्म दिया तथा अरक्षा की भावना ने पर्दे की प्रथा चलाई। ये सारे तत्त्व इस तरह घुल-मिल गए कि नारी-स्वातन्त्र्य का गला ही घोंट दिया गया। स्त्रियाँ बेचारी क्या करतीं? बाल-विवाह ने बाल और युवती विधवाओं की संख्या बढ़ा दी, सतीत्व की भावना बढ़ी-चढ़ी थी, परन्तु विदेशियों द्वारा उस पर आक्रमण का खतरा बराबर बना हुआ था। इससे भावना वाली नारियों ने मृत पति के साथ आग में जल जाना ही उचित समझा। मध्य एशिया की कई जातियों में मरे पति के साथ विधवा को गाड़ देने या जला देने की परिपाटी थी ही। व्यक्तिगत सम्पत्ति को मृत के साथ गाड़ देना अनिवार्य था, स्त्री भी वैसी ही एक सम्पत्ति थी, उसे क्यों छोड़ दिया जाता? हमारे यहाँ भी इस समय तक नारी कुछ वैसी ही समझी जाने लगी थी। ऋग्वेद में मृत पति के साथ जीवित नारी के सोने की परिपाटी थी ही। सम्भव है सती-प्रथा को उस अभिसमय से सहायता मिली हो। किन्तु यह प्रथा प्रधानतया विदेशियों के अनुकरण पर चली और मूलतः बाध्यता की देन थी।

अनुलोम-विवाह समाप्त हो जाने के बाद यह समस्या अविवाहित युवकों तथा स्त्रीविहीन विधुरों के प्रश्न की भी जननी हो गई। सती-

प्रथा एक क्रूर अमानुषिक प्रथा थी; इसलिए इसे तो मिटना ही चाहिए था और यह मिटी भी। लेकिन इससे विधवाओं की समस्या और प्रचण्ड पड़ गई। एक बार ही जल मरनेवाली महिलाओं की प्राण-रक्षा हुई किन्तु जीवनभर घुल-घुलकर मरने वाली या अपमानित-जीवन व्यतीत करनेवाली स्त्रियों की संख्या बढ़ गई। सती-प्रथा को समाप्त करने के बाद हम और पीछे नहीं लौट सके। श्री ईश्वरचन्द्र विद्या-सागर तथा श्री स्वामी दयानन्द जी के प्रयत्नों से छिटपुट, और वह भी घर से भागनेवाली विधवाओं को थोड़ी राहत मिली; किन्तु समस्या हल नहीं हुई; आज भी ज्यों-की-त्यों बनी है। समाज में थोड़ी नीची गिनी जानेवाली कई जातियाँ बड़ी बनने के लिए ही अपनी जाति में प्रचलित विधवा-विवाह को मिटाना चाहती हैं। यह बड़प्पन के रोग का एक अभिशाप ही है।

(६) अन्य सामान्य समस्यायें

इन प्रमुख समस्याओं के साथ ही बहु-विवाह, कुलीन प्रथा जैसी कुछ छोटी-छोटी वैवाहिक समस्यायें भी हैं। कुलीन प्रथा समाप्त प्राय है, और इसे लौट आने का भी भय नहीं है। एक समय था कि यह बड़ी प्रचण्ड समस्या थी। प्राचीन कालीन अनुलोम-विवाह भी इसी की देन थे। अपनी जाति के भीतर ही विवाह सीमित हो जाने के बाद गोत्र तथा वंश की प्रतिष्ठा के मापक बनाए गए, जिनके अनुसार छोटे-बड़े के हिसाब हुआ करते थे। दहेज के प्रसंग में मैथिल ब्राह्मणों की तत्सम्बन्धी परिपाठी का उल्लेख किया जा चुका का है। वहाँ कुलीन माने जाने वाले अनेकों विवाह करते थे, घर पर प्रायः वही पत्नी या पत्नियाँ आती थीं जिनके माता-पिता का वंश या तो समकक्ष का हो या बड़ा हो। शेष का निर्वाह माता-पिता ही करते थे। बंगाल में भी यही परिपाटी थी! यों तो सभी हिन्दुओं में लोग कन्या का विवाह अपने से उच्च वंश वाले में करते हैं, मूलतः यही कुलीन प्रथा है; परन्तु प्रधान समस्या का रूप तो यह पूर्वी प्रान्तों में विशेषतया मैथिल तथा बंगाली ब्राह्मणों में ही ले सकी।

इस प्रथा की मूल-उत्पत्ति प्रधानतया विजयी जाति के आत्म-सम्मान, प्रजाति की श्रेष्ठता की भावना, धार्मिक प्रधानता, किसी खास स्थान में श्रेष्ठत्व की स्थापना आदि उन सारे मूल कारणों से हुई; जिनसे छोटे-बड़े के भेद की भावना हुआ करती है। मिथिला में इस प्रथा को सुव्यवस्थित करने वाले श्री हरिसिंह जी देव थे; जो मूलतः दाक्षिणात्य थे। बंगाल में श्री बल्लाल सेन द्वारा हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार के लिए कान्यकुब्ज से लाए ब्राह्मणों के कारण यह प्रथा चली।

बहु-विवाह की परिपाटी तो, ऐसा जान पड़ता है कि वैदिककाल में भी थी और हिन्दुओं के भीतर तभी से चली आ रही है। इस दृष्टि से यूरोप वाले बहुत पहले से ही सचेत हैं। यह आर्थिक जीवन के धक्के से यों ही भहरा कर गिर रही है। जो थोड़ी बची है, वह भी नष्ट हो जायगी। सामान्यतया अब उच्च वर्णों में केवल सन्तान के लिए ही दूसरा विवाह होता है। थोड़े ही व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो सन्तान रहने पर भी, पहली स्त्री के जीवित रहते ही, दूसरा विवाह करने का साहस करते हैं। हिन्दू कोड बिल में दी हुई एक पत्नी की शर्त यह रहा-सहा रूप भी नष्ट कर देगी। हाँ, पुरातन आर्थिक प्रणाली के अनुसार जीवन व्यतीत करने वाली कुछ जातियों में बहु-विवाह सहायक ही होता है। बैगा तथा गोंडों में तो गर्भावस्था में तथा अस्वस्थ हो जाने पर पहली पत्नी ही विवाह का आग्रह करती है। परन्तु ये जातियाँ ज्यों ही चयन तथा आरम्भिक कृषि अवस्था से ऊपर उठेंगी, यह प्रथा या तो अभिशाप बन जायेगी या टूट जायेगी।

वैवाहिक सुधार के पथ

सामान्यतया जितनी वैवाहिक समस्यायें हैं उनकी व्युत्पत्ति तथा वर्त्तमानरूप पर प्रकाश डाला जा चुका है। अब सुधार की दृष्टि से इनके सामान्यतया तात्त्विकरूप का थोड़ा विश्लेषण आवश्यक है। इस दृष्टि से इन्हें हम तीन वर्गों में बाँट सकते हैं :—(१) केवल शिक्षा-

प्रचार-सापेक्ष समस्यायें (२) स्तर की समस्यायें (३) भावना तथा संस्कार की समस्यायें।

केवल प्रचार-सापेक्ष समस्याओं का उदाहरण बाल-विवाह है। हम इसकी व्युत्पत्ति के प्रसंग में देख चुके हैं कि आज इसका सामाजिक आधार खिसक चुका है। जिन परिस्थितियों ने इसे जन्म दिया वे चली गयीं और यह विश्वास किया जा सकता है कि सदा के लिए चली गईं। ऐसी स्थिति में उसका मिट जाना कठिन नहीं है, वरन् धीरे-धीरे मिट ही रही हैं—यद्यपि उस अनुपात में नहीं मिट रही हैं जिसकी आशा हमें करनी चाहिये। इसका कारण शिक्षा तथा प्रचार का अभाव है। शहरों में बैठे हुए हम उस वर्ग की अशिक्षा का अनुमान नहीं कर सकते जिनमें यह भयंकररूप में फैली हुई है। खैर, धीरे-धीरे ही सही यह मिट कर रहेगी। समाज के निम्न स्तर में पड़े लोगों को ज्यों-ज्यों प्रकाश और सुविधायें मिलेंगी, वे आगे आते जायेंगे और त्यों-त्यों यह रोग समाप्त होता जायगा। हाँ, इस स्तर में भी प्रचार तथा उनकी जातीय और ग्रामीण पंचायतों को सामान्य सामाजिक अधिकार प्रदान के साथ ही उन्हें सचेत करने से विनाश की गति में तीव्रता आयेगी और इस तरह की तीव्रता लानी चाहिये।

दूसरे वर्ग में स्तर की समस्यायें रखी गई हैं। दहेज का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वह प्राचीनकाल से ही स्तर का निर्णायक रहा है और आज भी है। यह व्यय कराता है, इससे व्यय की समस्या भी है, अस्तु आर्थिक है। अर्थ के व्यय की सम्पूर्ण समस्या मुख्यतः स्तर की ही समस्या है। पुराने जमाने से ही व्यय को विशेष अवसरों पर प्रोत्साहित किया जाता है। विवाह भी एक ऐसा ही अवसर है। यदि हम प्राचीन जातियों के जीवन का विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि अतिरिक्त उत्पादन के वितरण तथा व्यय के लिए भी उनकी संस्कृति को कोई-न-कोई राह निकालनी पड़ती है। यह अतिरिक्त प्राकृत भी हो सकता है और कृत्रिम भी। एक शिकारी के लिए अपने परिवार के एक या दो शाम से अधिक खाने योग्य यदि शिकार

मिल जाय तो वह उसके लिए अतिरिक्त हो जायेगा। पुराना किसान एक ऋतु से अधिक अन्न का संचय नहीं कर सकता। संचय की वैज्ञानिक शक्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती गई त्यों-त्यों अतिरिक्त के अवसर कम होते गये और दिन-पर-दिन होते जाते हैं। किन्तु समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति का विकास हो जाने पर अतिरिक्त का रूप बदल गया है। अतिरिक्त उपभोग्य पदार्थ की समस्या के स्थान पर अतिरिक्त सम्पत्ति की समस्या आ गई; जिसके व्यय के लिए ऐसे ही अवसरों की प्रतिष्ठा हुई।

जहाँ व्यक्तिगत सम्पत्तिका विकास नहीं हुआ है, वहाँ विवाह-उत्सवादि किसी की प्रतिष्ठा बढ़ाने तथा सामाजिक स्तर उठाने के कारण नहीं होते; वरन् वे सामाजिक धर्म तथा कर्त्तव्य माने जाते हैं। गोड़ों की तरह कुछ ऐसी जातियाँ भी हैं; जिनमें विवाह परिवार के नहीं गाँव भर के उत्सव माने जाते हैं तथा व्यय में सब लोग सम्मिलित होते हैं, यहाँ तक कि लड़की का कन्या-शुल्क भी गाँव भर देता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का विकास हो जाने पर सामूहिकता नष्ट हो जाती है और व्यक्ति को ही अपना अतिरिक्त व्यय करना पड़ता है। ऐसे व्यय के साथ धर्म का योग हो जाना भी स्वाभाविक है। परन्तु आज तो संचय, पूँजीकरण तथा पूँजी लगाने के साधनों का इतना अधिक विकास हो गया है कि अतिरिक्त की समस्या ही नहीं रह गई। एक वर्ग अनन्त संचय तथा अनन्त उपभोग कर सकता है; क्योंकि अन्नादि के उपभोग की सीमा है लेकिन—महल, मोटर, वस्त्र, बर्तन, आवागमन आदि से सम्बन्धित पदार्थों की सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। हमारा पेट सीमित है, परन्तु पेट के बाद की आवश्यकतायें द्रोपदी के चीर के समान बढ़ाई जा सकती हैं और आय के साथ-साथ बढ़ती जाती ही हैं। समानीकरण और अतिरिक्त का व्यय जो उत्सवों के मूल सामाजिक उद्देश्य थे, समाप्त हो गये। समाज का उच्च वर्ग सम्पत्ति-प्रदर्शन तथा शक्ति-प्रदर्शन द्वारा समाज से प्रशंसा पा लेता है तथा अपने स्तर को नियमित करता रहता है। परन्तु मध्य श्रेणी तथा निम्न मध्य श्रेणी वाले प्राचीन रूपों में ही विवाहादि के अवसरों पर

व्यय करते हैं। उन्हें स्वीकृति भी मिलती है; लेकिन स्थायी कम ही हो पाती है, दो-चार बार का व्यय उन्हें नीचे पटक देता है। एक ग्रामीण कहावत है इसी तरह नष्ट होने वाला व्यक्ति जहाँ कहीं ढोल, उत्सव आदि की ध्वनि सुनता था, चिल्ला पड़ता था "बाजो हे ढोल! बाजो, दुश्मन के घर बाजो।"

स्तर के लिए किया जाने वाला व्यय अतिरिक्त का ही शृंगार है, आवश्यक उपभोग्य के अपव्यय का नहीं। परन्तु मनुष्य करे क्या? आज की स्पर्द्धा के युग में कैसे आँख मूँद ले। जिसकी धमनियों में थोड़ी गर्मी आती है वह अवसर मिलने पर सामने आ जाता है। तीर्थ, बड़े-बड़े धार्मिक कार्य तो रहे नहीं; सारा गुब्बार निकालने का विवाह ही अवसर देता है—चाहे नष्ट हो जायँ या बचें।

वास्तव में द्रव्य का मूल्य घटने पर ही यह कुप्रथा भी मिटेगी, यों इसका मिटना प्रायः असम्भव ही है। अर्थ-संचय तथा उसका व्यय सामाजिक स्तर का नियन्ता नहीं रहे, इसके लिए नवीन उपकरणों से नवीन मानों की स्थापना करनी होगी। हम देखते हैं कि समाज में शक्ति तथा पद जिनमें राजनीतिक और राजकोय पद भी हैं; अर्थ का स्थान ले सकते हैं। परन्तु इन्हें आधार नहीं बनाया जा सकता। इसके दो कारण हैं; प्रथम तो ये सर्वसाधारण से परे हैं, समाज में इने-गिने ही इसके लिए आगे आ सकते हैं। जनतन्त्र की स्थापना ने इनकी संख्या थोड़ी बढ़ाई है; परन्तु इतनी नहीं कि वही मुख्य हो जाय। इसके साथ ही राजनीतिक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति भी अपने परिवार के स्तर के लिए उसी पर भरोसा नहीं कर सकते। इसे भी उन्हें अपनाना पड़ता है और वे अपनाते ही हैं।

समाज के उच्च वर्गों में से एक भाग की सम्पत्ति राज्य द्वारा ली जा रही है। जमीन्दारी तथा बड़े-बड़े भूस्वामियों के भूमिखण्डों को हम ले रहे हैं। इससे सम्पत्ति का महत्व थोड़ा-थोड़ा घट रहा है, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन सामाजिक भावना में क्रान्ति की दृष्टि से इसने कोई काम नहीं किया है। इसका एक कारण तो यह है कि इनसे भी

बड़ा एक सम्पत्तिशाली वर्ग—बड़े व्यापारी तथा मिल मालिक—ज्यों-का-त्यों है; बल्कि इनकी सम्पदा बढ़ ही रही है। परन्तु इससे भी एक बड़ा कारण, जिस पर बार-बार आ जाना पड़ता है, वह है हमारा युग तथा हमारा देश जो सामाजिक स्तर के निर्णायक और निर्देशक रूप में सम्पत्ति से इतर अन्य कोई वैकल्पिक आधार नहीं स्थापित कर पा रहा है। यही युग का सबसे बड़ा अभिशाप है।

तीसरे प्रकार की समस्याओं का सम्बन्ध सामान्यतया भावना संस्कारों से है। इसके अन्तर्गत प्रधानरूप में जातीय तथा विधवा-विवाह आदि की समस्यायें हैं। हजारों वर्षों से लोग जिसे जिस रूप में करते आ रहे हैं उसे तोड़कर नये पथ पर चल पड़ना आसान नहीं है। सारी भावना तथा सारे संस्कार परम्परा के विपरीत जाने से हिल उठते हैं। समाज के एक छोटे से अंश को छोड़ कर बड़ा समूह, चाहे जान-बूझकर या अनजान में ही, पुरानी रूढ़ियों पर ही चला जा रहा है। विद्रोह की बातें करता है, क्रान्ति के नारे लगाता है परन्तु कार्य-रूप में परिणत करने के समय लौटकर वहीं आ जाता है।

जातीय-विवाहों की एक प्रधान भौतिक पृष्ठभूमि है वृत्ति की एकता। यह आधार खिसक गया है और दिन-पर-दिन खिसकता जा रहा है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु बदल गया है या मिट गया है यह कहना वस्तुस्थिति से अनभिज्ञता प्रदर्शित करना है। ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों में तो वस्तुतः जातीय-वृत्ति का जोर बहुत पहले ही समाप्त हो गया था। ब्राह्मणकाल में ही ब्राह्मणों को भोजन की तलाश में सदा रहना पड़ता था। इसी से वे 'आवसायी' और 'यथा काम प्राप्य' हो गये थे। परन्तु अन्य वर्णों में ऐसी बात नहीं है, उनका एक बहुत-बड़ा वर्ग आज भी अपने परम्परागत पेशे से चिपका हुआ जी रहा है। १९४० की जन-गणना के निम्नतथ्य इस विषय पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डालते हैं:—

जातियाँ	जातीय-वृत्ति को छोड़कर दूसरे पेशों में लगे लोगों का प्रतिशतक—	कृषि तथा गोपालन में लगे लोगों का प्रतिशतक—
(१) चमार, नाई और भंगी	१७·८	६०·०
(२) खटिक, गूजर, तेली	२५·९	४३·९
(३) पिंजारा, दर्जी, मोमिन, धोबी	३३·९	३९·२
(४) कुम्हार, बढ़ई	३७·५	३८·०
(५) लोहार और सोनार	४२·२	२३·३
कुल	१५७·३	२०४·४

कृषि तथा गोपालन बहुत पहले से किसी एक वर्ण या जाति का व्यवसाय नहीं रह गया है, तो भी इन जातियों में यह स्थानापन्न वृत्ति का ही सहायक मात्र है; इसे गाँवों की स्थिति से परिचित प्रायः हरेक व्यक्ति स्वीकार करेगा। जातीय से इतर पेशों में भी एक बड़ा वर्ग जातीय पेशों से मिलता-जुलता ही कार्य करता है। पूर्णरूप में अपने जातीय पेशों से अलग हो जानेवाले परिवारों का प्रतिशतक, इनमें भी अत्यन्त ही अल्प मिलेगा, परिवार के एकाध व्यक्ति भले मिल जायँ। इसका फल यह होता है कि एक बड़े वर्ग में जातीयता बनी हुई रहने के कारण शेष भी अपनी जातीय स्थिति से अवगत रहते हैं।

वास्तव में हमारे देश में वैसी आर्थिक क्रान्ति नहीं हुई जो हमारे समाज की नींव केवल हिलाकर ही नहीं छोड़ दे, वरन् उसे बिलकुल बदल दे। ऐसा लगता है कि हमारा विकास, बहुत-कुछ पुरानी नींव पर ही हुआ है। गाँवों के रहने वाले ८० प्रतिशत लोग पुरानी प्रणाली में ही जन्म लेते, जीते तथा मरते हैं। जो कुछ नवीनता आई है, वह मूलरूप में शहरों को ही—और वह भी उद्योगप्रधान शहरों को ही, नये सिरे से बना सकी है। शेष लोगों को उसने प्रभावित किया है, उनके हृदयों में एक सांस्कृतिक उलझन का मन्थन उत्पन्न कर दिया है; परन्तु पलट देने में असफल हो रही है।

नवीन जीवन की प्रेरणा से जो हमारे यहाँ सुधार हुए हैं उन्होंने भी हमारे विशिष्ट सामाजिक स्वरूप के कारण जाति और वर्ग का ही

रूप लिया है। आर्यसमाज वेद, यज्ञ तथा वर्ण को ही लेकर चलता है। इन्हीं के नारे लगाता है। विभिन्न जातियों ने भी इसी के अनुरूप आन्दोलन किये। समाज के थोड़े निम्न स्तर में स्थित जातियों ने सुधार के लिये यज्ञोपवीत धारण किये तथा अपने को ब्राह्मण तथा क्षत्रिय प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। श्री अम्बेडकर-जैसे यूरोपीय संस्कार में रँगे व्यक्ति ने भी शूद्रों को राजा सुदास का वंशज क्षत्रिय तथा अन्त्यजों को उच्चवर्ण के बौद्धमतावलम्बी बनाने के लिये ही अपनी शक्ति लगाई है। एक ओर यह जाति पर आश्रित समाज की देन है, दूसरी ओर जातीय भावना को दृढ़ करने का यह एक कारण भी हो जाता है।

कोई भी क्रान्ति केवल पुरुषों के द्वारा तबतक सफल नहीं हो सकती जबतक महिलायें भी उससे प्रभावित तथा प्रेरित न हों। वर्तमान युग में शास्त्र-विहीन भावना की क्रान्ति के लिये तो और भी अधिक स्वाभाविक, शान्तिपूर्ण परिवर्तन आवश्यक है जो स्त्रियों के सहयोग के बिना नहीं हो सकता। यों तो सम्पूर्ण १६·६ प्रतिशतक व्यक्ति ही साक्षर हैं, उसमें भी स्त्रियों की संख्या पूर्णतया नगण्य ही है। ऐसी स्थिति में जीवन के नवीन भावों, नवीन मूल्यों के ग्रहण की पूरी आशा अशिक्षिता तथा पर्दे के भीतर जीवन बितानेवाली महिलाओं से कौन करे?

एक विधवा-विवाह के प्रेमी, स्वयं विधवा-विवाह करनेवाले विद्वान् का कहना था कि सवर्णों के बीच इसके प्रचार तथा प्रसार में सबसे बड़ी बाधा अनाथालयों के कारण भी हैं। इनके चलते लोग विवाह के लिए प्रस्तुत विधवा का अर्थ लगा लेते हैं—घर से निकली नारी। परन्तु इस भावना का मूल कारण अनाथालय तथा विधवा आश्रम नहीं वरन् जन-समाज की और स्वयं नारियों तथा विधवाओं की भावना है। यदि निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाय तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे घरों का और विशेषतया महिलाओं का वातावरण इतना अधिक प्राचीन रंग में रँगा हुआ है कि उनमें से

कोई भी यों सामान्य परिस्थिति में इसके लिये सोच भी नहीं सकती, स्वयं तय्यार हो जाने की तो बात ही अलग हैं। इसका फल यह होता है कि पतित हो जानेपर या पतन के कगारे पर पहुँचने के बाद ही सवर्णों की विधवायें विवाह करती हैं। इसके पहले ही तय्यार हो जानेवाली स्त्रियों का प्रतिशतक अत्यन्त ही अल्प है। इससे मन में हीनता-ग्रन्थि घर कर लेती है और वे अपने को च्युत तथा भ्रष्ट समझने लगती हैं। यदि वातावरण पूर्ण अनुकूल नहीं रहा तो इसका प्रभाव उनके चरित्रपर तथा पारिवारिक जीवन पर बहुत गहरा पड़ता है। वस्तुतः अकेले अनाथालय ही दोषी नहीं हैं; दोषी है समाज का सम्पूर्ण वातावरण तथा यह हीनता-ग्रन्थि।

इसके साथ ही स्तर का भी प्रश्न आता है। तीसरे प्रकार की समस्यायें प्रधानतया भावना तथा संस्कारमूलक है। परन्तु इनके साथ सामाजिक स्तर का प्रश्न भी थोड़ा-बहुत जुड़ा हुआ है। जीवन के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा विवाहादि में स्तर अधिक काम करता है। पुरानी कहावत है "विवाह, मित्रता समान से"। पुराने सामाजिक नियमों को तोड़कर सम्बन्ध करनेवाले किस स्तर में रहें यह प्रश्न बड़ा विकट हो जाता है। पहले भोजनपान में भी क्षण-क्षणपर अपमानित होना पड़ता था। आज यह स्थिति नहीं रही। परन्तु सम्बन्ध आदि का अपने स्तर में होना कठिन हो जाता है। यद्यपि आज यह भी असम्भव नहीं रह गया। कई ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जिनमें समाज-सुधार करनेवाला स्तर की चिन्ता में पड़ कर सीधे गिर जाता है तथा सब किये-करायेपर पानी फेर देता है। श्री स्वामी भवानीदयालजी सन्यासी विधवा की सन्तान थे। इनके पिता ने प्रायः बुढ़ापे में जाति में मिलने के लिये इन्हें छोड़ दिया था। बिचारी माँ तो अफ्रिका में ही मर गई थी, शायद यह मंगल ही था। परन्तु एक तथ्य स्मरण रहे, जिनके पास भौतिक शक्ति है—चाहे आर्थिक हो या राजनीतिक या अन्य कोई—वे आज नहीं, पहले ही से समाज के नियमों का उल्लंघन अपनी शक्ति से करते आये हैं और समाजको बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ता रहा है।

आज वह स्थिति और भी प्रत्यक्ष हो गई है। इसलिये वे उदाहरण नहीं हो सकते। साधारण समाज उनका अनुकरण करने में प्रोत्साहित अवश्य होता है, परन्तु डरता भी है।

वैवाहिक समस्याओंपर विचार करते समय सम्पूर्ण समाज को एक ही लाठी से नहीं हाँका जा सकता। इस दृष्टि से समाज को तीन श्रेणियों में बाँटना होगा। समाज की निम्न श्रेणी, यूरोपीय संस्कृति में रंगी श्रेणी तथा परम्परा-पोषित मध्यवर्ग। उच्चवर्ग और प्रथम के अन्तर्गत वे लोग आयेंगे जिन्हें बहुत पहले से ही हिन्दू समाज ने निम्न स्तर में रखा है। इनमें वैश्यों का एक भाग, शूद्र तथा और भी निम्न गिनी जानेवाली जातियाँ हैं। वास्तव में इनकी प्रधान समस्या आर्थिक है तथा कई रूपों में सामाजिक है। उन्हें आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने तथा समाज के ऊँचे स्तर में लाने का प्रश्न ही भयंकर रूप में सामने खड़ा है। मुझे तो ऐसा लगता है, इनमें वैवाहिक समस्याएँ बहुत-कुछ अपने आप ही हल हो जायँगी। वास्तव में इनका परिवार मानव-जीवन के प्राकृतिक सम्बन्धों के आधार पर ही बहुत कुछ आधारित है। व्यक्तिगत परिवार के प्रसंग में इनपर थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला जायगा। आज मुख्यतया इस वर्ग की शुद्ध वैवाहिक समस्याओं के दो रूप हैं—(१) बाल-विवाह तथा (२) मध्य वर्ग का। अनुकरण, शिक्षा के प्रसार तथा भावना के प्रचार के साथ बाल-विवाह का अभिशाप मिट जायेगा। दूसरी समस्या अधिक जटिल नहीं है। कुछ लोग आर्थिक दृष्टि से ऊँचे उठ जाने पर सवर्णों का और ब्राह्मण-क्षत्रियों का अनुकरण करने लगते हैं और विशेषतया इनके उन्हीं रूपों को लेते हैं जिन्हें सुधारने तथा मिटाने की आवाजें उठाई जाती हैं। उदाहरण-स्वरूप दहेज, आवश्यकता तथा औचित्य से अधिक व्यय एवं विधवा-विवाह के परित्याग की ओर ही इनका अधिक ध्यान जाता है। इनके अनुकरण इसलिये किये जाते हैं कि वास्तव में सामाजिक स्तर के मापक रूप में आर्थिक स्थिति के साथ ये ही सामने आते हैं। जो कोई आगे आता है, अर्थ की दृष्टि से सुव्यवस्थित तथा सम्पन्न होने के बाद अपने

को बड़ा बनाने के लिये इधर ही चलने की चेष्टा करने लगता है जिससे अभावों की पूर्ति हो जाय और वे पूरे रूप में बड़े माने जानेवालों की कोटि में आ जायँ या कम-से-कम, आने का दावा कर सकें।

यूरोपीय संस्कृति में रँगी श्रेणी से मेरा अभिप्रायः मुख्यता उन लोगों से हैं जो कानूनी विवाह करने लगे हैं या करने की स्थिति में बहुत-कुछ आ चुके हैं। साथ ही शहरों के उच्च शिक्षाप्राप्त वे लोग भी इसमें आ जायँगे जो सामाजिक दृष्टि से ऐसे विवाह नहीं करते हुए भी मानसिक रूप में प्रायः वैसे ही हो चुके हैं। इनकी समस्याओं के दो छोर हैं : एक ओर तो इनका वही रूप हो गया है जो यूरोपीय विवाह-प्रणाली की समस्याओं का; परन्तु यही मुख्य रूप नहीं हैं मूल रुप है—अपना वर्तमान-स्वरूप लिये हुए भारतीय वैवाहिक प्रणालियों में फिट होने का। यह फिट होना प्रधानतया तो आर्थिक है, उत्तराधिकार से सम्बन्धित है। परन्तु यही सब कुछ नहीं है। इसका मानसिक और मनोवैज्ञानिक पहलू भी है और उसमें भी फिट होना आवश्यक हो रहा है। हमारे वर्तमान साहित्य का—विशेषतया कथा तथा उपन्यास साहित्य का, एक प्रधान अंग इस वर्ग की मानसिक समस्या और द्वन्द्वों को ही अधिक चित्रित करने की चेष्टा कर रहा है। हिन्दी में श्री जैनेन्द्र जी स्वाभाविक रूप में तथा श्री अज्ञेय जी और श्री इलाचन्द्जी जोशी मनोवैज्ञानिक वादों तथा सिद्धान्तों में ढाल कर यही कर रहे हैं।

हम बिना विस्तार में गये हुए यह आशा कर सकते हैं कि हिन्दू कोड नाम से प्रसिद्ध कानूनों के रूप, इनकी आर्थिक तथा उत्तराधिकार सम्बन्धी समस्या हल करने में थोड़े-बहुत सफल हो सकते हैं। परन्तु मानसिक रूप में तो इसके हल होने की तभी सम्भावना है, जब भारतीय समाज के एक बड़े वर्ग के साथ ये एकाकार होने की सुविधा पा जायँगे, तथा अभिसमय, प्रथा तथा संस्कृति के नये स्वरुप उनके लिये भी एक समयानुकूल रूप बदलते रहने की क्षमता रखने वाला, परन्तु साथ ही आज की अपेक्षा स्थिर मानसिक धरातल का निर्माण कर देंगे;

किन्तु यह श्रेणी आर्थिक दृष्टि से इतनी ऊँची है तथा इसकी जीवन-विधि तक पहुँचने के लिये इतने व्यय की आवश्यकता है कि हमारे समाज का एक बड़ा वर्ग इसके निकट आ सकेगा, इसमें आज सन्देह ही सन्देह दिखाई पड़ता है।

वैवाहिक समस्याओं के नाम से जो समस्याएँ हमारे सामने रखी जाती हैं उनका एक बड़ा भाग तीसरे श्रेणी से ही सम्बन्धित है। इस वर्ग के अन्तर्गत मुख्यतया हमारे मध्यवर्गीय ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों के एक भाग की जातियाँ आती हैं। आर्थिक वर्ग की दृष्टि से मुख्यतया सम्पूर्ण सवर्ण मध्यवर्ग तथा परम्परा-पोषित उच्च वर्ग इन समस्याओं को लिये-दिये चल रहा है। अत्युच्च वर्ग के थोड़े से लोग निकल कर यूरोपीय जीवन-विधि में रँगते जा रहे हैं, परन्तु गति अत्यन्त मन्द है। वरन् इनके बीच एक विलासितामय दिखावट से भरा भारतीय तथा यूरोपीय प्रणालीका विचित्र मिश्रण ही अधिक दिखाई पड़ रहा है। इनका बुरा फल थोड़ा-बहुत यह हो रहा है कि यूरोप तथा भारत की समस्त समस्यायें, मानसिक रूप में इनके बीच एकत्र होने की चेष्टा कर रही हैं। इस श्रेणी के लोग न तो इधर के हैं, न उधर के, थोड़ा इधर भी हैं, थोड़ा उधर भी। कोई ऐसा एक समुदाय नहीं है जिसके साथ एकाकार होने की चेष्टा ये पूरे रूप में कर सकें।

समस्याओं का मूल स्वरूप स्पष्ट कर लेने के बाद सुधार के पथ के खतरों पर भी विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है, यद्यपि इनके कुछ रूप पहले भी प्रसंगवशात् आते गये हैं; तो भी पुनरुक्ति की चिन्ता थोड़ी छोड़कर इसका स्पष्टीकरण कर लेना उचित है। आज के युग में किसी भी सुधार को कार्यरूप में परिणत करने के लिये दो ही अभिकरण (एजेन्सी) या साधन हैं। एक को हम राज्य कहते हैं, राज्य का अभिप्राय समाज के उस अंग से है, जिसके हाथों में आज एकमात्र, बाध्यतामूलक शक्ति आ गई है। दूसरा अभिकरण है समाज का वह रूप जो प्रचार कर सकता है, भावना तथा इसके लिये वातावरण तय्यार कर सकता है एवं विशिष्ट प्रेरणा देनेवाले समुदायों का निर्माण कर

सकता है। हम इस प्रसंग में मूल अर्थ की व्यापकता की चिन्ता छोड़कर दूसरे के लिये समाज का ही प्रयोग करेंगे।

यह उल्लेख किया जा चुका है कि आज की अनेक समस्याओं के हल के लिये यह अनिवार्य हो रहा है कि नवीन सामाजिक मूल्यों की भित्ति एक ऐसी नींव पर डाली जाय जिसमें द्रव्य का मूल्य इस रूप में न रहे और द्रव्य उत्पादन करने तथा खर्च कर डालने की शक्ति से ही सामाजिक स्तर नहीं मापा जाय। यह कार्य राज्य तथा समाज के सम्मिलित प्रयास से ही सम्भव है; क्योंकि इसका सम्बन्ध केवल छोटे-मोटे सुधारों से ही नहीं, सम्पूर्ण समाज की नई नींव से है। यह तभी सम्भव है जब जान-बूझकर, सारी शक्ति लगाकर सामाजिक भावना की दीवाल को नई ईंटों तथा नये गारे से गढ़ा जाय। यह काम हो कैसे सकता है? इसके लिए चाहिये कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हों जिनमें अर्थ केवल साधारण रूप में जीवनोपयोगी साधन खरीद सके (वह भी इसलिये कि आज तक विनिमय का दूसरा कोई माध्यम हम नहीं पा सके हैं); परन्तु सामाजिक स्तर तथा सामाजिक सम्मान खरीदने की शक्ति उसकी दिन-पर-दिन कम होती जाय। यह रूप सरल तो नहीं है परन्तु दूसरा कोई उपाय भी नहीं है। व्ययकारिणी शक्ति की सामाजिक महत्ता के ही कारण हमारे कई सुधार कुधार में परिणत होते जाते हैं तथा विवाहादि के खर्च सुधार और नवीनता के नाम पर बढ़ ही रहे हैं। खाने-पीनेवाले व्यक्तियों की संख्या, खिलाये-पिलाये जानेवाले सामानों की सूची, सेवा-सत्कार के साधन आदि, घी के स्थान पर डालडा आ जाने पर भी भयंकर रूप में बढ़ रहे हैं।

इस सम्बन्ध की अनेक बुराइयों से प्रायः सभी व्यक्ति त्रस्त हैं। इनकी निन्दा से वातावरण गूँज रहा है। परन्तु कोई भी समाज में सचेत व्यक्ति अपनी भावना को कार्यरूप में परिणत नहीं कर पाता। इसका कारण भावना का अभाव नहीं, अभाव है वातावरण का तथा नवीनता की प्रेरणा देने वाली शक्ति का। आज के प्रायोगिक मनोविज्ञान ने प्रेरणा की दृष्टि से समुदायों की शक्ति का एक व्यावहारिक अध्ययन

किया है जो ऐसी स्थितियों में हमारी बहुत-कुछ सहायता कर सकता है। मानव समाज के सभी समुदायों से समान प्रेरणा नहीं लेता। जिससे वह अपने को सबसे अधिक सम्बन्धित करना चाहता है या करता है वही प्रधान प्रेरणा का आधार होता है। ऐसे समुदाय को अभिदिष्ट समुदाय (reference group) नाम दिया गया है। पुरातन समाज में प्रायः एक ही समुदाय था। परन्तु आज समुदायों की भरमार है। इनमें से व्यक्ति कुछ से सम्बन्धित होता है। परन्तु इनमें भी कुछ से वह अपने को आत्मिक और सक्रिय रूप में सम्बद्ध करता है और कुछ से निष्क्रिय रूप में। उसकी निष्क्रियता तथा सक्रियता निर्भर करती है आन्तरिक रूप में (subjectively) व्यक्ति के निजी वातावरण, परिस्थिति तथा इतर समुदायों के प्रति उसके सम्बन्धों पर। उससे भिन्न अन्य समुदाय के प्रति उसका जैसा सम्बन्ध होगा उसका प्रभाव इस सम्बन्ध पर पड़ेगा। इस सम्बद्धता का प्रभाव समुदाय द्वारा प्रेरित प्रवृत्तियों पर बहुत गहरा पड़ता है। बेनिंगटन कालेज में अनुदार परिवार की लड़कियों को उदार वातावरण में रख कर देखा गया। जिसे घर अधिक प्रिय था वह नवीनता से कम प्रभावित हुई, जिसे कम था वह अधिक[1]।

अधिकांश भारतीय प्रधान रूप में अपने परिवार, गाँव, शहर तथा सम्बन्धियों से अधिक सक्रिय रूप में सम्बन्धित रहता है इसलिये इनकी इच्छा का वह अधिक मूल्य आँकता है और इनमें ही अपने को खपाना या इनकी दृष्टि में अपने स्तर को उठाना उसकी मूलभूत प्रेरणा बन जाती है। यही कारण है कि उसके सुधार सम्बन्धी सारे सिद्धान्त उसकी नवीनता की सम्पूर्ण प्रेरणा से इनके प्रभावक्षेत्र में आकर अपनी शक्ति खो देते हैं। इनमें ही हम अपना स्तर बनाना चाहते हैं। इसलिये इन्हीं के अनुरूप, जब कभी अवसर आता है, हम अपने को भी ढाल लेते हैं। हमारे समाज में जो नवीन

१. देखे, (Personality and social change by T. M. Newcomb)

समुदायों से सक्रिय रूप में सम्बद्ध है, वे भी किन्ही अंशों तक पुरातन समुदायों से मानसिक रूप में अलग नहीं हुए हैं। फलतः वे पूरे रूप में किसी से भी सचेत नहीं हैं। उनकी सम्बद्धता विभाजित है। इसी से वे किसी के साथ पूरे सच्चे नहीं हैं। जीवन की अलग-अलग परिस्थितियों में वे अलग-अलग समुदायों को अभिदिष्ट के स्थान पर रखते हैं। इससे उनका व्यक्तित्व तथा उनकी धारणा भी विभाजित हो गई है, एक रूप नहीं है। भारतीय महिलाओं में से तो अधिकांश का अभिदिष्ट समुदाय एक ही है। यहाँ संघर्ष की भी नौबत कम है। ऐसी स्थिति में वे नवीनता से किस रूप में प्रभावित हो सकती हैं। यही कारण है कि हम लोगों में से जो लोग सुधार के समर्थक हैं वे भी ढुलमुलयकीन हैं। जब पुरातन प्रणालियों को तोड़ कर विवाह करने के कारण किसी को आदर पाते देखते हैं तो थोड़ी देर के लिये आकर्षित होते हैं। परन्तु जब किसी को पुरातन सीमा में बँधे हुए खर्च करते पाते हैं, तो वहाँ भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते।

जिस तरह प्राचीन परिपाटी में रंगे हुए व्यय तथा दहेज की दिखावट से चकाचौंध होने वाले के समुदाय स्थान-स्थान पर बिखरे हैं और समाज द्वारा स्वीकृत हैं, उस तरह नवीनता के गठित समुदाय नहीं हैं, जो सतत् प्रेरणा देते रहें हैं। ऐसे प्रयत्न जो हुए भी हैं, व्यक्तिगत तथा छिटपुट हैं। आज सुधारवादी समाज तथा प्रगतिप्रेमी राज्य का कर्तव्य है कि आकर्षित रूप में स्थान-स्थान पर ऐसे समूहों का निर्माण करे तथा इन्हें इस तरह पुष्ट, सक्रिय और आकर्षक बनावे कि लोग इन्हें अभिदिष्ट बना सकें, तथा इन्हीं में स्तर ढूढ़ने की चिन्ता करें, अन्यत्र नहीं। इतना निश्चित है कि ऐसे समुदायों की सदस्य-संख्या ज्यों-ज्यों बढ़ती जायगी, हम इनमें ज्यों-ज्यों आकर्षण लाते जाने की चेष्टा करते जायँगे त्यों-त्यों हमारा प्रभाव व्यापक पड़ता जायगा। संख्या का जादू(Enchantment of number)सामान्य जन-समाज को आकर्षित करने के लिये एक बड़ा जादू है। साथ ही यह प्रयत्न

होना चाहिये कि समाज में प्रतिष्ठा-प्राप्त व्यक्ति इसमें सक्रिय योग दें तथा इसके नियमों का पालन करें। हरेक व्यक्तिका मूल्य तथा हर व्यक्ति का प्रभाव समान रूप में नहीं पड़ सकता। सबों की प्रभावकारिणी शक्ति अलग-अलग होती है जो कई तत्वों पर निर्भर करती है। राजनीति या अन्य किसी क्षेत्र में जिनका प्रभाव जम गया है उनकी सदस्यता, उनका योग तथा उनके द्वारा स्थापित आदर्श अधिक व्यापक तथा प्रभावकारी होता है।

एक प्रगतिशील राज्य का भी इस सम्बन्ध में बहुत बड़ा कर्तव्य है, परन्तु उसका हस्तक्षेप अप्रत्यक्ष ही हो सकता है प्रत्यक्ष, नहीं। राज्य आज के युग में एक सर्वशक्तिमान् सत्ता है तो भी इसका सीधा नियन्त्रण ऐसे मामलों में—जो मूलतः सार्वजनिक होते हुए भी अन्ततोगत्वा व्यक्तिगत हो जाते हैं, कठिन बन जाता है। परन्तु अप्रत्यक्ष नियन्त्रण भी कम प्रभावकारी नहीं होता। राज्य के हस्तक्षेप का क्षेत्र सबसे अधिक आर्थिक व्यवस्था है और इसलिये यहाँ उसका सम्बन्ध उत्तराधिकार से है। कोई किससे किस रूप में विवाह करे इसका आदेश राज्य कैसे दे सकता है ? वह इतना ही कर सकता है कि किन-किन विवाहों से उत्पन्न सन्तान को पिता की सम्पत्ति में किस प्रकार के उत्तराधिकार मिलें, इसका निर्णय करने के लिये नये ढंग के नियम बनावे। अभी तक जो नियम थे वे धर्मग्रन्थों पर आश्रित थे और उन्हीं को आधार मानकर चलते थे। फलतः जो इनका उल्लंघन करते थे उन्हें एक ही रास्ता था—कानूनी विवाह करने का। इसलिये हिन्दूकोड संसद के समक्ष उपस्थित है। इसमें दो तरह के परिवर्तन हैं, प्रथम तो पुत्री को भी पिता की सम्पत्ति में अधिकार दिये गए हैं। द्वितीयतः परम्परागत नियमों को तोड़कर नये रूपों में विवाह करनेवालों को भी स्वीकृति दी गई है। स्पष्ट है, नये विवाहों की स्वीकृति का यह अर्थ नहीं है कि प्राचीन परिपाटी पर होनेवाले विवाह अस्वीकृत हो जायँ। कोई भी राजसत्ता ऐसा नहीं कर सकती। इसका इतना ही अर्थ है कि इनके साथ ही दूसरे भी स्वीकृत हों। कोई भी नागरिक विवाह के

मामले में स्वतन्त्र है और उसके व्यक्तिगत जीवन में विशेष हस्तक्षेप नहीं हो सकता। यदि कोई सजातीय विवाह प्राचीन परिपाटी से ही होता है तो उसमें राज्य को क्या हानि हो सकती है? और इसमें अपनी शक्ति का प्रयोग किस रूप में वह कर सकता है?

हिन्दू कोड बिल समाज के भीतर कोई बड़ी क्रान्ति कर देगा, मुझे तो ऐसा नहीं लगता। पुत्रियों के उत्तराधिकार से एक बार झंझट उत्पन्न होगी और सुधार का काम कम हो या अधिक, कचहरी के काम बढ़ जायगा। वास्तव में जब तक भावना नहीं बदलेगी, किसी भी कार्य में सफलता मिलना सम्भव नहीं है। चाहे जो हो, ऐसा कदम उठाना जरूरी है जो मूलतः हो तो तेज (drastic) तथा प्रभावकारी, परन्तु असंयम, उच्छृंखलता की सृष्टि भी नहीं करने पावे। कोई भी कदम अधिक सतर्कता के साथ अपनाना चाहिये; इसके साथ ही मुझे तो ऐसा लगता है कि कोई भी एक ही उपाय आज के सभी वर्गों के लिये उपयुक्त तथा लाभप्रद नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए सम्बन्ध-विच्छेद को ले सकते हैं। यदि सब को इसके अधिकार दे दिये जायँ तो क्या होगा? जिस वर्ग की स्त्रियाँ शिक्षित हैं उनमें यह उच्छृंखलता भले पैदा करे, स्त्रियों का जीवन संकटपूर्ण नहीं बना सकता। जहाँ आज भी यह परिपाटी है, उनमें इससे कोई विशेष परिवर्तन नहीं होगा; परन्तु हमारा एक बड़ा समुदाय जिसमें सहस्रों वर्षों से इसे मान्यता नहीं है, तथा जिसकी आत्मा ही इसके विरुद्ध विद्रोह कर उठती है, इसे पाकर क्या करेगा? पुरुष को तो एकाधिक स्त्रियों से सम्पर्क बनाये रखने का अधिकार है। इसलिये एक को छोड़कर दूसरी लाने में उसे कोई कठिनाई नहीं होगी। परन्तु स्त्रियों में ऐसी भावना नहीं आ सकती और न इस सम्बन्ध में उनसे न्याय ही हो सकता है। इसका फल यह हो सकता है कि सम्बन्ध-विच्छेद के बाद, सामान्यतया ऐसी स्त्रियों को कोई स्वीकार नहीं करेगा; विशेषतया उसके स्तर का व्यक्ति। इससे सामूहिक रूप में हमारी सवर्ण नारियों पर एक भौतिक धर्म-संकट आ जायगा, वे निराश्रिता तथा पददलित होंगी। मानसिक रूप में भी

उनका पतन होगा। समाज की नजरों में गिरनेवाला अधिकांश अपनी नजरों में भी गिर जाता है और इसका बड़ा बुरा फल उसके मन तथा चरित्र पर पड़ता है, इससे उसका पतन अनिवार्य हो जाता है। इस तरह का सामूहिक पतन किसी भी स्थिति में समाज के लिये कल्याण-कारक नहीं हो सकता। हम यदि नीच स्वार्थ की दृष्टि से देखें तो सम्बन्ध-विच्छेद को स्वीकृति से पुरुषों का ही स्वार्थ सिद्ध होगा; नारियों पर तो संकट ही आयेगा।

हमें चाहिये कि हम जो कोई कदम उठावें, सोच-समझकर उठावें। पाश्चात्य देशों का अन्धानुकरण हमारी वर्तमान परिस्थिति में उचित नहीं होगा? परन्तु साथ ही प्राचीनता की मोहनिद्रा में सोये रहकर भी हमारा काम नहीं चलेगा। हमें कुछ करना है, आगे बढ़ना है, परन्तु सोच-समझकर। आज हम एक ही लाठी से सब को नहीं हाँक सकते, अलग-अलग लाठियों की आवश्यकता है। भविष्य में सभी एक ही पंक्ति में यदि आ गये तो हम एक ही रास्ते पर सब को ले चलने का प्रयत्न कर सकते हैं; परन्तु आज नहीं। कम्युनिस्ट शासन की स्थापना के बाद रूस में सम्बन्ध-विच्छेदों के सम्बन्ध में बहुत अधिक छूट दे दी गई। फल क्या हुआ? उच्छृंखलता और अव्यवस्था फैल गई तथा एक नवीन भयंकर परिस्थिति का सामना करना पड़ा। बाध्य होकर १९२८ में इस सम्बन्ध में वहाँ भी कड़ाई करनी पड़ी। यह उस देश का हाल है, जहाँ इस सम्बन्ध में परम्परा से ही काफी छूट है और जहाँ प्रायः सभी वर्गों में—रोमन कैथलिकों को छोड़कर यह सम्बन्ध-विच्छेद प्रचलित है।

चौथा प्रकरण

हमारी पारिवारिक समस्यायें

प्रधान रूप से भारतवर्ष में दो ही प्रकार के परिवार हैं, सम्मिलित और युगल। अन्य प्रकार के परिवार अल्प और नगण्य हैं। (बहुपतित्व और बहुपत्नित्व की आवश्यक चर्चा यथास्थल हो चुकी है।)

सम्मिलित परिवार की प्रणाली

सम्मिलित परिवार भारतीय संस्कृति की आत्मा कहा जाता है। इसी प्रणाली की छाया में हमारे पुराने वैभव, पुराने धर्म और पुराने दर्शन का विशाल भवन खड़ा किया गया था। हमारी मनोवृत्ति, हमारे धर्म और हमारी परम्परा इसी के अनुकूल रही है, इसी का पोषण किया है। संसार की कोई सुन्दर प्रणाली सामने आती है तो हम उसे इससे मिलाने लगते हैं। सम्मिलित परिवार के सामान्यतया निम्नलिखित गुण हैं:—

(१) सम्मिलित परिवार में सहयोग की भावना का विकास स्वाभाविक रूप में होता है। हर व्यक्ति एक दूसरे का अंग है। परिवार की प्रतिष्ठा, मान, अपमान, समृद्धि, विपत्ति, सुख सबके सम्मिलित हैं। हर सदस्य उसमें हिस्सा बँटाता है। परिवार से अलग व्यक्ति का न तो मूल्य है और न मान। समाज व्यक्ति के रूप में किसी की प्रतिष्ठा कम करता है, परिवार के सदस्य के रूप में अधिक। फल यह होता है कि हर आदमी उस सम्मिलित परम्परा को ढोता ही नहीं, वरन् उसे आगे बढ़ाने का, उसमें कुछ जोड़कर, और अधिक उज्ज्वल बनाने का, सारी शक्ति से प्रयत्न करता है। यह तबतक सम्भव नहीं है जबतक सब से पूर्ण सहयोग न लिया जाय और सबको सहयोग न दिया जाय, इससे

एक आन्तरिक सहयोग की प्रेरणा मिलती रहती है। यह भावना बचपन से ही हृदयमें प्रविष्ट कर जाती है और जीवन भर रहती है।

साधारण रूपमें सभी परिवारों में अपनी एक विशेषता रहती है, जिसे पारिवारिक ग्रन्थि (Family Complex) कहा जाता है। परिवार की प्रवृत्तियों और आदर्शों का एक संगठन है जिसे हरेक परिवार स्वतन्त्ररूप में विकसित करता है और जो सांस्कृतिक आदर्श के रूप में परिवार का मूल चरित्र होता है। परिवार के अभिमान, पारिवारिक रागद्वेष, विनोद और वाक्यावलि अपनी अलग होती है। उसकी आशायें, महत्त्वाकांक्षायें, जो एक को दूसरे से अलग करती हैं, इस पारिवारिक ग्रन्थि के निर्माण में सहायक होती हैं। वास्तव में यह होती सब परिवारों में हैं परन्तु संयुक्त परिवार में इसका बड़ा विकसित और स्पष्ट रूप दिखाई पड़ता है।

(२) सम्मिलित परिवार में सब अपनी योग्यता और शक्ति भर काम करते हैं और आवश्यकता के अनुसार उपभोग करते हैं। इसी से कुछ लोग इसमें नवीन समाजवाद की सुरभि पाते हैं; जिसका मूल मन्त्र है "प्रत्येक से योग्यता के अनुसार और प्रत्येक को आवश्यकता के अनुसार।"[1] इन लोगों की दृष्टि में सम्मिलित परिवार का ही विस्तृत रूप समाजवाद है। जहाँ तक परिवार के दायरे के भीतर का सम्बन्ध है यह प्रणाली समाजवाद के समकक्ष कही जा सकती है, परन्तु दोनों का मूलाधार दो है। यह प्रणाली पारिवारिक सम्पत्ति पर आधारित है, परन्तु समाजवाद व्यक्तिगत और पारिवारिक दोनों की सम्पत्ति का विनाश चाहता है। समाजवाद तो एक अर्थ में परिवार का ही विरोधी है और इसे जीवन और समाज का आवश्यक अंग नहीं मानता। चाहे जो हो, सम्मिलित परिवार सहयोग के साथ ही समत्व (अधिकार के नहीं, उपभोग के समत्व) की भावना भरने वाला है।

(३) परिवार एक शिक्षा और ट्रेनिंग का भी केन्द्र है। नववधू,

1. From each according to his ability and to each according to his needs.

लड़के-लड़कियाँ अपने जीवन के कर्त्तव्यों से ही अवगत नहीं होतीं परन्तु उन कर्त्तव्यों को सुचारुरूप में निभाने के लिए जिस ज्ञान, जिस अनुभव और जिस योग्यता की जरूरत होती है वह परिवार से ही मिलती है। बड़े-बूढ़े अपने अनुभव, अपने ज्ञान, पुरषों को दे जाते हैं और बूढ़ी मातायें नववधुओं को। चूँकि परिवार एक इकाई के रूप में है इसलिए सांसारिक कार्य, अधिकांश अंशों में इसी के भीतर पूरे होते हैं। मातायें गृहकार्य के साथ सामान्य स्त्री और शिशु-रोगों की पहचान और थोड़ी-बहुत दवाइयाँ भी बना लेने की विधि से परिचित होती हैं। आज भी कुछ मातायें शिशुओं के दाँत निकलने, उनसे उत्पन्न होने वाले रोगों तथा नेत्र-दोषों के पहचानने में शिक्षित स्त्री-चिकित्सकों की समता कर लेती हैं।

(४) सम्मिलित परिवार में व्यक्तिगत संग्रह की भावना आती ही नहीं और आने पर भी उसकी पूर्ति की कोई जगह व्यक्ति नहीं पा सकता। हर व्यक्ति सबके लिए त्याग करता है। उसे सत्कार मिलता है सबके लिए अधिक से अधिक क्षमता प्रदर्शित करने में। अस्तु उसके 'अहम्' की तृप्ति सामूहिक सेवा से ही होती है।

(५) सम्मिलित परिवार रुग्णावस्था, वृद्धता और असमर्थता के लिए स्वतः बीमा है। सम्मिलितरूप से अलग अपने भविष्य के लिए कोई नहीं सोचता, और सोचने की आवश्यकता भी नहीं होती। वृद्धता आदर की वस्तु है, पिता पुत्रों की सम्पूर्ण सेवाओं का अधिकारी है, सासें वधुओं की सेव्य देवियाँ हैं, जिनकी पूजा के बिना उनका उद्धार नहीं। सामान्य स्थितियों में भी रोगी होने पर सेवा करने वालों की जमात खड़ी रहती है। अस्तु मनुष्य अपने को पूर्णतया सुरक्षित समझता है। वह कल की चिन्ता से व्याकुल नहीं रहता। इस भावना का मानसिक फल व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन और सम्पूर्ण चिन्ताधारा पर पड़ता है। न तो वह असमय वृद्ध की तरह चिन्ताग्रस्त होता है, और न इतना स्वार्थी, इतना लोलुप और इतनी मर्य्यादा का भंग करने वाला हो पाता है। उसमें एक ताजगी, एक ढाढ़स, एक साहस बना

रहता है। वह सदा अनुभव करता है कि उसकी पीठ पर सारा परिवार है। अकेलापन, असहायावस्था का अनुभव वह नहीं करता।

इन उत्कृष्ट प्रभावों के साथ ही कुछ ऐसी बातें भी हैं जो व्यक्ति के विकास के लिए उपयुक्त नहीं हैं। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :—

(१) जो व्यक्ति उत्तरदायित्व का अनुभव करते हैं, उनका कार्य बहुत विस्तृत हो जाता है। वे सारे परिवार को अपना अंग मानते हैं, सबके पालन-पोषण, सबकी देख-रेखके लिए वे अपनी जिम्मेदारी समझते हैं। फलतः उनका भार बहुत बढ़ जाता है। जीवन की सम्पूर्ण शक्ति, सम्पूर्ण साधना परिवार के लिए ही समर्पित करनी पड़ती है। जीवन का सारा सार परिवार ही ले लेता है।

सामूहिक कार्यों के लिए बूढ़े कुछ समय निकाल लेते हैं, सार्वजनिक कार्यों में युवकों की कोई पूछ नहीं। परन्तु यदि कोई व्यक्ति अपना कुछ समय समूह को देना चाहे तो परिवार आपत्ति करता है। इस परिवार की महत्त्वाकांक्षा प्रधानतया परिवार तक ही सीमित हो जाती है, आगे नहीं बढ़ सकती। व्यक्ति न तो अपने लिए आदर पाता है, और न अपने विकास के लिए परिवार से स्वतन्त्र सोच सकता है, उच्च व्यष्टि के निर्माण में वह बाधक है, उसकी सीमा संकुचित कर देता है। किन्तु साधारण सामाजिक कार्यों के लिए जितने व्यक्ति संयुक्त परिवार दे सकता है और देता है, उतना युगल परिवार नहीं। महात्मा जी के आन्दोलनों में संयुक्त परिवार के ही साधारण कार्यकर्त्ता अधिक थे। भाई-बन्धुओं से विभक्त हो जाने पर ऐसे लोगों को सार्वजनिक क्षेत्र से हट जाना पड़ता है।

(२) सम्मिलित परिवार में व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं है। वह एक अंगमात्र है, जिसका सम्पूर्ण-संचालन परिवार करता है। एक तो यों ही लोकाचार, प्रथा और सामाजिक स्वीकृतियाँ उसे परिवार के अनुकूल बनाये रखती हैं, दूसरे यदि वह उनसे बाहर जाता भी है तो परिवार से निष्कासित होने का भय है।

पहले तो सन्तान पर पिता का पूर्ण अधिकार था। वह उसे बेच

सकता था, बन्धक रख सकता था। यहूदियों के यहाँ वह दास बनाने के लिए बच्चों को दे सकता था। रोमन नियम में तो पिता को पुत्रों के जीवन और मृत्यु पर पूर्ण स्वत्व था। स्त्रियाँ तो और भी वंचित हैं? सम्मिलित परिवार पितृसत्तात्मक परिवार का ही एक भाग है, अस्तु उसकी सारी असुविधाएँ स्त्रियों को भोगनी पड़ती हैं। सम्पत्ति उनकी नहीं है, उसपर उनका कोई अधिकार नहीं है। पूर्वी देशों में तो उनके बन्धन और भी जटिल हैं।

सम्मिलित परिवार का विघटन

सम्मिलित परिवार का विवेचन करते समय जो चित्र दिया गया है, वह इतना उत्कृष्ट है तथा उसके साथ जो बुराइयाँ दिखलाई गयी हैं, वे इतनी कम तथा देखने में प्रभावहीन लगती हैं कि साधारण दृष्टि से देखने पर मानव सम्मिलित परिवार का भक्त बन जा सकता है, परन्तु आज की वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। सम्मिलित परिवार का रूप हमारी कल्पना में ही रह गया है। ठोस-जगत में वह चकनाचूर हो रहा है, और नष्ट-भ्रष्ट होता जा रहा है। इसके कई कारण हैं, जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :—

(१) सम्मिलित परिवार कृषि-संस्कृति की देन है। कृषि-जीवन अधिक से अधिक व्यक्तियों का सहयोग माँगता है। खेतों से लेकर घरों तक छोटे-बड़े, कड़े-हल्के श्रमों का जाल बिछा रहता है। कोई धूप में हल चलाता है तो दूसरे को बीज डालने की आवश्यकता है, तीसरा भी चाहिए जो इन्हें एक लोटा पीने का पानी और थोड़ा जलपान ला दे। कोई खेतों की रखवाली करता है, तो दूसरा चाहिए जो घरों पर ढोरों को चरा दे और उन्हें आवश्यकतानुसार चरा ले आये, तीसरा चाहिए जो घर में भोजन की सामग्री दे। औरतों को भी कामों की कमी नहीं है जो बाहर पुरुषों की सहायता नहीं कर सकतीं, उन्हें कूटना है, पीसना है, पकाना है, दूध-दही का प्रबन्ध करना है और भोजन बनाकर सब लोगों को खिलाना-पिलाना है। इस जीवन में

हरेक व्यक्ति के लिए काम रक्खा हुआ है। यही कारण है कि कृषि-युग का व्यक्ति अधिक से अधिक सन्तान का भूखा रहता है। परिवार का विस्तार जीवनोपयोगी कार्य की आवश्यकता पर निर्भर है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। हमारे यहाँ उच्च वर्णों के ही पास अधिकांश जमीन है इसके लिए उनमें ही प्रधान रूप में सम्मिलित परिवार मौजूद है; परन्तु अन्य वर्णों में भी जिन परिवारों के पास पर्याप्त खेत हैं, उनमें यह प्रणाली मौजूद है। हमारा एक परिचित परिवार है, जिसमें प्रायः ८० व्यक्ति हैं, परन्तु इनकी जातिवाले सम्मिलित परिवार में बहुत कम रहते हैं।

कृषि-जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है कि यह एक आर्थिक इकाई है। जीवनोपयोगी अधिकांश सामान किसान पैदा कर लेता है और परिवार उसका उपभोग करता है। सामान्य आवश्यकता के लिए ही थोड़े उत्पादन बेचे जाते हैं। परन्तु आज के युग ने किसान का स्वावलम्बन तोड़ दिया है। अपने गैहिक उद्योगों में वह कृषि से बचा हुआ समय देता था, पैसों के लिए नहीं, परिवार की आवश्यकता के लिए। वे समाप्त हो गये और उन सामानों के लिए उसे बाजार का मुँह ताकना पड़ता है। दूसरी ओर अपने सामान के लिए उसे प्रतियोगिता करनी पड़ती है; देश के नहीं, संसार के यन्त्रचालित कृषि के फार्मों से। लड़ाई के पहले तक उसके अनाज बखारों में सड़ते थे। इसके साथ ही कृषि की उत्पादिका शक्ति समाप्त होती जा रही है और हमारी जनसंख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है।

ऐसी स्थिति में किसान अन्य क्षेत्रों की ओर भी झाँकने लगा है। उसके व्यक्ति पूर्व की ओर दौड़े नौकरी ढूढ़ने के लिए, कोई सिपाही बना कोई दरवान। कुछ सम्पन्न परिवारों के किसानों को वकीलों की शान ने ललचाया और उन्होंने अपने बच्चे स्कूलों में भेजना आरम्भ किया। धीरे-धीरे किसानों का सम्पर्क अन्य व्यवसायों से हुआ। मनी-आर्डर से आये रुपयों से उसने नये काम करने शुरु किये, कुछ खेत खरीदा, कुछ लोगों को सूद देकर महाजन बना, कुछ मुकदमेबाजी में

भी लगाये, और कुछ जीवन की दूसरी आवश्यकताओं की पूर्ति में व्यय किये। परन्तु उसके परिवार में एक चौड़ी दरार पड़ गई, जिसे उसने देखा भी नहीं। बाहर रहने वालों का व्यक्तित्व परिवार से स्वतंत्र हो गया। उनका सम्मान, उनका व्यक्तिगत रहन-सहन, कपड़े-लत्ते बदले। उनकी स्त्रियों को सुगन्धित तेल का शौक पूरा होने लगा, कुछ नई शान की साड़ियाँ खरीदी जाने लगीं। परिवार की समता समाप्त हो गयी। ऐसे लोग स्वयं पिता की आज्ञा से अपने को बन्धा नहीं मानते हैं वरन् उनकी ही कमाई पर आश्रित रहने के कारण पिता ही उनका लिहाज करते हैं। दूसरे लोगों के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न होना, तथा खेती से ही कुछ इधर-उधर करके थोड़े रुपये-पैसे इकट्ठे कर लेने की कुभावना जगना स्वाभाविक है। एक अनुभवी वृद्ध का कहना है कि भाई दाँत हैं; जब तक सटे रहते हैं, बड़े उपयोगी होते हैं परन्तु हिल जाने पर उखाड़ कर अलग कर देना ही उचित है। वस्तुतः सम्मिलित परिवार हिल गये हैं। हमारी भावना, हमारा संस्कार इसके पक्ष में है। हम हिल जाने पर भी उखाड़ना नहीं चाहते, बनाये रखना चाहते हैं। इसका फल यह होता है भीतर ही भीतर गन्दगी पैदा हो जाती है और तहस-नहस होने पर ही हम मार-पीट, झगड़ा-झंझट कर के सम्पत्ति बाँटते हैं।

जिस किसान के घर का कोई व्यक्ति बाहर नहीं जाता, सब के सब खेतों में ही काम करते हैं, उसकी आर्थिक स्थिति नष्ट हो जाती है, आज के युग में वह खड़ा नहीं रह सकता। मध्यम श्रेणी के अच्छे-अच्छे किसान इसी चपेट में समाप्त हो गये। उनकी जमीन बिक गयी और वे ऋण से लद गए। इस विपत्ति से बाध्य होकर उनका सम्मिलित परिवार समाप्त हो गया। इन दोनों स्थितियों में यह पद्धति नष्ट हो गयी और आज हम उसकी ठठरी ढो रहे हैं।

(२) प्रतियोगितात्मक संस्कृति के कारण आज का युग व्यक्तिवादी बन गया है। युग की सारी प्रेरणायें उसी ओर ले जा रही हैं। (विस्तार के लिए देखें, समाज की भूमिका का प्रतियोगिता-प्रसंग)

व्यक्ति जिस-किसी भी क्षेत्र में है, बढ़ना चाहता है, समाज के दूसरे सदस्यों से ही नहीं, अपने भाइयों से भी। अपने साथ लम्बे परिवार का बोझ उठा कर ले चलना कठिन है। अस्तु वह हल्का बन जाना चाहता है। सम्मिलित परिवार की आधारशिला मिटा डाली है और सम्मिलित परिवार के विघटन ने इसकी ओर प्रश्रय दिया है। यह पारस्परिक सहायता का वृत्त चक्कर काटता रहता है।

(३) किन्हीं किन्हीं अवस्थाओं में पुत्रियों को भी अधिकार दिया गया है। इसने भी थोड़ी सहायता इस विघटन में की है यद्यपि इसका दान नगण्य है।

विशेष द्रष्टव्य—युद्ध-जनित खाद्यान्नों की मँहगी ने किसानों की पारिवारिक भावना में एक परिवर्त्तन किया है। जिन किसानों के खेतों में इतना अन्न नहीं उत्पन्न होता कि सारा परिवार भरपेट खाकर कुछ बचा ले, उन किसानों की पारिवारिक शृङ्खला और भी टूट गई, आर्थिक संकट ने उनकी कमर तोड़ दी। परन्तु जिसको खाकर कुछ भी बचा लेने योग्य अन्न हो जाता है, वे चाहे सुखी न बने हों किन्तु उनकी दशा सुधर गयी। साथ ही उन्होंने यह अनुभव किया कि खेती नौकरी से कम उत्पादक नहीं है। खेती और नौकरी की समानता ने टूटते हुए संयुक्त परिवारों को थोड़ी देर के लिए बचा लिया, परिवार के नौकरी करनेवाले तथा कृषक एक कोटि में आ गये। पर यह सुदिन क्षणिक था, अब बीतने लगा है।

विघटन का फल

ऊपर कहा जा चुका है कि सम्मिलित परिवार की हम ठठरी ढो रहे हैं। वस्तुतः उस पद्धति की नींव खिसक चुकी है, हम निराधार खड़े हैं, परन्तु उछल कर दूसरी शिला पर चले जायँ, युगल परिवार को ही दृढ़ कर लें, यह भी नहीं हो सकता। हम इधर हैं न उधर हैं, बीच में त्रिशंकु की तरह लटक रहे हैं। इससे हमारा सामाजिक जीवन दूषित हो रहा है। घर में तनाव की स्थिति बनी रहती है। अभी

हँस-हँस कर बातें कर रहे हैं, और अभी झगड़ा-हल्ला आरम्भ हो जाता है। घर अखाड़ा बना रहता है। प्रेम की वह शीतल छाया, त्याग की वह प्रेरणा समाप्त हो चुकी है। इसके निम्नलिखित फल होते हैं—

(१) घर के पिता और वृद्ध जो आदर, सम्मान के पात्र थे, जिनकी आज्ञा देवता की तरह मानी जाती थी, आज अनादर और असम्मान के पुतले बने हुए हैं। वे अपने जीवन भर परिवार की नैया सम्मिलित रूप में खे ले जाना चाहते हैं। इसलिए सबको सदा प्रसन्न करते रहते हैं। सबके उलाहने, सब की कटु बातें चुपचाप पी जाते हैं, और छिपाकर, ऋण लेकर सब की आवश्यकताओं की पूर्त्ति की चेष्टा में रहते हैं; अपने लिए खाने-पीने की कोई चिन्ता नहीं रखते, अन्य लोग उनके लिए चिन्ता करना जरूरी नहीं मानते। यह स्थिति घर के उस पिता की है, जो ईमानदार, नेक और सन्तानों पर समान प्रेम करने वाले हैं। इसके अतिरिक्त एक और प्रकार के पिता होते हैं, जो किसी-न-किसी पुत्र से विशेष प्रेम करने लगते हैं। इनके प्रेम के तीन आधार होते हैं—(क) स्वार्थवश सबसे सुखी, या सबसे पढ़ा-लिखा पुत्र इनका प्रिय हो जाता है, (ख) दयावश सबसे दुखी और साधनहीन पुत्र पर सारा प्रेम बरस पड़ता है, (ग) प्रेम का कोई सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक कारण होता है जिससे इनके वात्सल्य में अन्तर पड़ जाता है। कभी-कभी बड़ा पुत्र और कभी-कभी सबसे छोटा प्रियपात्र बनता है, मँझला बहुत कम। इसीलिए सामान्य तथा घर में मँझला पुत्र ही विघटन का कारण बनता है। वह स्वार्थी, सन्देहशील और हीनता की ग्रन्थि से ग्रस्थ हो जाता है।

इस खींचतान में बुढ़े बेचारे की दुर्गति है। यदि सब लोगों ने, अपनी-अपनी हाड़ी (रसोई) बाँट ली तो बूढ़ा-बूढ़ी को भरपेट अन्न भी शायद ही किसी दिन समय पर आदर के साथ मिल पाता है। एक परिचित वृद्ध जीवन भर बड़ी शान से रहे, बुढ़ापे में तंग आ गये। चार पुत्र थे, चारों सम्पत्ति बाँट लेना चाहते थे, किन्तु बूढ़ा जानता था कि अलग होने पर भरपेट अन्न मिलना भी मुहाल हो जायगा,

शान की तो बात ही अलग है। पंच इकट्ठे हुए। सब ने कहा—"आप की क्या है, चार लड़के हैं। एक-एक ग्रास देगें तो चार ग्रास होंगे।" बूढ़ा बोला—"ठीक है, परन्तु यदि सभी एक-एक लात मारेंगे तो चार लात होंगे।"

भारतवर्ष में तो न तो जीवन बीमा की व्यवस्था है, न बुढ़ापे का कोई प्रबन्ध। ऐसी स्थिति में वृद्धों की दुर्गति का अनुमान आसानी से किया जा सकता है।

(२) जब तक अपना अपना नहीं होता तब तक सम्मिलित कार्य की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। शक्ति नष्ट हो जाती है, कोई भी काम देखने वाला नहीं होता। देखा-देखी इतनी बढ़ जाती है कि अधिक से अधिक हानि होती रहे तो भी सब एक दूसरे की ओर ताकते हैं। फलतः उत्पादन बहुत कम हो जाता है। कभी-कभी तो चोरी भी की जाती है। सम्मिलित परिवारों में खेत से बीज चुरा लेने वाले आदमी मिलते हैं। ऐसी स्थिति में अन्न क्या होगा? एक देहाती कहावत है "साझे की सुई बाँस पर चलती है।" सम्मिलित परिवारों के कार्यों पर ठीक वही चरितार्थ होता है।

उत्पादन नष्ट हो जाने के साथ ही बरबादी भी बहुत बढ़ जाती है। कोई देखने वाला नहीं होता, बरबाद करने वाले सब होते हैं। इस दृष्टि से कई सम्मिलित परिवारों का मैंने निरीक्षण और विश्लेषण किया है, ऐसे घरों में देखा है कि अन्न आँगन भर बिखरे रहते हैं, सेरों अनाज जूठा फेंका जाता है। परन्तु अलग हो जाने पर आँगन में कहीं एक कण भी नहीं मिलता, और न कहीं जूठे का दर्शन होता है।

उत्पादन के अभाव और अधिक व्यय का फल यह होता है कि सम्पत्ति धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है और ऋण बढ़ जाता है। जब बँटवारा होता है तो सब को आखें खुलतीं हैं, सब एक दूसरे को दोष देने लगते हैं, पर "अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत।" परन्तु यह पश्चात्ताप भी कभी-कभी नहीं होता, सिर-फुटौवल अवश्य होती रहती है।

(३) इस मानसिक विकृति उत्पन्न करने वाले क्षुब्ध वातावरण में हर एक व्यक्ति भविष्य की चिन्ता से ग्रस्त रहता है। वह दिन-रात काँपता रहता है कि उसका भाग दूसरे खाये जा रहे हैं। भविष्य की अरक्षा, विपत्ति आँखों के सामने नाचती रहती है; कोई भी अपने को सुरक्षित नहीं अनुभव करता। इस मानसिक स्थिति का जो परिणाम होना चाहिए, वही होता है। हर व्यक्ति जिद्दी, चिड़चिड़ा, सन्देहशील, चिन्ताग्रस्त, आलसी और दुःस्वप्न देखनेवाला बन जाता है। उत्साह, कार्य की प्रेरणा, प्रसन्नता कहीं देखने को भी नहीं मिलती। सब लोग स्वास्थ्य, मानसिक शान्ति, सुख-निद्रा खो बैठते हैं।

(४) इस वातावरण का सबसे बुरा प्रभाव पड़ता है बालकों की मनोवृत्ति पर। इस दिन-रात के संघर्ष, हल्ला-गुल्ला, चोरी, छिपौवल और घृणा के सन्निकर्ष में वे नीच विचार और नीच प्रवृत्ति ग्रहण कर लेते हैं। एक दूसरे पर सन्देह और छिपाकर काम करने की मनोवृत्ति उनके जीवन को दूषित कर देती है। संघर्ष यदि स्पष्ट और कुछ दूर का होता है तो आपस की एकता और सहयोग दृढ़ बनता है। परन्तु यहाँ संघर्ष अस्पष्ट रहता है, उनसे संघर्ष होता है, जो अपने हैं, जिनका दिन-रात का साथ है और जिनके सहयोग के बिना एक दिन भी नहीं चल सकता। अस्तु इसमें आँख छिपा-छिपा कर काम करने होते हैं। झूठ का पूरा सहारा लेना पड़ता है। माता-पिता बच्चों से भी इस काम में सहायता लेते हैं। विशेषतया घर की सम्मिलित चीज चुराकर बेचने में लड़कियों की सहायता बड़ी मूल्यवान् होती है। इसलिए ऐसे घरों में लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ अधिक सन्देहशील, झगड़ालू, चौर्य्य रोग से ग्रस्त और ईर्ष्या से रग-रग भरी हुई हो जाती हैं। लड़कों पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। परन्तु लड़के सारा समय घर में ही नहीं बिताते, स्कूल जाते हैं, बाहर खेलते और दूसरे कार्यों में भी लगे रहते हैं। भारतीय लड़कियों के लिए बाहर बहुत कम स्थान है। इसलिए वे ही बिचारी इस वातावरण को अधिक शिकार होती हैं और जहाँ इनकी शादी होती है, वहाँ भी यह मनोवृत्ति लिए जाती हैं।

मनोवैज्ञानिकों ने दुर्बल मानसिक स्थिति और अपराधी बालकों के दृष्टान्तों का जो अध्ययन किया है, उसके फलस्वरूप इन विकृतियों के अनेक कारणों का पता लगता है, उनमें कई कारण अशान्त परिवार की भी देन हैं। यह अशान्ति गर्भावस्था से ही अपना काम करना आरम्भ कर देती है। विविध अव्यवस्थाओं और दिन-रात के झंझटों से मातायें उपयुक्त शान्त स्थिति में नहीं रह पातीं, क्रोध, ईर्ष्या आदि उत्तेजनाओं से अभिभूत रहा करती हैं। इसका कुफल गर्भ के बच्चे पर भी पड़ता है और उसमें मानसिक दौर्बल्य आ जाता है। जन्म के पश्चात् विभिन्न बच्चों से विषम व्यवहार भी ऐसे परिवारों में देखा जाता है। फलस्वरूप बच्चे विभिन्न मानसिक ग्रन्थियों से ग्रस्त हो जाते हैं। बच्चों में अपराधी मनोवृत्ति उभाड़ने वाली परिस्थितियों में अशान्त तथा आनन्दहीन परिवार का भी प्रधान हाथ रहा करता है; इसे कोई इन्कार नहीं कर सकता। बच्चों के सम्पर्क तथा उपयुक्त विकास के लिए जितना आवश्यक माता का दूध है, उतना ही आवश्यक पारिवारिक शान्ति, पारस्परिक सद्व्यवहार तथा आनन्दपूर्ण मधुर वातावरण भी है।

सम्मिलित परिवार का भविष्य

सम्मिलित परिवारों की स्थिति आज इतनी डावाँडोल तथा अस्वस्थ हो रही है कि कई विद्वान् इसके घोर विरोधी हो गये हैं। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में इस प्रकार के विचार रखना स्वाभाविक है। किन्तु समस्या इतनी सरल नहीं है। पुत्रों को सयाने होते ही अलग कर देने से हमारे कृषि-प्रधान जीवन में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी। आज उत्तराधिकार के जो नियम हैं उनके अनुसार सम्पत्ति सभी पुत्रों में बराबर बाँटनी होगी। इससे खेतों के और टुकड़े हो जायँगे। कृषि व्यर्थ और हानिप्रद व्यवसाय बन जायगी। प्रथम योजना आयोग ने प्रान्तीय सरकारों से खेतों के सम्बन्ध में पूरे विवरण माँगे थे। उनके अनुसार विभिन्न प्रान्तों में आर्थिक-जोत से कम कितने जोत (Holding) हैं, इसका थोड़ा आभास मिल जाता है।[1] यदि

१. विस्तृत विवरण के लिए प्रथम योजना देखें।

वैज्ञानिकता के सहारे ५ एकड़ से ऊपर के सारे जोत लाभप्रद बना दिये जायँ तो भी ५० से लेकर ९४ प्रतिशत के जोत अनार्थिक (Uneconomical) ही रहेंगे। आज तो एक हल का जोत प्रायः १०-१३ बीघे से कम नहीं माना जाता और कम से कम आर्थिक जोत है १० एकड़। चाहे जो हो, इस अनार्थिक जोत वाले परिवारों में बड़ी संख्या उनकी भी है जो एकाध पीढ़ी पहले संयुक्त परिवार में थे और सुखी किसान माने जाते थे। बचे हुए संयुक्त परिवार का विनाश खेतों के और भी छोटे-छोटे टुकड़े कर देगा और उन्हें नष्ट हो जाना पड़ेगा। इसलिए संयुक्त परिवार के विनाश का अर्थ होगा गाँवों की मध्यम श्रेणी को समाप्त करके उन्हें दरिद्र बना देना। उनकी इस दरिद्रता से यदि समाज के आदर्श को कुछ भी लाभ पहुँचने की आशा होती तो चिन्ता नहीं थी; किन्तु लाभ के बदले हानि ही होगी और इसका प्रभाव सम्पूर्ण ग्रामीण-आर्थिक-व्यवस्था, ग्रामीण-समाज और ग्रामीण-मनोवृत्ति पर पड़ेगा और बुरे रूप में पड़ेगा।

युगल परिवार कृषि के लिए उपयुक्त नहीं पड़ते। कृषि एक ओर सामूहिकता माँगती है, दूसरी ओर अनेक पूरा, आधा और थोड़ा-थोड़ा समय देने वाले छोटे-बड़े दुबले-पतले हाथ। एक व्यक्ति घर देखेगा तो खेत नष्ट होंगे, और खेत देखेगा तो दरवाजे पर पशु खूँटों में पगहा तोड़ेंगे। घर की रखवाली करेगा तो खेत पशु चर जायँगे, पक्षी नष्ट कर देंगे, या चोर चुरा ले जायँगे। वेतनभोगी साल-भर लगे रहने वाले नौकर-चाकरों के बल पर वही लाभ उठा सकते हैं, जिनके पास काफी खेत हो। यह कठिनाई उन जातियों और वर्गों के लिए और भी बढ़ जायगी जिनमें स्त्रियाँ खेतों में सहायता नहीं करतीं। जिन समाजों में स्त्रियों से प्रत्यक्ष सहायता मिलती है वहाँ भी यह तभी काम की होती है, जब घर में कई स्त्रियाँ हो, कोई रसोई आदि घर का काम-काज देखे और कुछ खेतों पर पुरुषों के साथ काम करें। युगल परिवार का अर्थ ही है घर में अकेली स्त्री, सामान्यतया एक व्यक्ति अपनी स्त्री और छोटे-छोटे बच्चों की सामान्य सहायता से अधिक से अधिक २-३

एकड़ जमीन आबाद कर सकता है। इतनी जमीन सिरतोड़ परिश्रम करने पर भी आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं बनाई जा सकती। ऐसे परिवार सदा ऋण में डूबे रहते हैं, और सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं। किन्तु सम्मिलित रूप में, ऐसे दो व्यक्तियों के परिवार १४-१५ एकड़ जमीन आसानी से आवश्यक विश्राम करते हुए जोत-बो सकते हैं। यही कारण है कि फटे हुए संयुक्त परिवारों की अप्रतिष्ठा हो जाती है और वे शीघ्र ही आसमान से धरती पर आ गिरते हैं।

आर्थिक दृष्टि से ग्रामीण समाज का बोझ और बढ़ जायगा। आज तो संयुक्त परिवारों के नवजवान एक बार घर से बाहर निकलने का प्रयत्न करते ही हैं। यदि काम मिल गया तो ठीक है, अन्यथा मुँह लटका कर घर लौट आते हैं। यह इसीलिए सम्भव होता है कि घर पर भाई, चाचा काम देखते हैं। परन्तु प्रौढ़ होते ही, यदि अपना घर और अपने खेत का छोटा सा टुकड़ा सँभालना पड़ा तो आज की कृषि मनोवृत्ति और अनिश्चित अवस्था में कोई घर नहीं छोड़ेगा। किसान का बच्चा सब कुछ छोड़ सकता है, किन्तु अपना खेत नहीं। यदि खेत नहीं सँभले तो वह घर से तभी निकलेगा, जब दाने-दाने को मुँहताज हो जायगा। इस कृषि-प्रेम का कारण है सुरक्षा और निश्चिन्तता। नौकरी पानी का बुलबुला है। व्यापार भाग्य का खेल; जिस पर पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता। परन्तु खेत स्थित है, पैतृक है, भरपेट नहीं तो आधा पेट अन्न तो दे ही देंगे। जो कृषक परिवार केवल खेती पर ही निर्भर करते हैं, उनकी आर्थिक दशा बिगड़ जाती है। कृषि से उत्पन्न वस्तुओं के मूल्य का कोई ठिकाना नहीं रहता और न वे सदा आज के जीवन के लिए आवश्क पैसे ही दे सकती हैं, उसका दान ऋतुकालीन और सामयिक रहता है। इसलिए जिन परिवारों में कृषि के साथ ही अन्य आधारों से असमय में आय की व्यवस्था हो जाती है, वे ही परिवार आज के युग में टिक सकते हैं। युगलपरिवार एक ही आधार पकड़ सकता है। १९३१-३४ की मन्दी के समय कृषकों का ऋण बेतरह बढ़ गया था, और जिनके पास कोई बाहरी आमदनी नहीं थी वे डोल

गये थे। युद्ध और महँगी से थोड़ा परिवर्तन हुआ है, और कृषक भी अपने खेतों के बल पर टिक सकता है, किन्तु तो भी उसका स्वावलम्बन इतना विश्वसनीय और स्थायी नहीं है।

विभिन्न प्रान्तों के गमन और आवागमन के आँकड़ों से स्पष्ट है कि मद्रास, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश से गमन करने वालों की संख्या आगमन से बहुत अधिक है। इनमें मद्रासी अपने साहस के बल पर प्रवास करते हैं, घर का मोह छोड़ कर। किन्तु उत्तर प्रदेश के निवासी प्रवास भी करते हैं और अपने घरों की ओर भी ताकते रहते हैं। उनका परिवार घर पर रहता है, घर की देखभाल भाई करते हैं। उनका प्रवास संयुक्त परिवार की परिपाटी पर ही सम्भव हो सकता है। सम्मिलित परिवार यदि नष्ट हो जाय तो इनके लिए घर छोड़ना असम्भव बन जाय। उड़ीसा से बाहर जाने वालों में दोनों प्रकार के व्यक्ति मिलेंगे, घर ताकने वाले भी और घर का मोह छोड़ कर जाने वाले भी। उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग बहुत पहले से घना बसा हुआ है। ह्वेनसांग (त्वान-च्वाङ) ने भी अपनी यात्रा के विवरण मे इनकी घनी आबादी का उल्लेख किया है। फलतः खेत अत्यन्त छोटे-छोटे हैं। उत्तर प्रदेश में ० से ५ एकड़ तक ८१·२ प्रतिशतक जोत आ जाते हैं। पूर्वी भाग में यह प्रतिशतक और भी अधिक होगा। यही कारण है कि यहाँ से प्रवास बहुत होता है। मैंने गत वर्ष उस क्षेत्र के एक बड़े पोस्ट आफिस से पता लगाया तो ज्ञात हुआ कि साल भर में प्रायः सवा लाख रुपये मनी आर्डर से तथा सवा लाख रुपए बीमा से आये। हाथों-हाथ कितना आया इसका पता पाना कठिन है। वास्तव में अनार्थिक जोतों की अधिकता के कारण इस क्षेत्र में संयुक्त परिवार समाप्त हो जाने चाहिए थे; किन्तु यहाँ की परिस्थिति-विशेष में प्रवासी इस परिवारिक प्रणाली को जिलाये हुए हैं, यद्यपि सामान्य रूप में नौकरी और प्रवास इसके कार्य में बाधक ही सिद्ध होते हैं।

पश्चिम के युगल परिवारों की परिपाटी विकसित पूँजीवाद की देन है। वहाँ कोई पिता अपनी सन्तानों से सहायता की आशा नहीं

करता; और न सास पतोहू की सेवा पर निर्भर करती है। इसलिए वहाँ की सारी व्यवस्था व्यक्तिगत परिवार को केन्द्र मान कर की जाती है। एक विद्वान् का कहना है कि इंग्लैण्ड की सारी जमीन केवल दो प्रतिशतक मनुष्यों के हाथ में है। खेत अपने परिवार के व्यक्तियों की सहायता से नहीं आबाद होते; मशीनों के द्वारा आबाद होते हैं। इसलिए संयुक्त परिवारों की कोई आवश्यकता नहीं है। सारी जनसंख्या नौकरी, दूकानदारी, मजदूरी आदि ऐसे धन्धों में लगी रहती है जिसमें सम्मिलित परिवार की आवश्यकता का कहीं अनुभव नहीं हो पाता। केवल उत्पादन की दृष्टि से ही नहीं, सामाजिक तथा राजकीय व्यवस्था की दृष्टि से भी व्यक्ति को आत्म-निर्भर करने का अधिक-से-अधिक प्रयत्न होता है। बुढ़ापे और विपत्ति में, असमर्थता तथा बेकारी में संयुक्त परिवार सबसे अधिक सहायक हैं और ऐसे ही समय उसकी महत्ता अधिक दिखलाई पड़ती है। हमारे यहाँ एक बूढ़ा अपनी सन्तानों तथा उनके बाल बच्चों पर पूर्णतया निर्भर करता है। सामान्य किसान न तो बचाकर वृद्धता के लिए कुछ रख सकता है और न रख पाता है। नौकरी और मजदूरी करने वालों के लिए अनिवार्य बीमा है, प्राविडेण्ट फण्ड है किन्तु किसान के लिए एक परिवार ही बीमा और प्राविडेण्ट फण्ड है। उसकी आय का जिस प्रकार अनियमित तरीका है, उसमें वह बीमा नहीं करा सकता। इन सब के नष्ट हो जाने पर या फेल कर जाने पर पश्चिम में वृद्धता की पेंशन भी मौजूद है। एक भारतीय सज्जन स्विट्ज़रलैण्ड का एक वृद्ध-भवन देखने गये। वहाँ राजकीय व्यय से बूढ़ों के रहने की उपयुक्त व्यवस्था है। एक बूढ़े से बातें हुईं, पता चला, उसका लड़का कहीं इंजीनियर है। हमारे यहाँ ऐसे व्यक्ति ऐसे स्थलों में न तो रहना चाहेंगे न कोई रखने के लिए तय्यार होगा और न कहीं कोई ऐसी व्यवस्था है अथवा निकट भविष्य में होने की आशा है। इतना होने पर भी इंग्लैण्ड आदि में बूढ़े एक समस्या हो रहे हैं और चिन्ता हो रही है कि इनका क्या किया जाय। आयुमान बढ़ गया है, किन्तु कार्य से विरत होने की अवस्था

वही है, फलतः बेकार बूढ़ों की संख्या बढ़ती जा रही है। हमारे यहाँ एक बड़े भाग की समस्या संयुक्त परिवार हल कर लेता है। जिनमें संयुक्त परिवार नहीं है, उनमें भी थोड़ी-बहुत संस्कारगत भावना मौजूद है। शेष या तो अपनी धरी कमाई खाते हैं या स्थायी सम्पत्ति बेंच कर गुजर करते हैं, अथवा कोई साधन नहीं रहने पर भिक्षा और अन्यों की दया पर जीते हैं। संयुक्त परिवार का विघटन वृद्ध भिखमंगों की संख्या और भी बढ़ा देगा।

संयुक्त परिवार का सदस्य रोग और असमर्थता की अवस्था में सेवा और सहायता का पूरा पात्र माना जाता है। भारत में ऐसे पंगुओं की संख्या प्रायः ९ लाख है, जिन्हें थोड़ा-बहुत काम में लगाया जा सकता है। इनमें कुछ प्रतिशतक भीख मागते हैं और कुछ संयुक्त परिवार में अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करके अपना दिन काट लेते हैं। इंग्लैण्ड में ऐसे पंगुओं को काम में लगा दिया गया है, तो भी ४ प्रतिशतक पंगु बेकार पड़े हुए हैं। भारत में इन्हें काम देने का कोई प्रबन्ध नहीं है। इसी तरह यूरोप में बेकारों की संख्या काफी रहा करती है। १९२९-३० की मन्दी के समय हरेक १५ या २० मजदूर पर एक मजदूर बेकार था। किन्तु वहाँ बेकार होते ही एक व्यक्ति कार्य विनिमय कार्यालय (Employment Exchange office) में जाकर रजिस्ट्री करा लेता है और दूसरे मास से उसे बेकारी का भत्ता मिलना आरम्भ हो जाता है। जिस पंगु या प्रौढ़ व्यक्ति को कोई नौकरी या जीने का साधन नहीं है वह भी ऐसा ही करता है। भारत का मजदूर बेकार होते ही घर की ओर दौड़ पड़ता है या भिक्षापात्र लेता है और भूखों मरता है। क्या भारत के कृषिप्रधान जीवन में बुढ़ापे का और बेकारी का भत्ता अभी सम्भव जान पड़ता है? ऐसी स्थिति में एक आँख नौकरी और मजदूरी पर और दूसरी आँख संयुक्त परिवार में खेती सँभालने वाले भाइयों के कार्यों पर रखना ही क्या भावी सुरक्षा की दृष्टि से एकमात्र पथ नहीं है?

उत्तराधिकार के नियम बदल कर निम्नतम आर्थिक जोत से कम

खेतों का बँटवारा रोक देना भारत की वर्तमान अवस्था में सम्भव नहीं जान पड़ता; किन्तु यदि यह सम्भव हुआ तो सम्मिलित परिवार के भी नव-रूप का नवनिर्माण कृषि-जीवी परिवारों में असम्भव नहीं होगा। इस नये नियम के कारण परिवार अधिक अलग नहीं होंगे। बँटवारा आसान नहीं होगा। जिसे खेत मिलने की आशा होगी, वह क्षतिपूर्ति जुटाने में असमर्थ होगा और जिसे नहीं मिलेंगे उसे निराश्रित हो जाने का भय होगा।

आज के कृषिप्रधान जीवन में संयुक्त परिवार एक आधार है, इन्हें नष्ट होने देना कभी भी कल्याणप्रद नहीं हो सकता। संयुक्त परिवार का प्रश्न देश के एक स्वस्थ वर्ग का प्रश्न है। इसकी संख्या क्या है, यह बतलाना कठिन है। किसी भी जनगणना में इसके लिए प्रयास नहीं किया गया।

इसलिए देश की किसी भी व्यवस्था में हम इतनी बड़ी संख्या की उपेक्षा नहीं कर सकते, इससे जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग प्रभावित होगा। यदि हमारा आज का ही दृष्टिकोण रहा तो, और इसी प्रकार सम्मिलित परिवार विघटित हो गए तो निकट भविष्य में केवल ग्रामीण-जीवन ही कष्टप्रद तथा विशृङ्खल नहीं होगा वरन् सम्पूर्ण देश के स्वस्थ वातावरण के विकास में बड़ी बाधायें आयेंगी।

सम्मिलित परिवार का भविष्य क्या होगा, और इसे कैसे सुधारा जाय, यह प्रश्न भी आवश्यक परन्तु थोड़ा टेढ़ा है। वास्तव में आज देश महान संक्रान्ति काल से गुजर रहा है; आर्थिक क्षेत्र में यह सबसे उलझनमय है। हम अनेक प्रयोग कर रहे हैं और हमारे स्वप्न बहुरूपी हैं। वास्तविक और ठोस जगत में चरितार्थ करने की दृष्टि से इन स्वप्नों में कभी-कभी निराशाजनक परस्पर विरोध दिखाई पड़ता है इसलिए उसके सम्बन्ध में कुछ निश्चित कह सकना असम्भव है। परिवार का स्वरूप सम्पूर्ण समाज के स्वरूप के साथ सम्बन्धित है। वस्तुतः "गृह सामाजिक परिवर्तन का मापक है।[१] सम्पूर्ण समाज की छाप,

१. The house is the barometer of the social change, Problems of modern society by P. W. Paustian.

अथवा सम्पूर्ण समाज का भार इसमें मापा जा सकता है और और देखा जा सकता है। आर्थिक जीवन का प्रभाव केवल हमारे चूल्हे, हमारी थाली तथा वस्त्रों पर ही नहीं पड़ता, हमारी मनोवृत्ति पर भी पड़ता है। संयुक्त परिवार कृषि-जीवन में उत्पादन की इकाई था इसलिए वह उससे थोड़ा-बहुत सीधा सम्बन्धित है।

सहकारी खेती सफल हो जाने पर खेती के लिए संयुक्त-परिवार की आवश्यकता कम पड़ जायगी। ऐसी स्थिति में युगल परिवारों की वृद्धि होगी। खेती के लिए आवश्यक नहीं होने पर भी सामाजिक कार्यों के लिए, सुरक्षा के लिए, वृद्धता के लिए, इसकी आवश्यकता रह ही जायगी। उस स्थिति में संयुक्त परिवारों को समवाय परिवार (Corporate families) का रूप देना अधिक उत्तम होगा। उस सहयोग-प्रधान वातावरण में उसके लिए मनोवृत्ति भी प्रस्तुत मिलेगी। समवाय परिवार में व्यक्ति अपना स्वतन्त्र विकास करने में उतना ही बन्धनहीन रहेगा जितना युगल परिवारों में। सब का अपना-अपना परिवार अलग-अलग होगा, और उसी की प्रधान जिम्मेवारी उसके प्रधान पुरुष पर होगी। उसकी कमाई, उसकी आय अपनी होगी, किन्तु कई कार्यों के लिए प्रत्येक युगल या लघु-परिवार सम्मिलित परिवार के बन्धन में होगा, उसके निर्णय सम्मिलित होंगे और उसके पालन की जिम्मेवारी सब पर होगी। कृषि की आय का एक भाग इस सम्मिलित परिवार द्वारा व्यय होगा।

यदि सहकारी खेती सफल नहीं हुई तो क्या अभी संयुक्त परिवारों को समवाय-परिवार का रूप नहीं दिया जा सकता? आज भी यह कार्य हो सकता है, परन्तु यह उन्हीं परिवारों में सम्भव है, जिनके पास बड़ी स्थायी सम्पत्ति हो। जिनके पास इतनी ही जोत है कि वे स्वयं शरीर से परिश्रम करके अपना पेट भर लेते हैं, उनके यहाँ यह सम्भव नहीं होगा। आज समवाय परिवार का अर्थ है कृषि को एक व्यवसाय मान लेना और उस पर काम करने वाले परिवार के व्यक्तियों को उचित पारिश्रमिक देना। अन्य व्यवसाय करने वाले जिस प्रकार

अपना स्वतन्त्र काम करते हैं और उसकी आय केवल अपने लिए रखते हैं उसी तरह खेती करने वालों को भी अपना पारिश्रमिक स्वतन्त्र रूप में रखने की स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। अन्तर इतना ही होगा कि अन्य लोग अन्यत्र काम करते हैं, खेती करने वाले समवाय-परिवार के कार्यकर्त्ता होंगे। आज की स्थिति में इस प्रकार वही खेती सफल हो सकती है, जो बहुत बड़ी हो; किन्तु वर्तमान युग में – और वह भी राज्य द्वारा अधिक-से-अधिक खेत की सीमा (Ceiling) निर्धारित करने के बाद, हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। इसलिए संयुक्त-परिवार और उसके सुधरे रूप समवाय-परिवार आज एक आदर्श की समस्या हैं, और रहेंगे भी।

युगल परिवार (Conjugal family)

अपने मूल रूप में युगल परिवार पश्चिम के देशों में ही पाये जाते हैं। वहाँ परिवार का अभिप्राय होता है स्त्री-पुरुष तथा उनकी नाबालिग सन्तान। माता-पिता और प्रौढ़ बालक परिवार के सदस्य नहीं समझे जाते। भारतवर्ष में यह भावना किसी भी जाति या वर्ग में नहीं पाई जाती। इसलिए यहाँ इस अर्थ में इसका प्रयोग नहीं हो सकता। वे छोटे-छोटे परिवार, जिनमें स्त्री-पुरुष तथा उनके बच्चे ही अधिकांश सम्मिलित हों, युगल कहलायेंगे। बहुत प्राचीन काल से ही जब सम्मिलित परिवार टूट जाते हैं तो कुछ दिनों के लिए कई युगल परिवारों में बँट जाते हैं। इनके अतिरिक्त समाज के कई वर्गों में जीवन-विधि तथा आर्थिक स्थिति भी युगल परिवारों की सृष्टि कर दिया करती है। जिसके पास स्थायी सम्पत्ति नहीं होती और जो अपने श्रम के बल पर ही जीते हैं, जो माता-पिता से शरीर तथा काम की थोड़ी शक्ति ही विरासत में पाते हैं, उनके लिए विस्तृत परिवार सम्भव नहीं हो पाते और वे प्रौढ़ होते ही अपना अलग घर बसा लेते हैं। माता-पिता या तो किसी-न-किसी पुत्र के साथ रह जाते हैं, या अलग ही अपने दिन काट लेते हैं। भारतीय समाज में सम्मिलित परिवार ही उत्कृष्ट और आदर्श

माना जाता है; इसलिए यथासाध्य सभी वर्गों और समाजों के लोग उसे बनाये रखना चाहते हैं, कम-से-कम माता-पिता के जीवन काल तक निभा ले जाने की भावना सब में रहती है। स्थायी सम्पत्ति वाले तथा न्यूनतम आर्थिक जोत से अधिक की खेती करने वाले—चाहे अपने खेत हों या बटाई अथवा मालगुजारी पर दूसरों से लेकर करें, सम्मिलित परिवार को काफी दिनों तक निभा ले जाते हैं। शेष लोगों को इसमें कठिनाई पड़ती है। सम्मिलित परिवार को स्थिर करने या तोड़ने में जीवन-विधि के साथ ही जातीय परम्परा तथा संस्कार भी बहुत अधिक हाथ बँटाता है। सामान्यतया आर्थिक परिस्थिति तथा संस्कृति का योग इतना घना जान पड़ता है कि इन्हें अलग करना कठिन है। युगल परिवारों की परम्परा वाली जातियों में भी कृषि का सिलसिला बढ़ा लेने पर सम्मिलित परिवार की प्रवृत्ति आ जाती है।

कारीगरों के परिवार का रूप, उनके कार्यों पर ही अधिक निर्भर करता है। उनमें कई अपने अकेले बूते पर काम करते हैं, तथा उन्हें जिस प्रकार की सहायता अपेक्षित होती है, वह परिवार के व्यक्तियों से ही मिल जाती है, इसलिए इनमें युगल-परिवार की ही प्रधानता है। बुनकर ताने-बाने में दो-तीन आदमियों से सहायता लेता है, परन्तु करघे पर अकेले ही खटता है। बढ़ई, लोहार तथा कुम्भकार की स्थिति भिन्न है, उन्हें अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ सहायता की अपेक्षा रहती है। आरा चलाने के लिए कम-से-कम दो मजबूत पुरुष अनिवार्य हैं। हथौड़ा चलाना, लोहा पीटना, भाथी फूँकना आदि कार्यों में सक्षम पूरक श्रम के बिना काम नहीं चल सकता। एक कहावत है—दो बढ़ई, तीन लुहार, बाल-बच्चे खटे कुम्हार।

इनके अतिरिक्त नौकरी से जीवित रहने वाले शिक्षित वर्ग तथा नगर-निवासी मध्यश्रेणी में भी यह परिपाटी प्रचलित तथा विकसित हो गई है। इस तरह युगल परिवार तीन वर्गों में पाया जाता है : बुद्धि तथा मसि-जीवी मध्यवर्ग, मजदूर और कारीगर। स्वतंत्र कारीगरों की संख्या उतनी नहीं रह गई। उनका एक बड़ा भाग या तो वेतनभोगी

नौकर या मजदूर हो गया है ; पर अपनी कारीगरी पर ही कम निर्भर करता है और अपने व्यवसाय से ही सम्बन्धित छोटा-छोटा दूकानदार बन गया है। लुहारों की अपनी भाथियाँ चलती हैं, परन्तु उनके धूएँ में काफी कमी आ गई है। मिलों के बने लोटे के सामान, बर्तन और हथियार, वे थोड़ा इधर-उधर करके अधिक बेचने लगे हैं। बुनकर तो बहुत पहिले ही समाप्त हो चुके हैं और उनका एक बड़ा भाग खेतिहर मजदूर बन गया है। बिहार के ताँती आज काम से ताँती नहीं रहे, खेतों में काम करना और पालकी ढोना ही उनका व्यवसाय है। बुनकरों को एक जीवित वर्ग बनाने की प्रेरणा दी। खद्दर एक प्रतिष्ठित पोशाक तो बना, किन्तु सर्वसाधारण के परिधान में सम्मिलित नहीं हो सका। इसलिए खादी के उत्पत्ति-केन्द्रों के आसपास कुछ बुनकर दिखाई पड़ जाते हैं ; परन्तु स्वल्प संख्या के कारण इनकी कोई अलग श्रेणी नहीं बन सकी। चाहे जो हो, इनमें से अधिकांश की समस्यायें मजदूरों से भिन्न नहीं हैं।

अस्तु युगल-परिवारों में केवल शिक्षित मध्यश्रेणी तथा श्रमिक इन दोनों की समस्याओं में ही सम्पूर्ण का अन्तर्भाव हो जाता है। मजदूरों में दो वर्ग करना आवश्यक है :—(१) खेतिहर मजदूर, (२) उद्योग के मजदूर।

औद्योगिक मजदूरों के परिवार

हमारे उद्योग में पैतृक श्रमिकों का, एक प्रकार से नितान्त अभाव है। अधिकांश मजदूर दूर-दूर के क्षेत्रों से आते हैं। कैलिफोर्निया के १२४३ मजदूरों की पैतृकता का हिसाब लगाया गया था। यह देखा गया कि अकुशल मजदूरों में से ४१·७ प्रतिशतक के लड़के मजदूर ही

हैं और १६·५ प्रतिशतक के अर्द्ध-कारीगर। इसका अर्थ यह है कि कम से कम ५८·२ प्रतिशतक मजदूर पैतृक हो गए हैं। यदि यहाँ हिसाब लगाया जाय तो कम-से-कम ९० प्रतिशतक गाँवों से आये हुए होंगे। इसलिए उनमें से अधिकांश अपने परिवार छोड़कर आते हैं। शहरों में नारियों की संख्या अत्यन्त कम है। मिलों के आस-पास सभी जगह प्रायः यही स्थिति है। सबसे निकट १९४९–५० में मजदूरों के सम्बन्ध में आँकड़ा इकट्ठा किया गया था। उसके अनुसार सारे देश में २७,७४, ५५७ प्रौढ़ कार्यकर्त्ता हैं, जिनमें केवल ३,४२,१४८ अर्थात् १२·३ प्रतिशत ही स्त्रियाँ हैं। यदि मद्रास तथा चाय बागान, बम्बई को छोड़ दिया जाय तो यह प्रतिशतक और भी कम हो जायगा। क्योंकि पर्दा-प्रथा के अभाव के कारण वहाँ नारी कार्यकर्त्ताओं की संख्या काफी है; पुराने मद्रास में ८६,८१० तथा बम्बई में ८१,५३३। अनेक कारणों से चाय बागानों में ४७·२ प्रतिशतक सम्पूर्ण तथा ४६·६ प्रतिशतक प्रौढ़ायें हैं। खानों में ९६,५०६ या २०·५ प्रतिशतक स्त्रियाँ १९५० में काम करती थीं; किन्तु १९५२ के खदान-नियम (Mines Act of 1952) के पश्चात् यह संख्या बेतरह घट गई है; क्योंकि इसके अनुसार कोई भी स्त्री जमीन के नीचे काम नहीं कर सकती, साथ ही रात में भी काम करना विवर्जित है। ये सारी महिलायें किसी परिवार से ही सम्बन्धित हैं, तथा किसी-न-किसी श्रमिक की पत्नियाँ हैं, यह समझना भी भूल है। बहुत-सी विधवायें, परित्यक्तायें, अपहृतायें, तथा बदनाम स्त्रियाँ भी मिलों में भरी पड़ी हैं।

१९४९-५० में कुछ उद्योग-क्षेत्रों में पुरुषों तथा स्त्रियों की संख्या का हिसाब निम्नलिखित था :—

स्थान	पुरुष			स्त्रियाँ		
	कमाने वाले	निर्भर	कुल	कमाने वाली	निर्भर	कुल
कलकत्ता	१·३१	०·१५	१·४६	०·०९	१·२१	१·३०
हबड़ा	१·४१	०·१८	१·५९	०·१६	१·२५	१·४१
खड़गपुर	१·३९	०·१३	१·५२	०·१२	१·४०	१·५२
अहमदाबाद	१·३८	०·१४	१·५२	०·१६	१·१५	१·३१
बम्बई	१·२८	०·०९	१·३७	०·२४	१·०६	१·३०
शोलापुर	१·४४	०·२३	१·५७	०·३९	१·२३	१·६२
डालमिया नगर	१·४३	०·३५	१·७८	०·१५	१·५८	१·७३
जमशेदपुर	१·२२	०·१०	१·३२	०·०९	१·१८	१·२७
झरिया	१·१५	०·०३	१·१८	०·७३	०·३८	१·११
मुंगेर	१·४६	०·२५	१·७१	०·०६	१·६९	१·७५

यह हिसाब यों असन्तोषजनक नहीं है, परन्तु यह न तो पूर्ण विश्वसनीय है; और न मिल-क्षेत्र की सामान्य पारिवारिक स्थिति का परिचायक। हरेक अनुभवी व्यक्ति यह जानता है कि राशन की सुविधा मिलने से मजदूरों ने अपने परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ा-चढ़ा कर लिखा दी थी। इसमें कितना असत्य है, यह बतलाना कठिन है; परन्तु वह नगण्य नहीं है, यह दावे के साथ कहा जा सकता है। साथ ही इस सुविधा से प्रेरित होकर श्रमिक अपने घरों से अपना परिवार भी उठा लाये थे। उस समय गाँवों का जीवन बहुत महँगा हो गया था। जिसे नौकरी वाले सँभाल नहीं सकते थे। सन् ५१ में नागरिकों की जनसंख्या ४१ से ५४ प्रतिशतक बढ़ गई थी, जब कि सन् ३१ में २१ तथा सन् ४१ में ३२ ही वृद्धि की गति थी। इस ५४ में इस प्रवृत्ति का भी थोड़ा-बहुत हाथ है। चाहे जो हो, परिवार साथ रखने की इस प्रवृत्ति से सामाजिक, परिवारिक स्थिरता तथा जीवन-रस की वृद्धि हुई है। परन्तु घर पर स्त्रियाँ कुछ-न-कुछ काम कर लिया करती हैं, मिल-

क्षेत्रों में कोई वैसी सुविधा नहीं मिल पाती, फलतः इससे बोझ बढ़ गया था। १९५२ के बाद राशन की व्यवस्था ढीली हो गई, और गाँवों का जीवन ही सस्ता होने लगा। इससे श्रमिकों में से भी एक बड़े वर्ग ने अपने परिवार हटा दिये। यदि आजकल फिर माप हो तो स्थिति बदली हुई दिखाई पड़ेगी।

महिलाओं के अभाव से मजदूरों में पारिवारिक शैथिल्य आ जाता है जिसे प्रवास और तज्जन्य प्राथमिक समुदाय का विलोपीकरण एवं वासस्थल के अभाव और भी बढ़ा दिया करते हैं। ये मजदूर अधिकांश अपना गाँव और समाज छोड़कर एक दूसरे समाज में आते हैं, इससे पुराने समाज के बन्धन, उसके आदर्श और मूल्य तथा संस्थाओं की गम्भीरता नये समाज के सम्पर्क में अपनी शक्ति खो देती है, उनकी हार्दिकता तथा बन्धनकारिणी प्रेरणा नष्ट हो जाती है। जो प्राथमिक समुदाय के अस्तित्व का आभास, लिहाज, समनुज्ञायें (Sanctions) और स्वीकृतियाँ मानव को निर्धारित पथ से विरत होने में सतत बाधा डाला करती हैं, उसके सामने नहीं रह जातीं। यहाँ वह अपरिचितों तथा अर्द्ध-परिचितों के बीच रहता है। उनकी स्वीकृति का उसके सामाजिक-जीवन के लिए बहुत ही कम मूल्य है। इसलिए प्रसिद्ध समाजशास्त्री सोरोकिन ने प्रवास तथा स्थानान्तर को सामाजिक संस्थाओं का विनाशक माना है। वह कहता है :—

"प्रवास एक ऐसा तत्त्व है, जो सांस्कृतिक-ग्रन्थि की जीवनी-शक्ति घटा देता है; उसका प्रवाह कमजोर कर देता है और इसके विघटन की—तथा इसके द्वारा किसी समाज या सामाजिक-संस्था के दीर्घकालीन अस्तित्व के विघटन की, सुविधा प्रदान कर देता है।[1]"

मनुष्य अपरिचितों के बीच समाज के बन्धनों की चिन्ता नहीं

---

१. "Mobility is a factor which shortens the longevity of a culture complex, weakens its continuity and facilitates its disintegration and through this the long existence of a society or social institution". —Social Mobility.

करता। एक ग्रामीण कहावत है कि एक लड़का असभ्य बातें कर रहा था। किसी ने टोका और समझाने की चेष्टा की। उसने कहा—"यहाँ कोई मुझे पहचानता थोड़े है, जिसके सामने संकोच करना पड़े।" बहुत कुछ यही, मानसिक स्थिति अपने प्राथमिक समुदायसे अलग होकर, ऐसे लोगोंके बीच चले जानेसे उत्पन्न हो जाती है, जिनमें आदर, निरादर, सत्कार और विरक्ति का मूल्य नहीं होता और जिनमें घुल-मिल जानेकी कोई चिन्ता नहीं होती।

वासस्थान परिवारिक-जीवन को सुव्यवस्थित रखने के लिए उपयोगी साधन है। आवश्यक घर, परिवारका आवश्यक सम्पर्क उसकी मनोवृत्तियोंपर नियंत्रण करते हैं, और उसकी कुमार्गोन्मुख भावनाको संयत करके उसका उचित पथ देते हैं। वस्तुतः गृह परिवार का एक विश्रामस्थान है, जो अपनी सुखद-छाया में गृह-वासियों को एकता का, प्रेम का शीतल सन्देश देते रहता है। किन्तु घर से प्रेम रखनेवाला ग्रामीण जब मिल के विचित्र, गृह-विहीन तथा निर्लज्जतापूर्ण वातावरण में रहने लगता है तो उसकी विचित्र मानसिक-स्थिति हो जाती है। सरकार द्वारा प्रकाशित 'भारत में समाज कल्याण' (Social welfare in India—1955-56) नामक पुस्तक में श्री जयकर साहब ने ठीक ही कहा है कि "संकीर्णता अत्यन्त भीड़, एक तरह से वेश्यावृत्ति का रोग बढ़ा देती है,"[1] वहाँ वह अपना परिवार रख नहीं सकता, रखने पर निर्लज्ज बन जाना पड़ता है। स्थायी वासस्थानका प्रबन्ध हो जाने पर, कई उच्छृंखलतायें स्वतः समाप्त हो जायँगी। और वह खेतिहर मजदूरों की मानसिक स्थिति में आ जायगा, उसका पड़ोस थोड़ा बहुत स्थायी हो जायगा और एक प्रकार से प्राथमिक समुदाय बना लेगा, जिसकी स्वीकृतियों, अस्वीकृतियों, मान-अपमान, घृणा-प्रशंसा आदि द्वारा उसका जीवन, नये सिरे से ही सही, संचालित और नियन्त्रित होने लगेगा।

यायावर या खानाबदोश बिना स्थायी निवास के भी अपनी गति,

---

१. Congestion and overcrowding, in a way, fosters the analady of prostitution.

अपना जीवन चला ले जाते हैं, किन्तु दूसरे ऐसा नहीं कर सकते। यायावरों को दो बड़ी सुविधायें हैं। (१) वे अपने प्राथमिक समुदाय में रहते हैं। जहाँ जाते हैं, सारा कुटुम्ब, ग्राम, या टाँडा साथ-साथ जाता है। अपने समुदाय की प्रथायें कहीं भी आवश्यक रूप में ढीली नहीं होने पातीं। (२) उनके सामने प्रकृति का खुला क्षेत्र पड़ा रहता है जिनमें विचरते हुए वे सदा प्राण तथा जीवनी-शक्ति पाते रहते हैं। श्रमिकों और नगर-निवासियों का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित रहता है, जहाँ वे हिल-डुल भी नहीं सकते। इसलिए गृह के अभाव का अर्थ हो जाता है, गन्दगी, महा अस्वास्थ, अप्राकृतिक वातावरण और असभ्य जीवन। जिन यायावरों का प्राथमिक समुदाय बिखर गया है, या शक्तिहीन हो गया है, वे भ्रष्ट हो चुके हैं। कुछ के तो समुदाय चोरी, डकैती और व्यभिचार के अड्डे बन गये हैं। ऐसे यायावरका जीवन अनुकरणीय नहीं है, समाज के लिए एक सिरदर्द है। हम यदि चेतेंगे नहीं तो श्रमिकों को भी एक मानसिक-भ्रष्ट समुदाय बना देंगे।

गृह-निर्माण की आवश्यकता के आँकड़े तैयार करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं हुआ है। प्रथम राष्ट्रिय योजना आयोग ने प्रधान औद्योगिक शहरों में गृह-अभाव के साधारण हिसाब लगाने की चेष्टा की थी। ३७ ऐसे शहरों में जिनकी जनसंख्या १७,१४,५६० थी, प्रायः ४,५४,९०० श्रमिकों को शीघ्र ही घर की आवश्यकता थी। वातावरण स्वास्थ्य समिति (Environmental Hygene Committee) का अनुमान है कि शहरी क्षेत्रों में १८४ लाख घर आवश्यक हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के समय तक इस दिशामें कोई विशेष सुधार नहीं हुए हैं। इस योजना समिति ने स्वीकार किया है कि 'मालिकों की ओर से इस दिशा में आरम्भिक प्रेरणा नहीं दिखायी गयी है और श्रमिकोंकी सह-योग समितियों ने भी इस परिस्थिति से कोई लाभ नहीं उठाया है।

इस सामान्य नारी-अभाव तथा गृह-हीनता के साथ ही मजदूरों के काम की परिस्थिति भी नितान्त अस्वाभाविक तथा अमनोवैज्ञानिक है। सबसे बड़ी बात है सिर पर सदा लटकने रहनेवाला खतरा। प्रायः

सभी मिलों तथा खदानों में बड़ी भयङ्कर स्थिति में काम करना पड़ता है। बिजली, भट्टी, गर्म लोहा आदि के बीच मौत से खेलकर मजदूर अपने पेट में दो मुट्ठी अन्न डाल पाता है। दुर्घटनाओं की लम्बी तालिका उपस्थित करना नहीं चाहता; परन्तु सन् १९५१ और ५२ की संख्या देने का लोभ भी संवरण नहीं कर सकता।

साल	मिलों की दुर्घटनायें,	मृत्यु,	खानों की दुर्घटनायें,	मृत्यु,
१९५१—	७५,७१३,	२३४,	२५,६१८	४२५
१९५२—	८१,६४५,	२४६,	३,८८७	४५३

यह तालिका पूर्ण है या नहीं, यह कहना कठिन है। चाहे जो हो, इतना स्पष्ट है कि इसमें सुधार कम हो रहा है। ऐसे खतरों के बीच सदा रहना मानव को किस मानसिक-स्थिति में रख देता है, यह अनुभव करना ऐसे किसी भी व्यक्तिके लिए आसान है, जो कभी स्वयं खतरे में रहा हो। सहसा और क्षणिक आया हुआ खतरा मानसिक गति को अचल तथा निष्क्रिय बना देता है। किन्तु सदा रहने वाला खतरा निष्क्रिय तो नहीं करता, मानवता का बहुत बड़ा अंश छीन लेता है तथा मनुष्य विचित्र कुण्ठा का शिकार हो जाता है। ऐसी स्थिति में जीवन के प्रति शान्त, दयापूर्ण तथा स्वाभाविक दृष्टिकोण नहीं रहने पाता। इस मानसिक स्थिति की छाप उसके सम्पूर्ण जीवन और परिवार पर भी पड़ती है। सामाजिक आदर्श की चेतना लुप्त हो जाती है, तथा मनुष्य वासना-प्रधान हो जाता है। अश्लीलता उसके लिए कोई बुरी चीज नहीं रह जाती। युद्ध के समय सैनिकों की मनोवृत्ति भी कुछ वैसी ही होती है। फौजी छावनियों के आस-पास अश्लीलता तथा वासना ताण्डव नृत्य करने लगती है। वीरों की वासना-लीला संसार के साहित्य में प्रसिद्ध है। कई चरित्रवान् सैनिक मरने के लिए प्रस्तुत होने के समय विवाह के लिए व्यग्र हो उठते हैं। हिटलर ने मृत्यु-विभीषिका के बीच पाणि-ग्रहण का अभिनय किया था, ऐसा कहा जाता है। श्रमिक स्त्रियों के अभाव में तरह-तरह की विकृतियों का, वेश्यागामिता का शिकार हो जाता है।

सैनिकों तथा श्रमिकोंके सामने उपस्थित रहने वाले खतरों के स्वरूप तथा उनकी सामाजिक मानसिक प्रतिक्रिया में बड़ा अन्तर है। सैनिक का खतरा सम्मानजनक है, युगों से वह प्रतिष्ठा का कारण होता आया है। इसलिए उसमें उत्साह का संचार करने की शक्ति है। उत्साह का अर्थ ही है वृद्धि तथा प्रफुल्लता (Elation or Elatedness)। इसकी भावना से कण्ठमणि (Thyroid gland) से एक ग्रन्थिरस (Hormone) चूता है, जो शरीरपोषण तथा वृद्धि में भी बहुत अधिक सहायक होता है। श्रमिकों के खतरे सदा बने रहने के कारण भयप्रद तो नहीं रह जाते, परन्तु सम्मान तथा उत्साह के जनक भी नहीं हो सकते।

ऐसी मानसिक स्थिति और प्राणहानि की सन्तत भावना मानव में आक्रामक प्रवृत्ति जगाती है। वह मरना चाहता है, पर साथ ही मारना भी। यदि और किसी को कष्ट नहीं दे सकता तो अपने को ही कष्ट दे लेता है। इसे मनोवैज्ञानिक ताड़न-वेग या वृत्ति (Mesochism) कहते हैं। सैनिक यह वेग शत्रु पर या शिकार में तुष्ट कर लेता है। यदि वहाँ अवसर नहीं मिला तो राह चलते व्यक्तियों को यों ही पीट देना, किसी के भी साथ छेड़खानी कर लेना उसके लिए स्वाभाविक हो जाता है। साधारण लोग उससे भय खाते हैं, इस बड़प्पन की भावना से उन्हें आत्म-सन्तोष होता है, और उनकी ताड़न-वृत्ति तुष्ट हो जाती है। श्रमिक समाज का असम्मानित प्राणी है, किसी दूसरे पर क्रोध झाड़ने का अवसर उसे नहीं मिल पाता। इससे उसको आपस में गाली-गलौज करके ही अपना वेग शान्त करना पड़ता है। यदि इससे भी तृप्ति नहीं हुई तो वह परिवार में अपने बाल-बच्चों पर बरसता रहता है। एक कहावत है—"क्रोध बड़ा चतुर होता है, पात्र देखकर ही उबला करता है।" मजदूर बिचारे का क्रोध भी ऐसा ही है।

यह ताड़न-वृत्ति ही नहीं, अस्वस्थ वातावरण के काम तथा थकावट भी पारिवारिक अशान्ति का कारण बनती है। मिलों में जितना परिश्रम करना पड़ता है, उससे कई गुना गन्दे वातावरण के कारण थका-

वट हो जाती है। भारतवर्ष सामान्यतया एक गर्म देश है, जहाँ साल के ३-४ महीनों को छोड़ कर कभी भी शरीर से कम तापमान वातावरण में नहीं रहता। मिलों में तो और भी बिजली तथा जलती भट्टियों के बीच, एवं खदानों में पृथ्वी की सतह के नीचे पाताल में रहना पड़ता है। किन्तु केवल पड़े रहना नहीं पड़ता, हाड़-तोड़ मिहनत करनी पड़ती है। इसके साथ ही आस-पास तथा भीतर कच्चे माल के ढेर और सड़ी चीजों के कारण, दमघोंटू धूएँ में महा अस्वस्थ आवेष्टन बना रहता है। मिलों की स्थापना स्वास्थ्य की दृष्टि से नहीं, कच्चे माल की दृष्टि से, बाजार का विचार करते हुए, की जाती है। फलतः अधिकांश उद्योग अस्वस्थ जलवायु में ही स्थित हैं। इससे अधिकांश श्रमिकों के चेहरे काले पड़े रहते हैं तथा वे सदा अश्रान्त बने रहते हैं। यह एक स्वीकृत तथ्य है कि शिराओं को शिथिल कर देने वाला परिश्रम बुद्धि तथा सामान्यज्ञान (Common sense) में भी शैथिल्य ला देता है। बुद्धि काम नहीं कर पाती, इसलिए नैतिकता का बन्धन भी ढीला हो जाता है। एक विद्वान् का कथन है कि—"शिराओं की शिथिलता विवेक-बुद्धि में भी ढीलापन ला देती है।"[1]

अपनी स्त्रियों को मार डालनेवाले दो कैदियों से बातें करने का जेल में अवसर मिला है। दोनों की हत्याओं का सम्बन्ध अत्यधिक थकावट से ही था। वे स्वयं अपनी मानसिक उत्तेजना को इसी से उत्पन्न मानते थे। उनमें एक का कहना था कि "थक कर चूर हो जाने के कारण उसे रोज क्रोध आ जाया करता था। उसकी स्त्री भी इससे अभ्यस्त हो गई थी। इसलिए भयभीत नहीं होती थी, और उबल भी पड़ती थी।" हत्या के दिन भी यही हुआ और पुरुष ने अपना पौरुष प्रदर्शित कर दिया। वास्तव में मजदूरों के परिवार की वास्तविक स्थिति की भित्ति का यह एक नमूना है। यदि दोनों काम करते हैं तो दोनों वेग के शिकार होते रहते हैं। कहा जाता है कि—"हल से छूटा बर्द,

१. Insensibility of nerves leads to insensibility of conscience.

काम से छूटा मर्द" दोनों खूँखवार हो जाते हैं। इसका अर्थ है सतत अशान्ति, चिड़चिड़ापन तथा गालीगलौज और मारपीट। यदि स्त्री नहीं भी काम करती तो भी सहने की एक सीमा होती है।

काम के समय होनेवाले अपमानों और उससे उत्पन्न आन्तरिक वेग को सदा पीना पड़ता है; और उसका बदला भी मजदूर घर पर लेता है। डा० मजूमदार ने अपनी स्त्री को पीटनेवाले एक 'हो' मजदूर का उल्लेख करते हुए लिखा है—"ठीकेदार के हाथों जो बर्ताव हुआ, पीटना उसी के विरुद्ध प्रतिशोध था। उसने बतलाया, मैं उसे तब पीटता हूँ, जब पी लेता हूँ और मैं इसलिए पीता हूँ कि पीना उसे भुला देने में सहायक होता है, जिसे मैं अन्यथा सह भी नहीं सकता।"[1]

गृह-कलह, मारपीट, अपमान तथा थकावट एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। मजदूरों में अपने को, अपनी परिस्थिति को और अश्रान्ति को भुलाने के लिए शराब का दौर बढ़ जाता है। टालस्टाय का कहना है कि "शराब पी जाती है अपनी विवेक-बुद्धि मारने के लिए।" चाहे उद्देश्य यह हो या नहीं, इतना सही है कि वह विवेक-बुद्धि को सुप्त कर देती है। इसीलिए डाकू और हत्यारे डाका डालने और हत्या करने के पहले इसका सेवन कर लेते हैं। मजदूरों में भी सामाजिक चेतना का ह्रास और विवेक-बुद्धि का विनाश इसका परिणाम है। ये श्रमिक जिन जातियों तथा वर्गों से आते हैं, उनमें से एक बड़े भाग में शराब और ताड़ी का सेवन अपराध नहीं माना जाता, वरन् परम्परागत रूप में उनका प्रचलन रहता है। गाँवों में पैसों के अभाव में वे पियक्कड़ कम बन पाते हैं; परन्तु साप्ताहिक मजदूरी इसकी आदत बढ़ा देती है। थकावट, अपनापन भुलाने की चेष्टा, संसर्ग, गाँवों में जिनके भय से पीने में हिचकते थे, उनकी अनुपस्थिति आदि कई कारणों से यह व्यसन अत्यधिक जोर पकड़ लेता है।

उसके जीवन की नीरसता का एक और मनोवैज्ञानिक कारण है। इसे प्राचीन कारीगर, बुनकर तथा खेतिहरों के समान संसर्गीय-श्रम का

१. देखें, The Affairs of a Tribe.

(Companionate labour) आनन्द नहीं मिल पाता। मानव का श्रम बहुत बार जिसके साथ काम करना पड़ता है, उसके संसर्ग से मिलने वाले रस के कारण भी आनन्दमय हो उठता है। रहीम की नायिका प्रियतम के साथ मिलकर काम करने से मिलनेवाले आनन्द में मग्न होकर घर में लगी आग को भी वरदान ही मानती है[1]।

खदानों में स्त्री-पुरुष मिलकर जितना काम करते हैं, उससे आधे से भी कम काम पुरुष अकेले कर पाता है।[2] इसके साथ ही वह मिल द्वारा प्रस्तुत या निर्मित वस्तुओं में अत्यन्त श्रम-विभाजन के कारण अपनेपन का आरोप नहीं कर सकता, अपना मानकर उनसे सन्तुष्ट नहीं हो सकता। फलतः उसकी खटनी कोरी खटनी मात्र रह जाती है, जो कुछ पैसे थकावट तथा बाध्यता की भावना के सिवाय और कुछ नहीं दे पाती। कुछ श्रम-मनोवैज्ञानिकों का सुझाव है कि आज की भारी भरकम मशीनों में ऐसा परिवर्तन होना चाहिए जिससे श्रमिक निर्मित वस्तुओं से अपना कुछ-न-कुछ सम्बन्ध स्थापित कर सकें। परन्तु इस दिशा में प्रगति होने की कोई क्षीण आशा भी नहीं दिखाई पड़ती। श्रमिकों के इस नये प्रश्न को ध्यान में रखते हुए श्री गोविन्द स्वामी ठीक ही कहते हैं :—

"एक गाँवों का रहनेवाला जन-समाज, उद्योग के कार्यकर्त्ताओं के रूप में मैली-कुचैली गन्दी बस्तियों (Squalid slums) में सहसा स्थानान्तरित कर दिये जाने पर सामाजिक सन्तुलन के लिए नयी समस्याएँ उत्पन्न कर लेता है। वहाँ वह अपने को एक नये आवेष्टन में पाता है, जहाँ घर तथा परिवार के स्थिर तथा तथा संयतकारी प्रभाव नहीं रह जाते।" एवं "अरक्षा, लघुता, अन्याय और निराशा की धारणा प्रायः व्यग्रता, संघर्ष तथा तोड़-फोड़ की क्रियाओं की ओर

---

१. आगि लागि घर जरिगा, बड़ भल कीन।
पिय के हाथ घइलवा, भरि भरि दीन॥

२. स्पष्टीकरण के लिए देखें—मेरी 'समाज की भूमिका' का सहयोग प्रकरण।

ले जाती है। जीवन की इन परिस्थितियों में डंक का तीखापन मन्द करने के लिए मजदूर शराबखोरी का सहारा पकड़ता है।[१]

समाज के इस वर्ग में व्याप्त अरक्षा की भावना तथा जीवन-व्यय का प्रश्न, इन दोनों विषयों पर इतना लिखा और कहा जाता है कि मैं इनके विश्लेषण से पुस्तक का कलेवर नहीं बढ़ाना चाहता। अपने घर और गाँव का प्रिय वातावरण ये लोग इसीलिए छोड़ते हैं कि पेट की ज्वाला से बाध्य हो जाते हैं। यहाँ आने पर नियमित मजदूरी तो मिलती है, परन्तु अनेक कारणों से विचारे वहाँ भी ऋण के भयङ्कर चक्र में पड़ जाते हैं। सन् १९४९ में मजदूरों के जीवनव्यय का जो हिसाब लगाया गया था, उसके अनुसार केवल खड़गपुर, अहमदाबाद, बम्बई, निनसुकिया में ही १०) मासिक से थोड़ा अधिक प्रति परिवार बचा पाता है। डालमिया नगर तथा मुंगेर में केवल कहने भर की बचत है, शेष स्थानों में तो व्यय भी नहीं चल पाता। यह हिसाब सरकारी राशन की दर से लगाया गया है। विवाह, श्राद्ध, रोग, बीमारी, अनुपस्थिति आदि का विचार इसमें नहीं किया गया है। भारतीय मिलों तथा खदानों में अनुपस्थिति का प्रतिशतक भी, कई व्यक्तिगत तथा सामाजिक कारणों से, बहुत अधिक है। मिलों में १० से २५ प्रतिशतक तक तथा खदानों में २५ से ३० तक। इन सबका फल यह होता है कि मजदूर चोटी तक कर्ज में डूब जाता है। सन् १९३१ के ह्विटले कमीशन ने हिसाब लगाया था कि कम-से-कम दो तिहाई मजदूर अथवा उनके परिवार ऋणग्रस्त थे। परन्तु उसके बाद जो मजदूर-विभाग (Labour office) की ओर से सरकारी आँकड़े इकट्ठे किये गये, उसके अनुसार इसका रूप और भी भयङ्कर निकला। बम्बई में ७५ प्रतिशत तक तथा मद्रास में ९० प्रतिशतक मजदूर-परिवार विभिन्न रूपों में ऋण के बोझ से दबे हुए थे। आज भी इस स्थिति में तनिक भी सुधार नहीं हुआ है। उद्योग क्षेत्रों में सूद की दर गला घोंट देनेवाली है। कई बार

१. देखें—Social Welfare in India का Socio-Psychologial, and Mental Hygiene Problems. निबंध।

अकुशल और अर्द्ध-कुशल मजदूर ही नहीं, कुशल मजदूर भी ऋण से घबड़ा कर अपनी रोटी का साधन छोड़ भाग खड़े होते हैं।

मजदूर अपनी मजदूरी के स्थायित्व पर कभी भरोसा नहीं कर सकता। हर क्षण बेकार होने का भय बना रहता है। छँटनी, हड़ताल, तथा नई श्रम बचाने वाली या मानवीय श्रम का स्थान लेनेवाली मशीनें, श्रम की बचत करनेवाले उपाय (Rationalisation) तथा तज्जन्य पुनर्गठन सदा सिर पर लटके रहते हैं। इन सब का गहरा प्रभाव, आर्थिक और शारीरिक के साथ ही, मानसिक रूप में भी पड़ता है; और गैरजिम्मेवारी, अल्हड़पन, भावुकता तथा वेग का दौर आता ही रहता है।

इन विभिन्न कारणों से उत्पन्न श्रमिकों के पारिवारिक जीवन की विशृंखलता—हम उसे विघटन नहीं कहेंगे, किस सीमा तक पहुँच चुकी है और यह विष किस हद तक और कितने प्रतिशतक मजदूर-परिवारों में प्रवेश कर गया है; यह बताना कठिन है। इसके लिये विभिन्न क्षेत्रों में प्रतीकात्मक माप (Sample survey) आवश्यक है। सम्बन्ध-विच्छेद के आँकड़े तथा तत्सम्बन्धी कचहरियों के मामलों से पश्चिमी देशों में इस विषय का आभास मिल जाया करता है। परन्तु हमारे यहाँ उसके लिये भी रास्ता बन्द है। हमारे देश में विवाहों की रजिस्ट्री नहीं होती। अधिकांश विवाह शास्त्रीय या यों कहिये कि जातीय लोकाचारों के आधार पर होते हैं और उनके विच्छेद भी उन्हीं नियमों से शासित होते रहते हैं। बहुत थोड़े मामले कचहरियों में आ पाते हैं। अधिकांश यों ही पिता-माता तथा जातीय पंचायतों के द्वारा प्रथा के अनुसार हल कर लिये जाते हैं। सरकार की ओर से श्रम-कल्याण विभाग की सहायता से यह कार्य कर लेना उतना कठिन नहीं है; परन्तु अभी तक हुआ नहीं है। पंचवर्षीय-योजना ने व्यवसाय-संघों (Trade associations) को सलाह दी है कि उनके द्वारा संचालित गवेषणा संस्थायें अपनी खोज उद्योग में यन्त्र और पद्धति (Technique) सम्बन्धी-सुधारों—उदाहरणतया नवीन यन्त्रों तथा

नवीन प्रगतियों तक ही सीमित नहीं रखें। ऐसी संस्थाओं को उत्साहित करना चाहिये कि वे अपने कार्य बढ़ायें ताकि एक विस्तृत क्षेत्र तक उदाहरणतया औद्योगिक मनोविज्ञान एवं मानवीय समस्याओं के अन्वेषण तक उनकी पहुँच हो सके। ये सामान्य रूप में उद्योग की उन्नति के लिए समान ही महत्त्व रखते हैं[१]। औद्योगिक मनोविज्ञान तथा मानवीय समस्याओं का उत्पादन से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज मजदूरों के व्यक्तिगत जीवन की हम उपेक्षा नहीं कर सकते; उनकी विशृङ्खलता तथा अनमनापन उत्पादन पर सीधा असर डालता है। किन्तु आज की भारतीय मनोवैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में परिवार एवं परिवार के व्यक्तियों के प्रति श्रमिक का व्यवहार और उसके प्रति उनका बर्ताव ही उसकी मानसिक स्थिति का सच्चा मापक है। श्रम तथा परिवार बड़े घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं। इसलिये यदि श्रम-मनोविज्ञान को सही रूप में समझना है तो परिवार से ही आरम्भ करना चाहिये और उसका विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करके आगे बढ़ना चाहिये।

कई उद्योगों ने श्रम-मनोवैज्ञानिकों (Labour Psychologists) की नियुक्ति की है, किन्तु अधिकांश अपना कार्यक्षेत्र मिलों तथा उसके श्रम तक ही सीमित रखते हैं, उसकी पृष्ठभूमि और आधारशिला की ही उपेक्षा करते हैं। इसलिये यह एक अनिवार्य कार्य यों ही उपेक्षित पड़ा है। हमारी सार्वजनिक संस्थाओं के पास इसके लिये पर्याप्त साधन नहीं हैं। चाहे जो हो, अलग-अलग स्थानों तथा समाजों की अलग-अलग संस्कृति है तथा सम्बन्ध-विच्छेद के नियम कहीं सरल और कहीं कठोर हैं। इन्हीं के अनुसार ये विच्छेद कहीं कम और कहीं अधिक होते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, उद्योग-क्षेत्रों में अपनी संस्कृति तथा लोकाचार के विपरीत आचरण अपेक्षाकृत सरल हैं। इसका प्रभाव पड़ता ही है। इसके अतिरिक्त हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि सम्बन्ध-विच्छेद ही विशृङ्खलता नहीं है, दिखावटी सम्बन्ध

१. देखें, First Five years Plan P. 588

बना रहकर भी यह विष समाज-शरीर को जर्जर बना सकता है। इतना होने पर भी मेरा अनुमान है कि श्रमिक परिवारों का ५० प्रतिशतक उतना सन्तुष्ट है, जितना सामान्य परिवार रहा करते हैं और जितना उसे परिस्थिति, वातावरण और आर्थिक स्थिति में सम्भव है तथा यदि मनमुटाव और कलह के अवसर आते हैं तो टल जाते हैं अथवा 'आरम्भ गुर्वी क्षयणी क्रमेण' के अनुसार प्रारम्भ में गम्भीर होकर भी शीघ्र ही मिट जाते हैं। ३५ प्रतिशतक का जीवन अशान्त और कलहपूर्ण है तथा शेष का विशृङ्खल।

श्रमिकों के जीवन को सुखी बनाने तथा सामाजिक स्तर ऊँचा उठाने के लिए उनमें नैतिक चेतना भरना आवश्यक है। भारतीय संस्कृति में चरित्र एक आदरणीय वस्तु है। चरित्र, के प्रति हमारा झुकाव स्वाभाविक है। चाहे आज भले उद्योग-क्षेत्रों की संस्कृति भिन्न-सी जान पड़े, किन्तु हमारा अन्तर-चरित्र विशेषतया स्त्री-पुरुष सम्बन्ध से सम्बन्धित दृढ़ता के प्रति सहज आकर्षित रहता है। हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। जिसके परिवार में चारित्रिक शिथिलता रहती है, वह स्वयं भीतर-ही-भीतर जलता रहता है। यदि इसे दूर करने का उपाय नहीं मिलता, इसे मिटाना उसके वश की बात नहीं रह जाती तो वह कई मानसिक रोगों का शिकार हो जाता है और अपनी हीनता की भावना छिपाने के लिये अनेक अस्वाभाविक व्यापार करता है; कार्यशक्ति का ह्रास एक सामान्य बात है।

इसका दूसरा सब से बुरा प्रभाव पड़ता है बालकों पर। समाज में वे ताने सुनते हैं और हीनता का अनुभव करते हैं। फलतः उनकी विवेक बुद्धि कभी-कभी विद्रोह करती है, परन्तु पीछे मर जाती है। वे भले और बुरे में बहुत कम अन्तर कर पाते हैं। चरित्र-भ्रष्ट माता-पिता की सन्तानों में चरित्र-भ्रष्टता इसी कारण अधिक देखी जाती है। दूसरे उन्हें नीच-जन्मा समझ लेते हैं, इसीलिये वे अपने को नीच मान बैठते हैं और उनके सारे आचरण इसी धारणा के अनुरूप हो जाते हैं। एक बड़े वर्ग में समाजोपयोगी नागरिक तय्यार करने की दृष्टि से भी हमें

परिवार की स्थिरता और पवित्रता की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये इसके लिए उपदेश तथा प्रवचन किसी काम के नहीं होंगे। हमें ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी होगी और उसके द्वारा ऐसा वातावरण प्रस्तुत करना होगा; जिसके अप्रत्यक्ष-प्रभाव, समनुज्ञा और निर्देश (Suggestion) के बल पर यह कार्य हो सके।

आज कोई भी समाज तथा राष्ट्र जनसंख्या के इस आवश्यक वर्ग को यों ही भाग्य, परिस्थितियों तथा ठेकों के भरोसे नहीं छोड़ सकता। इस अंग की बुराइयाँ सारे समाज के शरीर में सड़ाँध पैदा कर सकती हैं, और कर रही हैं। वर्तमान युग में समाज के हस्तक्षेप का अर्थ है, राज्य का हस्तक्षेप, क्योंकि इसकी समस्त बाध्यतामूलक शक्ति (Coercive Power) एकमात्र राजसत्ता के हाथों में ही सिमट आई है। सौभाग्य का विषय है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् हमारी राष्ट्रीय सरकार भी इस ओर काफी सचेत है; यद्यपि उद्योगों को अबतक का विकास इस समस्या को मूलाधार से ही लेने में बहुत ज्यादा बाधक हो रहा है। खैर, इस सम्बन्ध में जो कुछ किया गया है या किया जा सकता है, इसे हम फल की दृष्टि से तीन कोटियों में बाँट सकते हैं। प्रथम के अन्तर्गत वे नियम तथा कार्य आयेंगे, जिनका सम्बन्ध काम की स्थितियों (Working Condition) के सुधार से है। दूसरे का सम्बन्ध सुरक्षा तथा भविष्य से है; तथा तीसरे को हम सामाजिक तथा मानसिक उत्थान के अन्तर्गत रख सकते हैं।

इस स्थल पर मैं केन्द्रीय सरकार तथा राज्यों द्वारा पारित विभिन्न नियमों तथा उनके अनुसार की हुई कार्यवाहियों का विवरण देकर पुस्तक का कलेवर बढ़ाना नहीं चाहता।[१]

---

१. जो विस्तार में जाना चाहते हैं, वे कृपया सरकार द्वारा प्रकाशित इस सम्बन्ध के विवरण देखें और जो थोड़ा संक्षिप्त विवरण जानने के इच्छुक हैं; वे प्रथम पंचवर्षीय योजना का ३४ वाँ तथा द्वितीय योजना का श्रम सम्बन्धी अध्याय एक बार देख लेने का कष्ट करें।

उद्योग अधिनियम १९४८ (Factories Act of 1948), भारतीय खान अधिनियम (Indian Mines Act), रोपण श्रमिक अधिनियम (Plantation Labour Act) आदि के द्वारा सरकार पाँच उद्देश्यों की सिद्धि करना चाहती है।

(१) दुर्घटनाओं की रोक-थाम का सम्यक् प्रबन्ध तथा सावधानी एवं दुर्घटनायें हो जाने पर उनकी यथासमय सूचना तथा क्षतिपूर्त्ति की व्यवस्था।

(२) मिलों के वातावरण को स्वच्छ तथा स्वाथ्यकर बनाना। भीतर काम के स्थान में आवश्यक वायु (Ventilation), स्थान तथा तापमान की व्यवस्था करना।

(३) काम के घंटे नियत करना।

(४) स्त्रियों तथा बच्चों को अनुचित, अस्वस्थ तथा अनुपयोगी श्रमों से बचाना एवं उन्हें भूमि के नीचे और रात में काम करने से रोकना।

(५) स्वास्थ्य सम्बन्धी देखभाल और व्यावसायिक स्वास्थ्य तथा रोगों (Occupational health disease) की खोज करना, ताकि उनसे रक्षा का प्रबन्ध किया जा सके।

राष्ट्रीय योजना आयोग (National planning commission) को ऐसा विश्वास है कि इन अधिनियमों के लागू हो जाने पर काम की परिस्थिति उचित तथा स्वास्थ्यप्रद हो जायगी। परन्तु इन्हें पूर्णतया कार्यरूप में परिणित करने का साधन नहीं है, यह आयोग भी स्वीकार करता है।

मजदूरी निर्धारण के लिए निम्नतम मजदूरी अधिनियम (Minimum wages Act of 1948), मृत्यु तथा दुर्घटनाओं के लिए क्षतिपूर्ति अधिनियम (Workmem's compensation Act) तथा कई प्रान्तीय सरकारों द्वारा निर्धारित मातृत्वहित (Maternity benefit) के नियमों की अपूर्णता दूर करने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा पारित कार्यकर्त्ता राज्य बीमा अधिनियम (The Employee's State Insurance Act) और कार्यकर्त्ता भविष्यनिधि अधिनियम

(The Employee's Provident Fund Act 1952) ऐसे कदम हैं, जिनसे मजदूर तथा मजदूरी करने वाली स्त्रियाँ काम करने के समय की सुरक्षा तथा भविष्य के सम्बन्ध में थोड़ी आश्वस्त रह सकती हैं। इसमें संदेह नहीं कि इससे पारिवारिक जीवन में भी स्थिरता का संचार होने की संभावना है।

अमेरिका में सन् १९३७ के सामाजिक सुरक्षा अधिनियम के अनुसार कई प्रकार के सामाजिक सुरक्षा के कार्यक्रम संचालित होते हैं। इनमें पंगुता, मातृत्व (सन्तानोत्पादन), रोग आदि के बीमा में, साथ ही वृद्धता-अति जीवन, बीमा एवं बेकारी बीमा (Oldage survivors Insurance and unemployment Insurance) दो बड़े महत्वपूर्ण कार्य हैं। १९५२-५३ में इस अधिनियम के अनुसार ५० लाख व्यक्तियों को सहायता मिलती थी, जिसमें पन्द्रह लाख से भी अधिक मजदूरों के बच्चे तथा विधवायें हैं जिन्हें छोड़कर वे मरे थे, तथा शेष स्वयं काम से विलग मजदूर तथा उनके आश्रित हैं। किन्हीं भी कारणों से बेकार हो जाने वाले, बेकारी बीमा के अनुसार १९५१ में प्रायः ३५ लाख व्यक्ति सहायता पाते थे। अमेरिका की जनसंख्या प्रायः १३०० लाख है, जिनमें २२५ लाख ग्रामीण हैं। इस तरह नागरिक संख्या का प्राय ३८ प्रतिशत इन दोनों प्रकार की सहायता पा जाता है।

अमेरिका की तुलना में भारतीय अधिनियम हीन जान पड़ते हैं। इनमें बेकारों की सहायता के लिए कोई उपबन्ध नहीं है। निर्भरों के लिए तथा; पंगुता के लिए है; परन्तु वृद्धता के लिए नहीं है। चाहे जो हो, इनसे सही दिशा में जाने का प्रथम प्रयास झलकता है; यही हमारे लिए कम नहीं है। प्रथम योजना आयोग में ये अधिनियम औद्योगिक जीवन के एक अत्यन्त अल्प भाग तक ही सीमित थे। द्वितीय योजना में सुरक्षा निधि की उपयोजना को १०,००० तक काम करने वाले सभी उद्योगों में लागू करने का विचार है। भयंकर ऋण की समस्या हल करने में सरकार नितान्त असमर्थ है। सहकारी समितियों के सामने

कई कठिनाइयाँ हैं। ये सभी स्थायी और अस्थायी मजदूरों को किसी भी कार्य के लिए ऋण नहीं दे सकतीं; इससे किश्त पर रुपये देने वाले उद्योग के क्षेत्र में पनपते ही रहेंगे।

काम की परिस्थिति तथा भविष्य की सुरक्षा के प्रबन्ध के साथ ही सामाजिक तथा मानसिक—इसे आप आत्मिक या आध्यात्मिक भी कह सकते हैं—उत्थान की व्यवस्था भी अनिवार्य है। इसके बिना सब-कुछ व्यर्थ है। भारतीय सरकार उत्पादन की समाजवादी प्रणाली पर जोर देने जा रही है। यह आशा की जा सकती है कि इससे श्रमिकों में हीनता की धारणा—जो आज की आर्थिक व्यवस्था में अत्यन्त स्वाभाविक है, मिट सकेगी, तथा उद्योगों के प्रति आत्मीयता तथा अपनेपनकी भावना जग सकेगी। किन्तु इस दिशा में कोई ऐसा कदम अभी तक नहीं उठाया गया है जिससे तत्सम्बन्धी सफलता-विफलता का अनुमान किया जा सके। कुछ थोड़े से उद्योगों को सरकारी संरक्षण में संचालित कर देने से ही कोई विशेष अन्तर नहीं आ सकता। उद्योगों में कार्यकर्त्ताओं को थोड़े हिस्से देने की योजना भी है। यदि यह योजना इस रूप में लागू की जाय कि हिस्सेदार होने का आभास श्रमिकों को सदा मिलता रहे, तो इसका बड़ा स्वस्थ मानसिक प्रभाव पड़ेगा; परन्तु सन्तत आभास दिलाना थोड़ा कठिन है। केवल प्रवचन तथा भाषण यह वातावरण नहीं उत्पन्न कर सकते। इतना निश्चित है कि जो हिस्से मिलेंगे, वे नाम के होंगे, इसलिए वे पाकेट में जाकर मन को प्रभावित कर देंगे, ऐसा विश्वास नहीं हो पाता। हिस्सेदार बना देने पर भी बहुत कुछ करना या करते रहना आवश्यक है।

उद्योगों के प्रबन्ध में मजदूरों का भी थोड़ा-थोड़ा हाथ हो, ऐसा विचार द्वितीय पंचवर्षीय योजना में प्रकट किया गया है। इसके लिए प्रबन्ध समितियों के निर्माण में श्रमिकों के आधे प्रतिनिधि रखने की उपयोजना सामने आ रही है (देखें, द्वितीय पंचवर्षीय योजना—श्रम अध्याय)। वास्तव में यह एक नया प्रयोग है जिसे कार्यरूप में परिणत कर देने पर मजदूर अपने को उत्पादन का शोष्यहीन साधन नहीं मानकर एक

आवश्यक अंग होने की धारणा से अनुप्राणित हो सकते हैं। लेकिन अभी यह इच्छा तथा विचारमात्र है। अस्तु यह बतलाना कठिन है कि किन अंशों तक यह उनकी मानसिक स्थिति परिवर्त्तित करने में समर्थ हो सकेगा। किन्तु इस सम्बन्ध में भी दो-तीन शंकायें उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

(१) इन प्रबन्ध समितियों के लिए श्रमिकों के जो प्रतिनिधि चुने जायँगे वे कहाँ तक सच्चे रूपमें उनके भावों तथा विचारों को दैनिक प्रबन्ध में सदा समिति के समक्ष रखते रहेंगे, यह बतलाना कठिन है। इस शंकाके तीन आधार हैं। (क) जीवन की अस्वाभाविक परिस्थितियों के कारण मजदूर वेग की स्थिति में अधिक रहते हैं। वेग और उद्वेग (Emotion and frenzy) की यह भी एक विशेषता है कि उसमें जन सम्भार (mass) अत्यन्त उग्र रहता है, परन्तु ज्वार उतर जाने पर अथवा समूह से अलग व्यक्तिगत रूप में सामने आ जाने पर उसके व्यक्ति बहुत अधिक ढीले, आत्मसमर्पण करने वाले तथा साधारण लोभ से ही प्रभावित हो जाते हैं[1]। (ख) अभी तक समाज में जो वर्ग की स्थिति है, तथा हमारे जीवन में अर्थ का जो महत्व बना हुआ है, उसे देखते हुए यह भय है कि ये प्रतिनिधि मालिकों के समक्ष स्पष्ट बातें करने में बहुत अधिक आशंकित रहेंगे तथा साधारण लोभ में भी पड़ जाया करेंगे। समिति के बाहर मालिक-नौकर का सम्बन्ध तो बना ही रहेगा।

(२) गाँवों की सामाजिक व्यवस्थाओं का एक बड़ा भाग सभी राज्यों में ग्राम पंचायतों के जिम्मे दे दिया गया है। जिसे वस्तुस्थिति का अनुभव है वह अच्छी तरह जानता है कि इनके चुनाव किस हद तक निरपेक्ष हो रहे हैं तथा उनसे सामान्य जनता का कहाँ तक हितसाधन हो रहा है। यदि उसी की पुनरावृत्ति यहाँ भी हुई तो इससे अच्छा होगा कुछ नहीं ही करना। गाँवों के जीवन का एक छोटा-सा अंश ही सामूहिक तथा सामाजिक है। उनके खेत, जीविका के साधन तथा घर,

१. स्पष्टीकरण के लिए देखें, समाज की भूमिका का छठवाँ प्रकरण।

द्वार परिवारों द्वारा ही संचालित होते हैं। इन पर ग्राम पंचायतों का बहुत ही कम नियन्त्रण है, लेकिन उद्योग-क्षेत्रों की ये समितियाँ, उनके सम्पूर्ण जीवन-जीविका; घर-द्वार, रहन-सहन सब पर पूरा-पूरा नियन्त्रण करेंगी, इसलिए इनकी अव्यवस्था उनका सम्पूर्ण जीवन विशृङ्खलित कर देगी।

(३) तीसरी शंका का मूल कारण जनतन्त्र की साधारण कमजोरियाँ हैं। हमारे अच्छे-से-अच्छे प्रतिनिधि एक विचित्र स्थिति में पड़ जाते हैं। सरकार के दैनिक कार्यों से वे बहुत कम परिचित हो पाते हैं और इन्हें प्रभावित तो और भी कम कर सकते हैं, इनके संचालन और नियन्त्रण का अधिकार इनको नहीं है। अधिकार है कार्य करने वालों पर विश्वास या अविश्वास मात्र प्रकट करने का। इसलिए वे बेचारे सच्चे रूप में जनसमाज, मतदाता और सरकार के बीच की कड़ी नहीं बन पाते, जो वास्तव में बनना चाहिए था। दोनों के बीच में लटकते हुए रहकर ये बेचारे छोटे-छोटे, इक्के-दुक्के काम करने-कराने के अतिरिक्त यदि चाहें तो अपना निजी मतलब हल कर सकते हैं, और कुछ अपनों को सुविधा दिलाने की सिफारिश में सफलता पा सकते हैं, अधिक कुछ नहीं। फलस्वरूप जनसमाज की भावना में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं हो पाता, और वह इन्हें, सरकार या सरकारी कार्यों को अपना नहीं मान सकता। हाँ, निन्दा तथा कटु आलोचना में रस अवश्य मिल जाता है और सब को बेईमान मान लेने से उसे आत्मसन्तोष प्राप्त हो जाता है। चुनाव को वह कुछ व्यक्तियों का खेल समझता है और भाग भी लेता है तो उसी दृष्टि से।

यदि यही स्थिति उद्योगों की प्रबन्ध समितियों के चुनावों में भी हुई तो सामान्य श्रमिकों में नई चेतना जगाने की बात तो अलग रहे, और भी अपनेपन का अभाव तथा श्रमिकों की बुरी स्थिति हो जायगी। हमारा स्वप्न स्वप्नमात्र ही रह जायगा, भले कुछ ऐसे लोगों का स्वार्थ सिद्ध होता रहे—जो स्वयं चुनाव में भाग लेंगे और भाग लेनेवाले को चढ़ाते-उतारते रहने की, सफल-विफल बनाने की कुशलता अर्जित कर

सकेंगे। जो कुछ भी सुधार किया जाता है, या करने की योजना बनाई जाती है, सब-कुछ को जनतन्त्र का यह रूप कुधार में परिणत कर देता है। यदि सोच-समझकर वस्तुस्थिति को सामने रखते हुए कदम नहीं उठाया गया, तो यहाँ भी विफलता ही हाथ लगेगी; क्योंकि यहाँ तो संचालकों को निकाल बाहर करने का अधिकार भी प्रबन्ध समिति के श्रमिक सदस्यों को नहीं दिया जा सकता।

गृहनिर्माण की आवश्यकता की चर्चा चलाई जा चुकी है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस सम्बन्ध में लम्बे-चौड़े सुझाव दिये गये हैं। सामाजिक, मानसिक अभ्युत्थान के लिए यह आवश्यक है कि गृह-निर्माण की सारी उपयोजनाओं को इससे पूरे रूप में सम्बद्ध कर दिया जाय तथा सामाजिक आवश्यकता को ध्यान में रखकर इसे नवीन रूप दिया जाय। उक्त योजना का सुझाव है कि एक राष्ट्रीय-नगर और ग्राम-योजना अधिनियम बनाया जाय, जो क्षेत्रीकरण और भूमि के उपयोग, फीते के समान विकास पर उचित नियन्त्रण, उपयुक्त क्षेत्रों में उद्योगों और मिलों के स्थान-निर्धारण, गन्दे स्थानों तथा गन्दी बस्तियों (slums) की सफाई आदि का प्रबन्ध करे (प्रथम पंचवर्षीय योजना पृष्ठ ६०३)। परन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजना आयोग इस सम्बन्ध की सफलता पर तनिक भी गर्व नहीं कर सका है वरन् एक प्रकार से उसे असफलता ही स्वीकार करनी पड़ी है। वस्तुतः मूल ही में भूल है।

योजना आयोग द्वारा ही प्रकाशित 'भारत में समाजकल्याण' (Social welfare in India) के एक लेख में श्री वी० के० जयकर ने शिकायत की है कि "अधिकारियों ने प्रस्तुत उद्योगों को केवल बढ़ने ही नहीं दिया है, वरन् वहीं नये उद्योग स्थापित करने के लिए आदेश भी दे दिया है" (पृष्ठ ३६७)। वास्तव में आज उद्योग की योजना का क्षेत्रीय रूप (Zonal form of planning) सभी दृष्टियों से अत्यन्त आवश्यक है। इस योजना का केवल इतना ही अर्थ नहीं है कि नये उद्योग बिखरे रूप में विकसित किये जायँ, वरन्

इससे अधिक यह अनिवार्य है कि सामाजिक आवश्यकता तथा मानवीय शक्ति के उपयोग की दृष्टि को ही प्रधान रूप में सामने रखा जाय। निश्चित है इसमें कुटीर तथा गृहशिल्प की ही प्रधानता रहेगी। नदियों से विद्युत् उत्पादन की जो नई योजनाएँ कार्यरूप में परिणत हो रही हैं, उनका अधिक-से-अधिक उपयोग इनके लिए होना चाहिए। जो केन्द्रित उद्योग स्थापित करने पड़ें, उनका भी क्षेत्रीय रूप ही रहना चाहिए। आवागमन की सुविधा के अत्यधिक विकास के कारण कच्चा माल कहीं भी पहुँचाया जा सकता है। उद्योगों के राष्ट्रीय रूपों में केवल लाभ ही को प्रधान प्रेरणा बनाये रखना आवश्यक नहीं है। इसके लिए यदि कुछ नये उद्योगों तथा मिलों को हटाना भी पड़े तो विशेष हिचक नहीं होनी चाहिए।

योजना के इस रूप में श्रमिकों को एक ही स्थान पर अधिक संख्या में एकत्र होने का उतना अवसर नहीं मिलेगा। एक तो कुटीरशिल्प ही यह प्रवृत्ति रोक रखेगा, द्वितीय, केन्द्रित उद्योगों में काम करनेवाले नित्य अपने-अपने घरों से भी बहुत बड़ी संख्या में आया करेंगे। मिल केवल उनका कार्यक्षेत्र होगा; उनके सामाजिक जीवन को विशृंखलित नहीं करने पायेगा। अपना घर, अपना सामाजिक वातावरण, अपना प्राथमिक समुदाय (Primary group) उन्हें संयमित, नियमित तथा नियन्त्रित करता रहेगा। इनके बाद भी जो मिल के क्षेत्र में ही रह जानेवाले श्रमिक हों, उनके लिए गन्दी बस्तियों से बाहर यदि थोड़ी-थोड़ी भूमि तथा साधारण सामान दे दिये जायँ तो श्रमकल्याण अधिकारियों की देख-रेख में वे देशी सामान से भी रहने योग्य घर बना ले सकते हैं। प्रथम योजना आयोग ने गाँवों के लिए पुइर्टोरिको (Puerto-Rico) योजना का सुझाव दिया है। वहाँ के लिए आवश्यक सामान और ऋण रूप में ३०० डालर व्यय के लिए नकद दे दिये गये। अपने परिवार की ही सहायता से ग्रामीणों ने सस्ते में घर बनवा लिये। मजदूरों के लिए यह प्रणाली अधिक उपयोगी होगी।

सामाजिक आवश्यकता से गृहनिर्माण का सम्बन्ध जोड़ना बहुत

जरूरी चीज है, जिसकी ओर किसी भी उपयोजना (Scheme) का ध्यान नहीं जान पड़ता। सामान्य वासस्थान बनेंगे, और श्रमिकों को दे दिये जायँगे। इससे एक बड़ी आवश्यकता तो पूरी होगी; परन्तु इससे उनकी पारिवारिक और मानसिक स्थिति पर गृह का उतना उचित प्रभाव नहीं पड़ेगा, जितना पड़ना चाहिए।

श्रमिक अपने-अपने गाँवों में जिस समाज में रहता है, और जिनसे अपना समझ कर मिलता है, वैसे ही लोगों से वैसी ही प्रथाओं, लोकाचारों और संस्कारों से संचालित होने वाले व्यक्तियों से यदि मिल-क्षेत्रों में भी उसका प्रधान रूप में प्राथमिक समुदाय बनता है तो वह घर और बाहर एक प्रकार का वातावरण पायेगा। न तो मिल क्षेत्रों में नवीनता का अनुभव करेगा और न वहाँ से लौटकर घर जाने पर अजनबी और विचित्र जीव बन जायगा; किसी भी वातावरण के अनुकूल अपने को ढाल लेने पर कठिनाई नहीं होगी। इससे उसका नियमन होता रहेगा। इसलिए स्व-समुदायों का अलग-अलग ब्लाक रहना चाहिए। एक ब्लाक में प्रायः एक संस्कार के लोग रहें। जनजातियों में एक संस्कार एक एक जाति है। जहाँ इनकी संख्या कम हो, वहाँ कई स्व-वर्गीय जनजातियों को मिलाकर भी ब्लाक बनाया जा सकता है। उदाहरणतया, संथाल ब्लाक, गोंड ब्लाक आदि आदि। शेष लोगों में एक संस्कार का निर्धारण कहीं देशज होगा, कहीं जातिगत, कहीं दोनों का मिला-जुला रूप। ग्रामीण लोगों में ऐसे समुदायों का निर्धारण कठिन नहीं होगा। ये ब्लाक एक दूसरे से अलग नहीं रहें, गाँव के अलग-अलग टोले या मुहल्ले जैसे हों।

प्रत्येक ब्लाक में साधारण झगड़े, अव्यवस्थायें आदि के फैसलों के लिए निर्वाचित पंचों की पंचायतें हों। इन पंचायतों के प्रधान का नाम जातीय नामों के आधार पर हो। जैसे संथाल ब्लाक का प्रधान माँझी, उराव ब्लाक का महतो आदि आदि। जिन लोगों की पंचायतों में कोई अपना नाम नहीं हो, वहाँ प्रधान मुखिया ही रखा जाय। हर एक ब्लाक में पंचायत-घर हो, जहाँ निवासियों के अनुकूल व्यायाम, मनोरंजन

तथा खेल के सामान हों। प्राचीन नृत्य तथा विनोद सम्बन्धी संस्थाओं को पुनर्जीवित करना चाहिए। यदि उनमें अश्लीलता, बेहूदगी हो तो उसे उन्हीं लोगों के द्वारा दूर कराना चाहिए। नृत्य, रामायण, कीर्तन गान आदि उनमें नवजीवन का संचार करेंगे। वे अपनेपन का अनुभव करेंगे और उनका अपना वातावरण होगा। उनमें नवीनता का संचार करने के लिए अखबार, वाचनालय, पाठशाला, रात्रि-पाठशाला, रेडियो का धीरे-धीरे सन्निवेश करना चाहिए। ये चीजें कई ब्लाकों को मिलाकर भी की जा सकती हैं।

ये सुझाव कुछ प्राचीन संस्थाओं को जिलाये रखने के प्रयत्न से लगते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति उसी प्रकार की जान पड़ती हुई भी वैसी नहीं है। मजदूर को नवीन वातावरण के अनुकूल बनने के लिए संयम की आवश्यकता होती है। सहसा विपरीत और परस्पर विरोधी संस्कारों के बीच पड़ जाने से मानव न तो अपनापन रख पाता है और न कोई नवीनता ग्रहण कर पाता है। वह सर्वत्र अनफिट हो जाता है और उचित रूप में अनुकूल शक्ति उसमें नहीं आ पाती। इन ब्लाकों के द्वारा उत्पन्न संकुचित और जातीय मनोवृत्ति को व्यापक तथा सर्वग्राहिणी बनाने के लिए एक केन्द्रीय पंचायत भी रहनी चाहिए जिसमें सभी पंच सम्मिलित होकर सामान्य मसलों पर अपनी राय दें और बहुमत से निर्णय करें। अपने-अपने त्योहारों, उत्सवों, नृत्यों तथा विशेष अवसरों पर अन्य लोगों को भी निमंत्रित करने की भावना जगाई जाय। प्रयत्न रहे कि वे आवश्यकतानुसार मिलते-जुलते रहें।

हर एक ब्लाक में एक-एक परिवार के अपने-अपने घर तथा साग-सब्जी के लिए थोड़ी-सी जमीन रहे। मरम्मत, सफाई आदि की देख-भाल होती रहे। हर एक परिवार अपने-अपने लिए तथा सम्पूर्ण ब्लाक पंचों के द्वारा सामूहिक रूप में जिम्मेवार हो। गृह-उद्योग तथा कुटीर-शिल्प का अपनी-अपनी रुचि, प्रवृत्ति और अभ्यास के अनुसार विकास किया जाय। सहकारी समितियों द्वारा कच्चे माल की खरीद तथा उत्पादन बिक्री का प्रबन्ध हो।

श्रमकल्याण कार्यालय (Laboure welfare office) इनकी देखभाल करे। इनमें से प्रत्येक की समस्याओं, प्रत्येक की परिस्थितियों और मुख्य घटनाओं से परिचित रहे। हर एक ब्लाक से सतत सम्पर्क में रहे। स्वच्छता, मकान मरम्मत, फैसले आदि के सम्बन्ध में उनको उचित रास्ता देता रहे। श्रमिकों की सामाजिक तथा पारिवारिक समस्याओं के सम्बन्ध में भी अन्वेषण होना चाहिए। कई स्थानों पर पारिवारिक मामले तथा मतभेदों के सम्बन्ध में सलाह लेने के लिए संस्थायें भी स्थापित की गई हैं। बम्बई में १९५० से ही पारिवारिक कल्याण साधना केन्द्र (Faimily welfare Agecy) १० वी० डी० डी० चार्ल्स डेलिस्टल रोड में काम कर रहा है। परन्तु इस सम्बन्ध में ध्यान रखना चाहिए कि मजदूरों की पारिवारिक समस्याओं के मूल में अधकचरा सम्पर्क, पुराने प्राथमिक समुदाय का विनाश तथा परिस्थितियों के चपेटे प्रधान रूप में काम करते हैं। इन पर नियंत्रण किये बिना, इन्हें उचित रास्ते पर लाये बिना कोरी सलाह का कोई मूल्य नहीं होगा।

खेतिहर मजदूरों के परिवार

खेतिहर मजदूरों की समस्याएँ भारतीय समाज की समस्याओं का एक वृहद् अंश घेरती हैं। कृषि हमारे अर्थतन्त्र का मुख्य अंग है इसलिए हमारे मूल आर्थिक विकास से ये घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है। इसलिए इस विकास की शिरा इनके जीवन के रूप में स्पन्दित होगी ही। कोई भी अर्थ इनको यों ही नहीं छोड़ सकता। अस्तु अर्थतन्त्र पर विचार करना इनपर भी विचार करना है। इसी तरह सामाजिक स्तर और जाति के मसले इनके भी मसले हैं। खेतिहर मजदूर समाज के निचले स्तर से ही आते हैं; इनमें से अधिकांश चमार, कोरी, तुरी, तांती (बिहार में), मुसहर, गोंड़, चेनादि आदि ऐसी जातियों के सदस्य हैं, जिनका प्रश्न देश का एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यही कारण है कि अर्थतन्त्र तथा सामाजिक स्तर को अलग कर देने से इनपर विचार करने के लिए बहुत कम साधन या क्षेत्र रह जाता है। इसीलिए हम यहाँ पर सामान्य परिवार सम्बन्धी बातें ही लेंगे।

खेतिहर मजदूर की परिभाषा क्या है ? यह प्रश्न भी उतना सीधा नहीं है। १९३१ की जनगणना में कृषकों के ५ भाग किये गये थे और प्रति हजार कृषकों में इनकी अलग-अलग निम्नलिखित संख्याएँ थीं:—

मालगुजारी पाने वाले (Rent reccivers) ...	४०
खेती करने वाले खेत के मालिक ...	२७५
मालगुजारी पर दूसरों के खेत करने वाले (Cultivating tenants) ...	३५०
खेतिहर मजदूर	३२४
झूम आदि बदलते खेत वाले	८
एजेण्ट किरानी आदि	३
	१०००

इसका अर्थ हुआ कि कुल २·४ प्रतिशतक खेतिहर मजदूरों की संख्या थी। १९५१ की जनगणना ने कृषकों को चार भागों में बाँटा है—(१) पूर्णतया या प्रधानतया अपनी जमीन जोतने वाले, (२) पूर्णतया या प्रधानतया बिना मिलकियत की जमीन जोतने वाले, (३) खेतिहर मजदूर, (४) बिना खेती के ही जमीन के मालिक। खेतिहर मजदूर का अर्थ लगाया गया था किसानों के यहाँ नौकरी या काम करने वाले। परन्तु खेतिहर मजदूरों का एक बड़ा वर्ग अपनी या किसी दूसरे की छोटी खेती करते हुए भी प्रधान रूप में मजदूरी करता है। १९५१ की गणना में कुल १८ प्रतिशतक ही खेतिहरों को आबादी का मजदूर गिना गया है। ३१ से ५१ तक के कुल २० वर्षों में २३·४ से १८ प्रतिशत संख्या घट जाना आश्चर्यजनक जान पड़ता है। इतना सत्य है कि उनका एक भाग युद्धकालीन उद्योग की वृद्धि के कारण शहरों में चला गया है, किन्तु इतना भाग नहीं गया जितना इस विभेद से जान पड़ता है। एक बात और हुई। १९२९–३१ की मन्दी के समय छोटे रूप में खेत करना आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं था। महँगी ने उसे भी लाभजनक बना दिया। इसलिए बहुत से खेतिहर मजदूर अपने ही छोटे खेत या

किसी से मालगुजारी पर लेकर भी आबाद करने लगे। वास्तव में खेतिहर मजदूरों की संख्या बदलनेवाली और अनिश्चित है।

१९५० में केन्द्रीय सरकार ने इनके सम्बन्ध में जाँच कराया है और आवश्यक आँकड़े एकत्र करने का प्रयत्न किया है। इस खेतिहर-मजदूर जाँच समिति (The Agricultural Labour Enquiry Committee) ने उन परिवारों को कृषि श्रमिक माना है जिनके परिवार का प्रधान या आधे अथवा उससे अधिक सदस्यों ने मजदूरी को ही अपना प्रधान पेशा बना रखा है।

विभिन्न प्रान्तों में इनका अनुपात भिन्न-भिन्न है। १९५१ की जन-गणना के अनुसार सबसे अधिक कृषकों की संख्या का ३७ प्रतिशतक ट्रावनकोर-कोचीन में है, ३१ प्रतिशतक भोपाल में; २८ प्रतिशतक मद्रास में, २७ प्रतिशतक मध्यप्रदेश में, २५ प्रतिशत बिहार और हैदराबाद में, २१ प्रतिशतक पश्चिमी बंगाल में; बम्बई, उड़ीसा, पंजाब मध्यभारत और पेप्सू में १२ और १५ के बीच है। बड़े राज्यों में उत्तर-प्रदेश में ही सबसे कम ८ प्रतिशतक कृषकों में मजदूर हैं।

इनमें प्रधान रूप में तीन श्रेणियाँ हैं; एक श्रेणी उन मजदूरों की है जो साल भर के लिए किसी किसान के यहाँ नौकर हैं। गृहसेवकों और इनमें थोड़ा-बहुत अन्तर है। गृहसेवक घर और चौका बर्त्तन के काम करते हैं, खेती का काम बहुत कम करते हैं। कई स्थानों में चाकर तथा खेती के साल भर के मजदूर चरवाहे कहलाते हैं। द्वितीय श्रेणी उनकी है जो कृषि के समय एक या दो मास तक लगातार किसी किसान के यहाँ लगे रहते हैं, इन्हें जनमूनिस आदि कहते हैं। तृतीय श्रेणी उन मजदूरों की है जो शुद्ध रोजदारी पर काम करते हैं; ये ही सामान्यतया "मजूर" कहलाते हैं।

गृहसेवक कुछ ऐसी निश्चित जातियों से ही आते हैं जिनका पानी चलता है और स्वयं जूठा उठा सकते हैं। शेष के लिए कोई जाति निश्चित नहीं है, केवल सवर्ण ये काम नहीं करते। प्रधानतया खेतिहर मजदूर समाज की निम्न मानी जाने वाली जातियों से आते हैं और इनमें

हरिजनों की संख्या बहुत अधिक है। भारतीय सरकार का श्रम विभाग इनके सम्बन्ध में भी बहुत उद्‌बुद्ध है और कम-से-कम मजदूरी नियत करने का अधिकार प्रान्तीय सरकारों को प्रदान किया गया है। केन्द्रीय खेतिहर मजदूर जाँच समिति ने विभिन्न प्रान्तों में मजदूरी के सम्बन्ध में प्रचलित परिपाटियों की जाँच प्रारम्भ कर दी है। पश्चिमी बंगाल के सम्बन्ध में इस समिति ने हिसाब लगाया है कि सामान्यतया जन या मूनिस को वहाँ १००) साल दिया जाता है, चाहे नकद दिया जाय अथवा अन्न दिया जाय। इसके अतिरिक्त वह दोनों समय भोजन पाता है जिसका दाम समिति ने १० आने रखा है, साल में उसे दो धोतियाँ और दो टूक कपड़े मिलते हैं; इनका दाम दस रुपया माना गया है। ये कुल मिलाकर २८) मासिक पड़ते हैं।

उत्तर प्रदेश में हलवाहे को एक बीघा जमीन दी जाती है जिसे हड़बड़ि कहते हैं। इसके अरिरिक्त एक समय जलपान मिलता है और ३ सेर अन्न नित्य मिलता है। यों ही मजदूरी करने वाले को दिन का भोजन तथा ३ सेर का बन्नि या बन्नी देने की परिपाटी है। खेत काटने वाला १६ बोझे पर एक बोझ लेता है तथा खलिहान का सारा काम समाप्त कर देने वाला इक्कीसवाँ भाग पाता है।

खेतिहर मजदूरों का एक बहुत बड़ा भाग किसान से ऋण लेकर उससे बँध जाता है। इस ऋण का ब्याज तथा हिसाब बड़ा विचित्र होता है। इन्हें बँधने का एक और कारण हुआ करता है; इनकी झोपड़ियाँ किसान की जमीन में रहती हैं इसलिए वह प्रजा है और उन पर किसान का अधिकार है।

खैर, केन्द्रीय सरकार तथा योजना प्रयोग कम-से-कम मजदूरी निर्धारण करने से तथा उनकी झोपड़ियों की जमीन पर उनका हक दे देने से सोचते हैं कि उनके काफी मसले हल हो जायँगे। किन्तु औद्योगिक मजदूरों के समान खेतिहर मजदूरों की समस्याएँ छिट-पुट सुधार से हल होने वाली नहीं हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इससे उनमें थोड़ी स्वतन्त्रता के भाव आ जायँगे। सहस्रों वर्षों से अपने को वे हीन मान

कर मानसिक रूपमें दास हो गये हैं, वह भावना मिट जायगी। देहरादूनकी कोल्टा जाति के समान देश में अनेकों जातियाँ हैं, जो समझती हैं कि गुलामी उनका धर्म है। वे भगवान् की ओर से इसीलिए भेजी गई हैं। यह भावना परिवर्त्तन की सूचना से समाप्त हो जायगी। वे लोग समझ जायँगे कि वे भी मनुष्य ही हैं और उनके भी वही अधिकार हैं जो सवर्णों के। यह छोटा काम नहीं है; किन्तु जब तक देश की सम्पूर्ण आर्थिक रूपरेखा नहीं बदल दी जायगी तब तक इनके आर्थिक सुधार की आशा नहीं की जा सकती। अभी बहुत थोड़े जोत आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद हैं। इन नियमों से वे साधनहीन सवर्णों की स्थिति में आ जायँगे। अभी साधारण किसान मजदूरों को जीने योग्य मजदूरी देकर काम नहीं करा सकता। छोटे-छोटे जोत वालों को एक लाभ होगा कि वे स्वावलम्बी हो जायँगे। मजदूरों पर कम-से-कम निर्भर करेंगे। किन्तु कुछ दिनों के लिए उत्पादन इससे घट भी सकता है और बेकारी बढ़ भी सकती है। इसीलिए केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदत्त अधिकार का प्रयोग उत्तर प्रदेश की सरकार ने केवल ५० एकड़ से अधिक जोतने वालों के खेतों में काम करने वाले मजदूरों के लिए ही किया है और उन्हीं के लिए कम-से-कम मजदूरी निर्धारित की है।

खेतिहर मजदूरों का जीवन-स्तर बहुत निम्न है। इसमें सन्देह नहीं कि कई आवश्यक सामान जो शहरों तथा उद्योग क्षेत्रों में खरीदने पर ही प्राप्त हो सकते हैं, गाँवों में यों भी मिल जाते हैं। तो भी इनकी आर्थिक-स्थिति बड़ी दयनीय है। इनके कपड़े-लत्ते देख कर कुछ तो दया आती है, और कुछ घृणा उत्पन्न होती है। खेतिहर मजदूर जाँच समिति के अनुसार सम्पूर्ण भारत में एक परिवार की औसत आय ४४७) वार्षिक है। यह आय मध्यभारत में ३९९), भोपाल में ४६४), हैदराबाद में ४५५) तथा मध्यप्रदेश में ३९०) है। परन्तु प्रति व्यक्ति यह आय अत्यन्त दयनीय है; सम्पूर्ण भारत में वह १०४) है अर्थात् आठ रुपया सवादस आने के करीब मासिक है। केन्द्रीय भारत में ९१), भोपाल में १०५), विन्ध्य प्रदेश में ८२), मध्यप्रदेश में ८७), हैदरा-

बाद में ९७) तथा मध्यभारत में ८३) मात्र है। यह आय भी मजदूरी से ही नहीं आती। सम्पूर्ण आय का ६५·७ प्रतिशतक ही खेती की मजदूरी से आ पाता है। अन्य मजदूरियों से ७·२ प्रतिशतक, स्वयं की खेती से १३ प्रतिशतक तथा अन्य साधनों से १४·१ प्रतिशत आय का औसत है।

बाल-बच्चों की संख्या भी समाज के इस वर्ग में काफी रहती है। बंगाल में इनके परिवार की औसत संख्या ४ है, दार्जिलिंग में यह सबसे अधिक ७·१ है। आसानी से इनके जीवनस्तर का अनुमान लगाया जा सकता है। यही कारण है कि आयका बहुत बड़ा भाग केवल भोजन में व्यय हो जाता है। सम्पूर्ण भारत के लिए भोजन-व्यय सम्पूर्ण का ८५·३ प्रतिशतक है। मध्यभारत में तो वह ८७·४५ है। इसलिए इस वर्ग की समस्या शुद्ध पारिवारिक समस्या नहीं, अपने मूल रूप में आर्थिक है।

वास्तव में देखा जाय तो खेतिहर मजदूर परिवार को ही अपने जीवन का चरम-लक्ष्य मानता है। इसलिए चाहे झगड़े रहें या विवाद, वह परिवार से अलग होना नहीं चाहता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनके बहुत बड़े भाग में शराब पीने का बुरा अभ्यास अनेक पीढ़ियों से चला आ रहा है। इसका प्रभाव पारिवारिक शान्ति पर भी पड़ता है और मार-पीट, हल्ला-गुल्ला होता रहता है। किंतु इनमें कई जातियाँ ऐसी हैं जिनमें स्त्रियों का शासन थोड़ा कड़ा ही रहता है और पुरुष उनसे भय खाते हैं, यह स्थिति नशे की हालत में भी बनी रहती है। गरीबी और कष्ट में वे साथ-साथ जीवन खे लेते हैं। वे साथ-साथ रहते हैं, इसलिए वस्तुतः जिस अर्थ में औद्योगिक मजदूरों तथा शिक्षितों की पारिवारिक समस्याओं का उल्लेख किया जाता है उस अर्थ में उनके समक्ष बहुत कम समस्याएँ हैं।

सतत संसर्ग के साथ ही उत्पादन और उपभोग का सहयोग भी उनके परिवार को अपेक्षाकृत स्थिर बनाये रहता है। पुरुष यदि किसी के यहाँ मजदूरी करता है तो स्त्री भी बैठी नहीं रहती, वह भी कुछ-न-

कुछ करती ही रहती है। बच्चे भी लकड़ी चुनने, ढोरों को चराने आदि सरल तथा साधारण करने योग्य कार्य किया करते हैं। इसलिए परिवार जितना भार है उतना ही भार को हल्का करने वाला भी है। उनमें उत्पादन तथा उपभोग की इकाई परिवार ही बना हुआ है।

इनमें स्त्री-पुरुष सम्बन्ध भी बहुत-कुछ स्वाभाविक तथा प्राकृतिक नियमों पर आधारित है। जातीय पंचायतों के बन्धन उतने अधिक अस्वाभाविक नहीं हैं जितने सवर्णों में। पुरुष पुरुष है। परन्तु वह स्त्री का एक मात्र देवता नहीं है। वह सुख-दुःख का साथी है किन्तु ऐसा साथी नहीं जिसके साथ के लिए और जिसके नाम पर सुख और दुःख भी कोई मूल्य नहीं रखे। विवाह धार्मिक तथा आध्यात्मिक बन्धन होने पर भी आवश्यकता पड़ने पर तोड़ा जा सकता है और नया बन्धन स्थापित हो सकता है।

विहित होने के कारण सम्बन्धविच्छेद होते हैं किन्तु प्रायः ९५ प्रतिशतक परिवारों में इतने जल्दी-जल्दी नहीं होते कि परिवार समाप्त हो जायँ, या कोई नयी समस्या खड़ी हो। एक विचित्र बात यह है कि जिन जातियों में चारित्रिक शैथिल्य परम्परागत रूप में प्रवेश कर गया है वे खेतों से या तो पहले ही सम्बद्ध नहीं थीं, उन्होंने इस शिथिलता के बाद खेती छोड़ कर अन्य पेशा अपना लिया है। ग्रामीण समाज में नट, मगहिया, डोम आदि इसके प्रमाण हैं। जान पड़ता है कि भारतीय वातावरण में जो जातियाँ अपनी बहू-बेटियों की इज्जत से पैसा पैदा करना सह सकती हैं वे खेती की खटनी और धूप-वर्षा नहीं सह सकतीं। दोनों की यह विपरीतता पीढ़ियों से चली आ रही है। मेरा विश्वास है कि खेतिहर मजदूरों में पारिवारिक स्थिरता किसी भी वर्ग से अधिक है। यदि सामाजिक वैषम्य ग्रामीण जीवन से मिट जाय और सहकारी खेती, ग्रामोद्योग के विकास तथा क्षेत्रीय विकेन्द्रित योजना के कारण गाँवों में इस वर्ग की दयनीय दरिद्रता और साधन-हीनता समाप्त हो जाय तो कुछ दिनों तक खेतिहर मजदूर जिस समाज या वर्ग से प्रधान रूप में आते हैं, उनका पारिवारिक-जीवन सबसे

स्वाभाविक तथा सुन्दर हो जायगा। इसलिए यह कहा जाता है कि इनकी समस्या आर्थिक तथा सामाजिक है, पारिवारिक नहीं।

मैंने अभी ९५ प्रतिशत की बात कही है, शत प्रतिशत की नहीं। इन पाँच प्रतिशत की सामान्य विशृंखलता की जिम्मेवारी दरिद्रता के साथ ही व्यक्तिगत घरों में दासी तथा नौकर रखने की परिपाटी तथा वहाँ की लुभावनी वस्तुओं पर है। वह समय आ रहा है जब मानव तथा उसके श्रम का मूल्य इतना बढ़ जायगा कि किसी स्त्री और पुरुष को दासी-दास बनाकर रखना काफी व्यय-साध्य हो जायगा। आज भारत के हजारों मनुष्य अभाव से बाध्य होकर थोड़े से पैसों पर अपना श्रम बेंचने के लिए तत्पर रहते हैं। इसीलिए श्रीमानों के यहाँ ही नहीं, मध्यम श्रेणी वालों के यहाँ भी दास-दासियाँ रह सकती हैं। जिस दिन वह सुसमय आयेगा, उसी दिन यह समस्या अपने-आप हल हो जायगी।

खेतिहर मजदूरों के ही समकक्ष—परन्तु सामाजिक स्तर में इनसे थोड़े नीचे—कुछ ऐसे वर्ग हैं, जिनकी समस्यायें भी इन्हीं जैसी हैं, यद्यपि इनमें से कुछ में चारित्रिक शिथिलता अपेक्षाकृत अधिक आ गई है। इनके भीतर भी दो कोटियाँ हैं; कुछ लोग स्वतन्त्ररूप में कोई-न-कोई जातीय पेशा करके जीते हैं, जैसे—खटिक, तुरी आदि; तथा कुछ किसानों पर ही आश्रित हैं, इन्हें कहीं-कहीं पवनी (उत्सवों आदि के अवसरों पर कुछ पाने वाले) कहते हैं। इनमें भी कुछ के जातीय पेशे हैं।

मध्य श्रेणी के परिवार

इस मध्य श्रेणी के अन्तर्गत सामान्य व्यापारी तथा शिक्षित वर्ग हैं। उच्चकोटि के बड़े व्यापारी प्रायः अलग-अलग रहते हुए भी शुद्ध युगल परिवार के अन्तर्गत नहीं आ सकते। उनके पास मिलों और मकानों की बड़ी स्थिर सम्पत्ति है, जिनमें कई परिवार-समूह या बड़ा संयुक्त कुटुम्ब सम्मिलित रहता है। सभी सम्पत्ति की देख-रेख करते हैं, परन्तु सम्मिलित परिवार में सम्पूर्ण आय तथा सम्पूर्ण व्यय सम्मिलित

नहीं है। उनके पास व्यक्तिगत कमाई और व्यक्तिगत व्यय का भी हिसाब अलग रहता है। इसलिए उन्हें समवाय परिवार ही कहना अधिक उपयुक्त होगा।

पारिवारिक स्वरूप तथा भावना की दृष्टि से मध्य श्रेणी के युगल परिवारों के भीतर कई वर्ग किये जा सकते हैं। प्रथम तो वे लोग हैं जो कई पीढ़ी पहले से नौकरी आदि के कारण शहरों में ही रह गये हैं। दूसरे के अन्तर्गत वे लोग आयेंगे, जिनके पास गाँवों में कृषि की स्थायी सम्पत्ति है; परन्तु उनका ध्यान नौकरी पर ही रहता है; खेती दूसरे करते हैं। तीसरे वे हैं जो सम्मिलित परिवार से अलग होकर नौकरी पर ही जीवन व्यतीत करने लगे हैं। समाज में इस वर्ग का मूल्य बहुत अधिक है। औद्योगीकीकरण से इनकी संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती जायगी। ऊपरी दृष्टि से इन्हें कोई शिकायत नहीं जान पड़ती। बाहर के लोग इन्हें देखकर ईर्ष्या करते हैं, परन्तु इनकी समस्यायें कम गहरी नहीं हैं, और इनके तीनों पहलू—आर्थिक, मानसिक तथा सामाजिक मौजूद हैं।

परिवार के अध्ययन के लिए उसका आयव्ययक (पारिवारिक बजट) भी एक महत्वपूर्ण तत्त्व है। इसकी महत्ता बहुत पहले लेप्ले ने ही स्थापित की थी। उसके अनुयायी एंगेल्स ने इसकी पद्धति का विकास किया। किसी भी परिवार का आयव्यय बाजार के मूल्य के साथ ही उसकी सामाजिक स्थिति पर भी निर्भर करता है। साधनहीन या समाज के निचले स्तर के परिवार अधिक-से-अधिक व्यय भोजन के सामान पर करते हैं, किन्तु आय ज्यों-ज्यों ऊपर के स्तर में चढ़ती जायगी, भोजन से इतर सामानों का अनुपात बढ़ता जायगा। इसीलिए पारिवारिक जीवन के अध्ययन की तीन पद्धतियाँ एंगेल्स ने मानी थीं :—

(१) परिवार के द्वारा उपभोग्य पदार्थों की उपयोगिता का विश्लेषण।

(२) उपभोग्य पदार्थों के परिमाणों पर प्रधान रूप में आधारित कल्याणों के अनुपात का विश्लेषण।

(३) उपभोग तथा सामाजिक संगठनों के अन्तर्सम्बन्धों का विश्लेषण।

उपभोग आवश्यकता पर निर्भर करता है। यह आवश्यकता शारीरिक तथा भौतिक जरूरतों तक ही सीमित नहीं है, वरन् समाज सापेक्ष है और उपभोक्ता के सामाजिक स्तर तथा स्थान पर निर्भर करती है। हम भोजन करते हैं यह एक जीवात्मक आवश्यकता है, किन्तु हमने उसकी पद्धति तथा रूप में परिवर्तन कर लिया है। कच्चा मांस भूनकर भी खाया जा सकता है और मशाला आदि के द्वारा राँधकर भी। मांस का जो प्रभाव होना चाहिए वह शरीर तथा विभिन्न अंगों पर पड़ेगा, उससे स्वास्थ्य बिगड़ेगा या बनेगा। किन्तु भोजन के इतर सामान पूर्णतया समाज तथा हमारे स्तर पर निर्भर करते हैं। पुस्तक, शिक्षा-दीक्षा, कपड़े-लत्ते, मकान आदि का व्यय जीवात्मक आवश्यकता से अधिक सामाजिक आवश्यकता है। स्वस्थ सामाजिकता की पूर्ति या अतृप्ति हमारे पारिवारिक जीवन को प्रभावित नहीं करती, संचालित करती है।

मध्यम श्रेणी वालों के पारिवारिक आय-व्यय का उतना विवरण उपलब्ध नहीं है, जितना मजदूरों का है। इसके लिए बहुत कम प्रयत्न हुआ है। यदि यह विवरण रहता तो तुलनात्मक अध्ययन की एक अच्छी सामग्री मिल जाती। खैर जो कुछ भी साधन है उससे हमें इनकी स्थिति का किञ्चित आभास मिल सकता है।

१९४६ में केन्द्रीय सरकार ने इस श्रेणी के परिवारों के बजट की जो तालिका प्रस्तुत की है, वह बतलाती है कि भारत के प्रधान औद्योगिक शहर—बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली और मद्रास, चारों में ये घाटे में रहे।

शहर	प्रति परिवार मासिक आय	प्रति परिवार मासिक व्यय	मासिक घाटा
बम्बई	२५३।)	२९४॥=)	४१।=)
कलकत्ता	२२९॥=)	२७६।≡)	४६।-)
दिल्ली	२८६-)	३०१॥)	१५।≡)
मद्रास	१६३॥-)	१९४॥≡)	३१=)

इनकी तुलना उन्हीं शहरों के मजदूर-परिवारों के आय-व्यय से करें।

शहर	प्रति परिवार मासिक आय	प्रति परिवार मासिक व्यय	घाटा	बचत
बम्बई	९७=)२	८६॥)	×	१०॥=)३
कलकत्ता	७०॥)४	७१॥≡)८	१≡)४	×
दिल्ली	६६।)११	६०॥-)६	×	५॥≡)५
मद्रास प्रतिसप्ताह	११॥-)१	११॥≡)७	×	-)६[1]

यह तुलना कई तथ्य सामने लाती है :—

(१) मध्यश्रेणी के परिवारों की आय मजदूरों से ढाई गुनी से लेकर तिगुनी तक है, परन्तु व्यय के बाद सब-के-सब घाटे में हैं, जब कि केवल कलकत्ते को छोड़कर सर्वत्र के मजदूर लाभ में ही हैं। इसी-लिए लोग इन्हें 'फटेहाल बाबू' कहते हैं।

(२) इस तिगुने व्यय का कारण क्या हो सकता है ? १९४६ में इन सब को भोजन के सामान प्रायः राशन से ही प्राप्त हो जाते थे। यह माना जा सकता है कि इनके भोज्यपदार्थ थोड़े अच्छे तथा महँगे होते होंगे, इसलिए इनका भोजन-व्यय मजदूरों से अधिक होगा, परन्तु व्यय की अधिकता की सम्पूर्ण जिम्मेवारी इसे ही नहीं दी जा सकती। वह सम्पूर्ण व्यय का एक अंश मात्र है, बम्बई में ३५ प्रतिशत पड़ता है।

१. मद्रास में चायबागान के मजदूरों की आय है, इसीलिए आय-व्यय प्रति-सप्ताह है।

वास्तव में भोजन से भी अधिक इन्हें अपनी मर्यादा तथा स्थिति की रक्षा के लिए खर्च करना पड़ता है।

शिक्षित मध्यम वर्ग एक विचित्र वर्ग है। मानसिक रूप में यह वर्ग अपने को उच्च वर्ग के समकक्ष या किन्हीं अर्थों में बढ़-चढ़ कर ही मानता है। यद्यपि आय में निम्न वर्ग के अधिक निकट है। फलतः बीच में लटका रहता है; और भावना की दृष्टि से अजीब बन जाता है। एक योग्य सम्पादक ने लिखा है कि इसमें व्यक्तिवादिता की अतिमात्रा, स्वार्थमय अहम्, निर्णयहीनता, तार्किक-स्वभाव[1] की प्रधानता रहती है। इसका फल यह होता है कि यह वर्ग अनिश्चय और दुलमुल-यकीनी लिये हुए अपनी वास्तविक परिस्थिति से मानसिक स्थिति का सामंजस्य नहीं स्थापित कर पाता और रहन-सहन में उच्च वर्ग का ही अधिक अनुकरण करना चाहता है। इस अतिरिक्त व्यय की प्रतिक्रिया तीन रूपों में दिखाई पड़ रही है; ऋण, अतिरिक्त आय की चेष्टा तथा व्यय घटाने का प्रयत्न।

केन्द्रीय सरकार का विवरण ही बताता है कि यह वर्ग बहुत अधिक ऋणग्रस्त होता जा रहा है। इसकी सीमा का आभास निम्न तालिका से मिल सकता है—

शहर	जाँच किए हुए परिवारों की संख्या	ऋणग्रस्त परिवार	सम्पूर्ण का प्रतिशतक
बम्बई	१००	६४	६४
कलकत्ता	१६६	१२६	७६
दिल्ली	१६६	२८	४०
मद्रास	९६	६६	६८

युद्ध-जनित मँहगी के कारण भी यह स्थिति इतनी भयंकर हो गई है। मुद्रा-स्फीति के पूर्व कार्यरत मध्यवर्ग एक प्रकार से सुखी था। इस

१. Overdose of individualism selfish ego in decision, argumentative habits—श्री विनय राय।

ऋण का प्रभाव व्यक्ति तथा पारिवारिक स्थिति पर बहुत गहरा पड़ रहा है। वैदिक ऋषि ने ठीक ही कहा है कि "ऋणकर्ता के लिए, मानो अनेक उषाओं का उदय ही नहीं होता।"

अतिरिक्त आय के प्रयत्न ने शहरों में सस्ते ट्यूटरों की संख्या बहुत बढ़ा दी है। स्त्रियाँ भी उपयुक्त काम करने का प्रयत्न करने लगी हैं; परन्तु सीमित क्षेत्र होने के कारण सफलता बहुत ही कम मिल पाती है। यदि कुटीर-शिल्प का विकास तथा विस्तार हो जाय, तो इस दिशा में बहुत बड़ा काम होगा।

व्यय घटाने की चेष्टा का एक बड़ा अस्वास्थ्यकर फल हो रहा है। रहन-सहन और कपड़े-लत्तों में परिवर्त्तन की जगह बहुत ही कम है। धोती के स्थान पर हाफ पैण्ट-पैजामा, कुरते के स्थान पर हाफ-कमीज अपना लेने से कोई अन्तर नहीं आ पाता; कपड़ों की जगह सिलाई बढ़ गयी है। इसी तरह मकान के भाड़े और यातायात के व्यय बढ़े ही हैं। इससे कटौती होती है केवल समाचार-पत्र, पुस्तक तथा भोजन व्यय में। बम्बई के अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के स्कूल (Bombay school of Eeonomics and Sociology) द्वारा नियोजित पारिवारिक आ.-व्यय की जाँच से पता चलता है कि स्वास्थ्यकर भोज्य पदार्थों में काफी कमी कर दी गई है। उस रिपोर्ट के अनुसार १० प्रतिशतक दूध, ४२ प्रतिशतक घी, ४ प्रतिशतक तेल, ३७ प्रतिशतक आलू, १५ प्रतिशतक मांस और ३८ प्रतिशतक चीनी का प्रयोग घट गया है।

आजकल यों ही भोजन के शुद्ध सामान नहीं मिल पाते। जो कुछ भी हम खाते हैं, उसमें अस्वस्थ मिश्रण बहुत अधिक रहता है। इस कटौती ने भोजन के आवश्यक गुण और भी नष्ट कर दिये हैं। इसी का फल है कि सारी वर्त्तमान तथा भावी पीढ़ी रोग-ग्रस्त, दुबली-पतली, कमजोर और पीली होती जा रही है। बम्बई में प्रधानतया १९ प्रतिशतक पुरुष किसी-न-किसी पेट के रोग से, २६ प्रतिशतक महिलायें

किसी-न-किसी रूप में रक्ताभाव से (An eamia) से और १६ प्रतिशत बच्चे काश से पीड़ित हैं।

आय से अधिक व्यय के कारणों में एक कारण प्रबन्धकौशल का अभाव भी है। सम्मिलित परिवार में घर की बूढ़ी स्त्रियाँ बहुत दिनों तक घर की देख-भाल करती थीं; तब अपने निरीक्षण में युवती पतोहुओं पर काम सौंपती थीं। आजकल इस मध्यश्रेणी में अनुभवहीन नवविवाहिता बधुओं को ही उत्तरदायित्व उठा लेना पड़ता है। सीखने या दूसरों के अनुभवों से लाभ उठाने का अवसर नहीं मिल पाता।

औद्योगिक मजदूरों के ही समान आर्थिक संकट और सुरक्षा की चिन्ता मध्य श्रेणी का भी पिंड नहीं छोड़ती। कार्यकर्त्ता बीमा अधिनियम (Employees Insurance Act) और कार्यकर्ता भविष्यनिधि अधिनियम (Employees Provident fund Act) जब सभी कारखानों में लागू हो जायँगे तो इनका प्रभाव मध्य श्रेणी के एक वर्ग पर भी पड़ेगा। किन्तु यह वर्ग अत्यन्त छोटा होगा, बड़ा भाग तो इन सुविधाओं के क्षेत्र से बाहर ही रहेगा।

इस वर्ग में परिवार के बोझ का अनुभव अधिक होने लगा है। जो सामान्य दृष्टि में परिवार से भागने की प्रवृत्ति-सा लगता है। आयु हो जाने पर भी विवाह नहीं करना अथवा परिवार के बन्धन में पड़ने से घबराना, विवाह के समय मानसिक उद्वेग तथा चिन्ता प्रकट करना आदि ऐसे ही लक्षण लगते हैं। किन्तु इस प्रवृत्ति से घबराने की आवश्यकता नहीं है। जिम्मेवारी की इस भावना को शुभ लक्षण ही समझना चाहिए। परिवार तथा विवाह को यों ही बालकों का खेल समझ लेना, अथवा अनिवार्य समझ कर बिना नवीन उत्तरदायित्व का अनुभव किये यों ही सिर पर उठा लेना, वर्त्तमान युग में उचित और लाभप्रद नहीं है। विवाह के पश्चात् सन्तितिनिरोध तो नहीं, परन्तु सन्ततिवृद्धि नियन्त्रण की प्रवृत्ति आने लगी है। भारतीय सरकार भी परिवार के नियोजन पर जोर दे रही है और वृद्धि नियन्त्रण के लिए विशेष सलाहकारों की नियुक्ति कर रही है। यह उचित रूप में जिम्मेवारी अनुभव करने का

आरम्भ है, परिवार से भागने का नहीं। हमारे देश में १९५१ की जनगणना के अनुसार १५ से २४ वर्ष तक की बालिकाओं में, अपनी आयु की केवल १·५ प्रतिशतक बालिकायें ही अविवाहित रह जाती हैं, जो सम्पूर्ण स्त्रियों की ०·४ प्रतिशतक ही हैं। २५ से ३४ तक की आयु में यह प्रतिशत ०·२ ही रह जाता है। युगल परिवारों की समस्या जितनी आर्थिक है, उससे कम नहीं—अधिक हो, मानसिक और सांस्कृतिक है। भारतीय संस्कृति और वैवाहिक संस्था प्राचीनता की भित्तिपर आधारित है; इसलिए नवयुग और नव-स्वप्नों के अनुकूल वह नहीं पड़ती। इतना निश्चित है कि यूरोपीय मुक्त-प्रेम की अपेक्षा भारतीय विवाह प्रणाली अधिक वास्तविक है; जगत और जीवन को समझ कर ले चलने की सुविधा इसमें अधिक है। इसमें पिता-माता तथा अभिभावक को वर-वधू की सम्पूर्ण स्थिति पर विचार कर आगे बढ़ने का अवसर मिल जाता है। शान्ति और सावधानी के साथ एक-एक ज्ञातव्य तथ्य का पता लगाया जा सकता है। न तो शीघ्र निर्णय की आवश्यकता रहती है और न क्षणिक आवेग में बह जाने की। परिवार में प्रविष्ट होना, वैवाहिक बन्धन में बँधना ऐसा कार्य है, जिसमें सोचसमझ कर ही आगे बढ़ना चाहिये, क्षणिक आवेग में बह कर नहीं। इस नये उत्तरदायित्व को वहन करने योग्य जीवन-साथी का निर्वाचन गम्भीर सवाल है, जिसे कोरा अनुभवहीन प्रेम नहीं हल कर सकता, ज्वार-भाटे की तरह उमड़ कर लौट जाने वाला आवेग नहीं निभा सकता। इतना होने पर भी हमारी प्राचीन प्रणाली में आज बुराइयाँ ही बुराइयाँ आ गई हैं, जिनके नीचे इसके सारे गुण दबकर नष्ट हो गये हैं। इसलिए इसके पुनर्गठन तथा नव-निर्माण की अनिवार्य आवश्यकता आ गई है। यदि यह इसी रूप में जीती रही तो आनन्द और जीवन की कब्र खोदकर रहेगी। बाल-विवाह, दहेज, स्त्री-शिक्षा का अभाव, युवकों की विमूढ़ता, माता-पिता तथा अभिभावकों का लोभ, इसे महानिकृष्ट बनाकर छोड़े हुए है। दहेज के लिए वरों का मानों, नीलाम बोला जाता है, वधू की शिक्षा-दीक्षा, स्वभाव आदि का कोई भी

मूल्य नहीं है। यों तो मापनीय और गणनीय अत्याचार का (the tyranny of the measurable and countable) वर्त्तमान जीवन में पद-पद पर अनुभव होता है, परन्तु इस परिस्थिति में जितना कटु ज्ञान पड़ता है, उतना शायद कभी नहीं। बालिका के गुण तो मापे और गिने नहीं जा सकते, केवल दहेज के रुपये तथा सामान माप्य तथा गण्य हो सकते हैं। शहर के निवासी तथा शिक्षित मध्य श्रेणी वाले भी इससे मुक्त नहीं हैं। शिक्षित होने का अभिप्राय होता है, विवाह के बाजार में मूल्यवान् सौदा बनना। पढ़ा-लिखा लड़का एक हुण्डी है, जिसे आसानी से भुनाया जा सकता है। इसका नवनिर्माण आसानी से हो सकता है, परन्तु इसके लिए वातावरण की अत्यन्त आवश्यकता है। जिस दिन दहेज की परिपाटी मिट जायगी, उसी दिन इसका रूप निखर सकता है।

हमारे नवजवान भी प्रेम-विवाह का स्वप्न देखने लगे हैं। कोरे प्रेम के आधार पर विवाह की पद्धति यूरोप के लिए भी हितकर नहीं हो रही है। अनुभवहीन अधकचरे युवक और युवती के लिए विवाह कोरे आनन्द का विषय मान लिया जाता है। ये अल्हड़ प्रेम को स्वर्गीय स्वप्नों से मढ़कर निरपेक्ष अमिश्रित मधुरता की कल्पना में लपेटे रहते हैं। परन्तु जीवन के धरातल पर उतर आने के बाद सारे सपने चूर-चूर हो जाते हैं। ठोस जगत में चलते-फिरते समय एक भार वहन करना पड़ता है, जिसमें मधुरता के साथ ही कटुता भी है, सरसता के साथ ही उबा देने वाली नीरसता भी है; राग के साथ-साथ विराग भी है। फलतः ऐसे विचार करने वाले शीघ्र ही आकाश से मिट्टी पर गिर जाते हैं और धरती के कण्टक उस कोमल कल्पना-जीवी जीव को क्षत-विक्षत कर देते हैं। उपन्यासों, काव्यों और नाटकों के जिस रोमाण्टिक संगीत से वे अपना कान भरे रहते हैं, वह शीघ्र ही शून्य में विलीन हो जाता है। उसके स्थान पर पारिवारिक जिम्मेवारी का कर्कश नाद ही सुनाई पड़ता है। सारे स्पन्दन, सारे सुखाश्रु, सारी मधुर वेदना नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। ऐसा देखा जाता है कि जो इस

प्रथम धक्के को सहकर भी खड़े रह लेते हैं वे किसी तरह निभा ले जाते हैं। यूरोप में अधिकांश विच्छेद विवाह के दश वर्षों के भीतर ही होते हैं।

जो इस प्रथम धक्के को नहीं सह सकते और इससे ठोस धरातल पर उनके पैर नहीं आ जाते, वे विचित्र मानसिक विकृति से ग्रस्त हो जाते हैं। एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वोल्फ का कहना है कि "ये कल्पनात्मक आदर्शवादी वे लोग हैं जो जीवन भर प्रेम करते और तोड़ते रहते हैं। इनका जीवन एक ऐसा नाटक है जिसके पात्र की मनोवृत्ति एक नौसिखुए अभिनेता जैसी होती है।" वास्तव में चलती प्रेमासक्ति एक अस्थायी पागलपन है। वास्तविक प्रेम के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि "प्रेमासक्ति अच्छी तरह बिताये जीवन का एक सुखपूर्ण पारितोषिक है, न कि वैवाहिक जीवन की ही नींव।" (प्रेम और विवाह)।

हमारे देश के सांस्कृतिक और मानसिक धरातल पर पश्चिम से उधार ली हुई चञ्चल प्रेमासक्ति की अवतारणा और भी हानिकारक हो रही है। यहाँ तथाकथित प्रेम-विवाहों का एक बड़ा अंश असफल होता है। हमारे पास कोई तत्सम्बन्धी तालिका नहीं है और हमारे यहाँ तालिका रखना भी कठिन ही है। प्रेम समानता की चीज है, वह समता लाता है, वरन् पुरुषों को ही झुकना पड़ता है, नारी अपनी स्वाभाविक लज्जा और संस्कार के कारण चुप ही रहती है और आकर्षण का प्रधान आलम्बन होने के नाते ऊँचे आसन पर ही विराजमान रहती है। पुरुष को ही झुककर, दबकर, दया की भीख माँगने के लिए वहाँ तक सरकते हुए जाना पड़ता है। मानों वह जायसी की पदमावती की तरह पुकार कर कहती है:—

हौं रानी पदमावती, सात सरग पर बास।
हाथ लगौं रे तेहि के, प्रथम करे अपनास॥

वास्तव में अपनेपन का, आत्माभिमान का नाश किये बिना वह नारी तक पहुँच नहीं सकता। किन्तु हमारे संस्कार के अनुसार,

विवाह के बाद पुरुष ही बड़ा हो जाता है, क्योंकि वह नारी का स्वामी है, पति है, नाथ है। नारी बिचारी अधिक-से-अधिक अर्धाङ्गिनी ही बन सकती है। अधिकांश स्थिति में पत्नी बनने के पहले तक वह प्राणेश्वरी रहती है, पश्चात् अबला हो जाती है। ऐसे विवाहों में यह स्थान-परिवर्त्तन अखरने लगता है। जोश ठण्ढा हो जाने पर पुरुष का पुंस्त्व जग पड़ता है और वह अपने अधिकार के लिए सचेष्ट हो जाता है। छोटे-छोटे बहाने मिलने लगते हैं। इस नई परिस्थिति और नये परि-वर्त्तन को जो नारी समझ लेती है, वह किसी तरह घर सँभाल लेती है; किन्तु इसका समय पर अनुभव कर लेना और करने पर भी अपने को उसके अनुरूप ढाल लेना सब के लिए—विशेषतया किताबी दुनिया में ही रहनेवाली उच्च शिक्षाप्राप्त युवतियों के लिए सरल नहीं होता।

एक परिचित उच्च-शिक्षाप्राप्त दम्पति की दुखद कहानी, भारतीय प्रेम-विवाहों का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए नमूने का काम कर सकती है। दोनों एम० एस-सी० हैं। प्रेमविवाह होने के कारण दोनों अपने को परम सौभाग्यवान् मानते थे। युद्ध के समय, जब कलकत्ते की सड़कों पर चलना सैनिकों के कारण सुरक्षित नहीं था, पत्नी ने काम करना तथा कालेज आना-जाना छोड़ दिया। दो वर्षों के पश्चात् जब वह माता बनने जा रही थी, पतिदेव ने अधिकारस्थापन का प्रयत्न किया। उसने लड़ने का प्रयत्न किया, परन्तु पूरी अनुकूलता या उपयोजन (adapta-bility) अपने में नहीं ला सकी। पारिवारिक व्यय बढ़ता ही गया। स्वामी का आदेश हुआ "पाई-पाई का हिसाब-किताब रखना होगा।" जो बिचारी अब तक रसायनशास्त्र की गुत्थियाँ सुलझाती आ रही थी, पाई-पैसे का हिसाब रखने में अपना ज्ञान क्यों खपाती? प्रयास करने पर भी नियमितता नहीं ला सकी। धीरे-धीरे वावेला मचा और तमाचे चलने लगे। और फिर इनकी पुनरावृत्ति होने लगी। इसके आगे की कहानी अत्यन्त कारुणिक तथा विचित्र है। पत्नी बिचारी चरित्रवान् नैतिकता का ध्यान रखने वाली, तथा विचारवान् रहते हुए भी बिना किसी विधि के एक अन्य पुरुष के फन्दे में पड़ी परन्तु तीव्र मानसिक

वेदना के कारण जी नहीं सकी, 'दो' बच्चों को अनाथ छोड़कर चल बसी। पति महोदय डाक्टरेट की तय्यारी करते थे, छोड़ बैठे

यह एक अति का नमूना हुआ, किन्तु नमूने तो अति के ही हो सकते हैं, वास्तविकता जो सामान्य स्थिति में दबी रहती है, जहाँ उभड़ कर सामने आ जाती है, वहीं नमूना तय्यार होता है। इसलिए यह समस्या भी यहीं खुल कर स्पष्ट रूप में सामने आ जाती है। अन्यत्र या हमारे यहाँ ही सवर्णों को छोड़कर शेष लोगों में सम्बन्ध-विच्छेद, ऐसी स्थिति में, स्वाभाविक फल हो जाता है। कई जातियों में तो विच्छेद के बाद भी ऐसे पूर्व पति-पत्नी, सामान्य रूप में बातचीत भी करते हैं और मिलते-जुलते भी हैं, विशेष संकोच या लज्जा तथा वैराग्य का अनुभव नहीं होता। किन्तु हमारा संस्कार गुप्त व्यभिचार से उतना नहीं काँपता, जितना तलाक से। स्वयं नारी की विवेक-बुद्धि अपने प्रति ही विद्रोह कर उठती है। हमारी मनोवृत्ति इसे स्वीकार भी नहीं कर सकती, परित्यक्ता नारी को ग्रहण करने की तो बात ही अलग है। अन्तर्जातीय विवाह, विधवा या परित्यक्ता विवाह तथा सम्बन्ध-विच्छेद थोड़े-से लोगों में चले हैं, हम कभी-कभी इन लोगों की प्रशंसा भी कर दिया करते हैं, परन्तु स्वयं साथ नहीं दे पाते। आर्थिक दृष्टि से चोटी के कुछ लोग समाज की चिन्ता किये बिना, अपने बलबूते पर परम्परा तोड़कर प्रतिष्ठित रह पाते हैं, अथवा समाज के अप्रतिष्ठ तथा हीन लोग परिस्थिति से बाध्य होकर विधवा विवाहादि की ओर अग्रसर होते हैं। कानूनी अड़चन नहीं, सामाजिक अड़चन में ही बाधा प्रधान रूप में सामने है। मध्य श्रेणीवाले, इस ओर कदम नहीं बढ़ा सकते।

हमारे यहाँ भोजनादि तथा गृह-प्रबन्ध इतना श्रमसाध्य तथा समयसापेक्ष है कि छोटे परिवार के लिए भी स्त्री को अपना सारा समय दे देना पड़ता है। होटलों का जीवन हमारी रुचि और मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं पड़ता। कुछ दिनों पहले एक अनुभवी लेखक ने दिल्ली तथा लन्दन के होटलों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था। भारतीय होटल बहुत मँहगे पड़ते हैं, साथ ही इनकी व्यवस्था भी पारि-

वारिक जीवन के अनुकूल नहीं पड़ती। चाहे ये लन्दन से मँहगे हों या सस्ते, इतना निश्चित है कि मध्य श्रेणी के गृहस्थ की सामर्थ्य से परे हैं। इसलिए शिक्षित महिलाओं के लिए भी गृह प्रबन्ध की ओर अधिक ध्यान देना पड़ता है। फलतः उन्हें सुविधा रहते हुए भी उत्पादक श्रमों से हाथ धोना पड़ता है, हमारा संस्कार भी नारी की नौकरी नहीं पसन्द करता। गृह-प्रबन्ध में शिक्षिताएँ अर्द्ध-शिक्षिताओं से अच्छी ही होंगी यह निश्चित नहीं है। वास्तव में उनकी योग्यता जहाँ प्रस्फुटित और विकसित होती वहाँ से उन्हें हटाकर गृह-व्यवस्था की जिस जगह पर लगाया जाता है, वहाँ वे अयोग्य, अपटु तथा हास्यास्पद ही बनती हैं। फलतः उनका मूल्य घट जाता है, और पतिदेव भी उन्हें आश्रिता ही समझ बैठते हैं। यह सामान्य अनुभव का विषय है कि यदि महिला भी उच्च शिक्षाप्राप्त हो तो उसे भी कोई उत्पादक-श्रम करना ही चाहिये। इसमें सफलता के तीन-चार कारण होते हैं :—

(१) उपार्जन से अन्य नारियों में श्रेष्ठ बने रहने का गौरव उसे मिलता रहता है। इसलिए उसकी सामान्य-दुर्बलताएँ जैसे श्रम-शक्ति का अभाव और सामान्य गृहप्रबन्ध में रुचि की कमी, छिपी रहती हैं। सामने नहीं आने पातीं।

(२) आर्थिक स्वावलम्बन आश्रिता होने का भान नहीं आने देता।

(३) दम्पति थोड़ी देरके लिए अलग-अलग रहते हैं। अस्तु अति या सतत-सान्निध्यका अजीर्ण नहीं होने पाता।

(४) पति तथा परिवार के अतिरिक्त भी उसके पास अन्य काम रहते हैं। इसलिए छोटे-छोटे पारिवारिक झंझटों को लेकर सिर खपाने की बाध्यता नहीं रहती।

इन समस्यायों का यह अर्थ नहीं है कि युगल परिवारों का वैवाहिक जीवन असफल हो रहा है या सारे प्रेम-विवाह विफलता में ही परिणत हो जाते हैं। इनका अर्थ इतना ही है कि ये प्रश्न सामने है; कुछ परिवार इसके बहुत अधिक शिकार हो जाते हैं —और कुछ में यह विष

बाहरी कोई चिह्न नहीं प्रकट करता। दुख और सुख के बीच आँसू और हँसी में झूलते हुए ये चलते हैं और जीवन के दिन काट ले जाते हैं।

पारिवारिक आनन्द की स्थिरता तथा मधुर सम्बन्ध तब तक बने रहते हैं जब तक दोनों एक दूसरे की आवश्यकता अपने लिए अनुभव करते रहते हैं। यह आवश्यकता भौतिक और जीवात्मक ही नहीं, मानसिक भी रहती है। उत्पादन में सहायक होने पर भी स्त्री पुरुष के आदर की पात्र है और पुरुष स्त्री का आलम्बन, यह निरपेक्ष सत्य नहीं है। श्रमिकों, किसानों तथा कारीगरों के घरों में उत्पादन की सहायिका होने से भी स्त्रियाँ आदर पाती हैं, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु यह स्थिति हमारे समाज के निम्न स्तर की ही है। मध्य श्रेणी में गृह-प्रबन्ध के सिवाय बहुत ही कम स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से पति की सहायता कर पाती हैं, तो भी ये सम्मान की पात्र बनी रहती हैं। इस सम्मान का एक बड़ा आधार पुरुष की मानसिक आवश्यकता है। वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली में शिक्षित पुरुष आरम्भ से ही परावलम्बी बना दिया जाता है। हमारी शिक्षा-दीक्षा, पालन-पोषण इसके लिए दायी है। शारीरिक श्रम का अभाव और अपने सभी कामोंके लिए दूसरों पर आश्रित रहने का अभ्यास शिक्षितों में से अधिकांश को इस योग्य नहीं रहने देता कि अन्य की सहायता के बिना अपना काम स्वयं चला सकें। हमेशा अभिभावक और माता की आवश्यकता बनी रहती है। एक मनोवैज्ञानिक इसे ही कहता है कि "ये अन्य दृष्टियों से विकसित हो जाने पर भी मानसिक रूप में बालक ही बने रहते हैं। बौद्धिक तथा शारीरिक विकास के साथ इनका मानसिक विकास कदम-में-कदम मिलाकर नहीं चल सकता।" फलतः एक ऐसा व्यक्ति चाहिये जिस पर वे अपने को पूर्णतया छोड़ सकें। स्त्री यह स्थान ले सकती है, और लेती ही है। एक बाल-बच्चों वाले विधुर विद्वान् ने उम्र ढलने पर विवाह किया। कारण पूछने पर बड़े कष्ट के साथ बतलाया कि—"और तो कुछ नहीं, कपड़े धोबी को देने वाला भी कोई नहीं था।" जो व्यक्ति बाहर जितना ही दृढ़ तथा गम्भीर दिखाई पड़ता है, वह भीतर से उतना ही

बालकवत् परावम्बी होता है। ऐसे पुरुष की पत्नी को भी शारीरिक और भौतिक के साथ ही दोहरे मातृत्व की तृप्ति होती है।

आज की शिक्षाप्रणाली का यह दोष है कि युवक और युवती दोनों को परावलम्बी बना दिया जाता है। वे दोनों श्रम से जी चुराने लगते हैं। ऐसी स्थिति में शिक्षाप्राप्त स्त्रियों में से भी कई सच्चे रूप में अभिभावकत्व नहीं कर पातीं, और न मातायें ही बन सकती हैं। जो पत्नी पति का सारा भार नहीं सम्भाल सकती व जीवन में बहुत ही कम सफल हो पाती है। ऐसी शिक्षिताओं के लिए एक ही रास्ता है। वे स्वतः कुछ-न-कुछ उपार्जन करें। जो माता के समान अभिभावक भी नहीं बन सकतीं, उपार्जन भी नहीं कर सकतीं, वे तभी सफल हो सकती हैं, जब पति उनके व्यक्तित्व से अभिभूत रह सके, किन्तु आज की परिस्थिति में बहुत ही कम स्त्रियों का व्यक्तित्व ऐसा प्रभावोत्पादक हो सकता है।

समाजशास्त्रियों, सामाजिक संस्थाओं तथा हमारे कल्याण-राज्य का भी ध्यान सामूहिक के साथ ही व्यक्तिगत परिवारिक समस्याओं की ओर जाने लगा है और सम्पूर्ण वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग परिवार को सुखी तथा सरस बनाने के लिए हो रहा है। परिवारिक कल्याण साधना केन्द्र (Family welfare Agency) इसी उद्देश्य से संगठित एक प्रशंसनीय कदम है। १९५० में सर्वप्रथम बम्बई में इसकी स्थापना की गई। अभी तक इसका क्षेत्र तथा इसके कार्य बम्बई शहर तक ही सीमित हैं, परन्तु विश्वास है, इसकी शाखायें अन्यत्र भी खुलेंगी और यह वर्तमान जीवन की अनेक उलझनों को सुलझा कर परिवार में आनन्द बिखेरने में प्रधान भाग लेगा। मिस० जी० आर० बनर्जी के अनुसार "जिन साधनों का उपयोग इस केन्द्र में किया जाता है वे या तो परिवेश सम्बन्धी या मनोवैज्ञानिक या दोनों हो सकते हैं। परिवेश का अर्थ है विशिष्ट साधनों के प्रयोग या बाहरी स्थिति और तथ्यों के परिवर्त्तन द्वारा समस्याओं से मुक्ति दिलाने या इन्हें कम करने अथवा टालने की कोशिश, तथा मनोवैज्ञानिक

का अभिप्राय है अपनी समस्या स्वयं समझने में एवं अभियोजन या अनुकूलन के लिए आन्तरिक शक्ति को प्रेरित करने में व्यक्ति की सहायता करना।"[१]

प्रथम साधन के उपयोग की सीमा इन केन्द्रों के लिए अत्यन्त संकुचित है। इनके द्वारा बाहरी परिस्थितियों तथा परिवेश पर नियन्त्रण अत्यन्त साधारण तथा छोटी-मोटी बातों के सम्बन्ध में ही सम्भव हो सकता है। हमारी पारिवारिक समस्याओं को उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियाँ इतनी व्यापक तथा साधनसापेक्ष हैं कि सारे राष्ट्र की सम्मिलित शक्ति और बुद्धिपूर्वक निर्धारित योजना ही इन्हें हल कर सकती है। तो भी दैनिक जीवन में आनेवाले ऐसे छोटे-मोटे अनेकों प्रसंग और विषय हैं, जिनमें मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्री की सहायता व्यक्तिगत परिवारों के लिए काफी उपयोगी सिद्ध हो सकती है। मनोवैज्ञानिक साधन के रूप में केन्द्र की सहायता तथा सलाह सबसे अधिक लाभप्रद सिद्ध होगी, और व्यक्तिगत रूप में व्युत्पन्न कई समस्यायें वस्तुस्थिति तक पहुँचकर अत्यधिक शक्ति जागृत करने से अपने-आप हल हो जा सकती हैं। उपर्युक्त एम० एस-सी० दम्पति के दोनों पहलू कोई कल्याण केन्द्र सम्भाल सकता था। पत्नी बिचारी को कोई भी काम—और यदि अन्य कुछ नहीं हुआ तो एक उपयुक्त ट्यूशन, दिला देने से भी उनका परिवेश सुधर जाता, एवं पुरुष के अन्तर में निहित ग्रन्थि तथा ताड़ना-वृत्ति (mesochism) को दूर करने में जागृत सचेतना, आत्मज्ञान और सतर्कता से अवश्य कुछ-न-कुछ सफलता मिलती।

---

१. The means adopted may be either environmental i.e. utilizing specific resources or changing external factors so as to alleviate, diminish or remove problems, or psychological i. e. helping the individual to understand his problems, and mobilise his personality strength to effect an adjustment, or both—family social service Social welfare in India-1955-56.

पाँचवाँ प्रकरण

(परिवार का भविष्य)

विघटन की चिन्ता तथा भविष्य

पाश्चात्य समाजशास्त्रियों में कई परिवार की वर्तमान गति देखकर चिन्तित हो रहे हैं। यह चिन्ता उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में आ गई थी, तथा द्वितीय महायुद्ध तक उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई, थोड़ी-बहुत तो आज भी मौजूद है; यद्यपि बहुत कम हो गई है। उद्विग्नता के कारणों में ऐसी दो प्रवृत्तियाँ हैं, जो सामान्य रूप में विघटन की ओर ले जाने वाली-सी जान पड़ती हैं। वे हैं, सम्बन्ध-विच्छेदों की अधिकता तथा पारिवारिक-जीवन से पलायन।

सम्बन्ध-विच्छेदों की सदा बढ़ती जानेवाली प्रवृत्ति का थोड़ा आभास निम्न तालिका से लग सकता है। १००० की जनसंख्या में होनेवाले सम्बन्ध-विच्छेदों का अनुपात वास्तव में विचारणीय है :—

देश	१९०० के सम्बन्ध विच्छेद	१९३८ के सम्बन्ध विच्छेद	१९०० और १९-३८ की गति का अनुपात
आस्ट्रेलिया	·१०	·४४	४·४
कनाडा	·००	·२०	—
इंग्लैंड और वेल्स	·०२	·१५	७·५
जर्मनी	·१५	·७२	४·८
फ्रांस	·२६	·५८	२·३
जापान	१·४२	·६२	·४४
रूस	—	५·८१ (१९२४)	—
स्वीडेन	·०८	·५५	६·९
संयुक्तराष्ट्र	·७३	१·८८	२·६

इस तालिका से स्पष्ट है कि १९०० में जापान तथा अमेरिका सब से आगे थे; परन्तु १९२८ में रूस बाजी मार ले गया। परन्तु द्वितीय स्थान संयुक्तराष्ट्र का ही रहा। जापान की गति आधी से कम हो गयी, इससे जान पड़ता है कि पुराने जापान के लोकाचार विच्छेद के लिए वर्तमान कानून की अपेक्षा अधिक अनुकूल थे। रूस की स्थिति विचित्र है। पहले यहाँ विच्छेद कम होते थे। क्रान्ति के पश्चात् इस सम्बन्ध में अधिक छूट दे दी गई। फलतः १९२८ में इसकी बाढ़ आ गई; परन्तु अधिकता से उत्पन्न सामाजिक कुफलों की ओर शासन का ध्यान गया और १९३६ में इसके लिए बड़े कड़े नियम बना दिये गये, फलतः आज वहाँ की गति अन्य यूरोपीय देशों से भी धीमी है। १९४४ के बाद तो और भी कड़े नियम बरते जाने लगे हैं।

१९४५-४६ में सभी पश्चिमी देशों में—विशेषतया अमेरिका में, विच्छेदों की संख्या ३८ से भी अधिक बढ़ गई थी। ऐसा जान पड़ने लगा था कि सम्पन्न विवाहों में से प्रति तीन में एक का विच्छेद हो जायगा। किन्तु यह एक विशेष समय की विशिष्ट परिस्थिति से उत्पन्न सामयिक तत्त्व था, स्थायी नहीं; युद्ध के समय हजारों नवजवान घर से बाहर थे। इसलिए इनमें से अनेकों का मन अपनी पत्नियों से नहीं मिल रहा था। फलतः इनके सम्बन्ध-विच्छेद स्वाभाविक थे और इनकी संख्या इसी से बढ़ी। १९४७ से यह गति और भी मन्द हो गयी है और दिन-पर-दिन होती जा रही है। खैर, अनेक समाजशास्त्रियों को भय है कि कहीं ये विच्छेद फैशन के रूप में न परिणत हो जायँ।

विवाहसे पलायन की गतिका थोड़ा-बहुत आभास उन लोगोंकी संख्या से मिल सकता है, जो अकेले रहना चाहते हैं। १९३१ में ही इंगलैण्ड और वेल्स में ऐसे लोगों की संख्या ६,४९,००० थी, जो आज और भी बढ़ गई है। १९३७ में ग्रेट-ब्रिटेन में सम्पूर्ण जनसंख्या के २ प्रतिशत परिवार केवल एक ही व्यक्ति से बने थे और ऐसे लोगों की संख्या ८,५६,००० थी। इसका अर्थ यह है कि ३१ और ३७ के बीच ऐसे व्यक्तियों की संख्या १६·४७ प्रतिशत बढ़ गयी थी। इसका फल

सामान्य परिवार की संख्या पर भी पड़ा है। १९२१ में प्रति परिवार ४·१४ व्यक्ति थे। १९३७ में केवल ३·७२ ही रह गये। ऐसा लगता है कि युवक और युवतियाँ परिवार से भागना चाहती हैं; और विवाह हो जाने पर भी सन्तान नहीं पसन्द करतीं।

इन प्रवृत्तियों के कई कारण हैं, जिनमें मुख्य कुछ निम्न हैं:—

(१) पहले परिवार बहुत-कुछ जीवन का एक पूर्ण अंग था। समाज अपनी सारी प्रथायें, अपने सारे लोकाचार इसी के द्वारा, इसी के आवेष्टन, सन्निकर्ष तथा प्रतिवेश में बालक की अन्तरात्मा के भीतर प्रविष्ट कराता था। इसलिए मानव जो कुछ ग्रहण करता था, जो कुछ उचित-अनुचितका ज्ञान प्राप्त करता था, वह सम्पूर्ण परिवार की ही, उसकी अनुश्रुतियों और परिपाटियों की ही देन थी। अन्तःकरण-निर्माण (indoctrination) और अभ्यासीकरण (habituation) के प्रधान कारण होने से परिवार का ही रक्त उसकी धमनियों में प्रवाहित होता था, परिवार की ही दी हुई नैतिकता उसके अन्तर्हृदय में बोलती रहती थी। उसी को ध्वनि उसके कान सुनते थे, और जीभ दुहराती थी। परन्तु आज कल परिवार को अनेक क्रियाओं तथा कर्तव्यों का अन्तरण (transfer) हो गया है, वे समाज के अन्य अंगों को मिल गये हैं। श्रम एवं कार्य-विभाजन के कारण बालक और मानव के वातावरण, प्रतिवेश और फलतः व्यक्तित्व का ही विभाजन हो गया है।

पहले परिवार उत्पादन तथा उपभोग दोनों की दृष्टि से एक आर्थिक इकाई था। परिवार की सम्मिलित शक्ति के द्वारा जीवनोपयोगी अधिकांश उपभोग्य पदार्थों का उत्पादन होता था। शायद ही कोई जीवन के आवश्यक पदार्थ हों, जिनकी प्राप्ति के लिये वह परिवार के बाहर के लोगों पर पूर्णतया निर्भर करता हो। परिवार से बाहर जाने पर ग्राम थे जो ऐसे ही कई परिवारों के समुदाय मात्र थे। जो श्रम विभाजन था वह अत्यन्त ही आरम्भिक तथा सरल था। उससे परिवार की इकाई को अस्तव्यस्त होने का कोई खतरा नहीं था, अपितु वह इसे दृढ़ ही करता था। अन्नोत्पादन करने वाले सूत स्वयं ही कातते थे।

कपड़ा अवश्य बुनकर बुनते थे और कहीं-कहीं तो परिवार में ही उसके लिये भी प्रबन्ध था। बुनकर का परिश्रमिक अन्न के रूप में ही मिलता था। बुनकर अपने कार्य के लिये परिवार के अन्य व्यक्तियों पर निर्भर करता था। घर के उत्पादनों तथा सामानों का उपभोग घर में ही अथवा अधिक-से-अधिक वस्तुविनिमय के लिये गाँव में या प्राथमिक जनपद में हो जाया करता था। बाजार विस्तृत नहीं था।

बालकों की प्रधान शिक्षा-दीक्षा घर में ही हुआ करती थी। उद्योग की शिक्षा के लिये अन्य कोई प्रबन्ध नहीं था। जो कुछ ग्रहण किया जाता था, परिवार के भीतर और थोड़ा-बहुत अपने स्वजातीयों तथा स्ववर्गीयों के यहाँ ही। इससे अलग औद्योगिक ज्ञान की कोई गुञ्जाइश ही नहीं थी। साधारण शिक्षा के लिये भी घर से बाहर बहुत कम व्यवस्था थी। यह कार्य भी वहीं हुआ करता था। प्रौढ़ होने पर बालक धार्मिक विद्यालयों तथा गुरु के घर जाया करते थे। किन्तु उन्हीं के पास जाते थे जिनके धार्मिक विश्वास परिवार के अनुकूल होते थे। प्रसिद्ध शिल्पियों के घर पर भी शिक्षार्थी जुटते थे। परन्तु एक तो इस विशेष ज्ञान के लिये घर छोड़ने वालों की संख्या अत्यन्त अल्प थी; दूसरे ये विशेषज्ञ भी उसी वातावरण में पले रहा करते थे। इसलिये समाज की ममोवृत्ति पर इसका बहुत कम प्रभाव पड़ता था।

आर्थिक इकाई के साथ ही परिवार धर्म का भी अनुष्ठान था। सारी धार्मिक भावना, धारणा और चेतना घर में वृद्धों से ही प्राप्त होती थी। बालक का विश्वास वहीं से रूप ग्रहण करता था। इतलिये वह बहुत अधिक दृढ़ था। साथ ही धार्मिक कृत्य भी वहीं सम्पन्न होते थे। सामूहिक उत्सवों तथा त्योहारों में परिवार ही सम्मिलित होते थे। और जो व्यक्ति सम्मिलित होते थे वे विभिन्न परिवारों के सदस्यों की हैसियत से ही। मन्दिरों, मठों तथा गिर्जाघरों का प्रादुर्भाव होने पर धार्मिक कृत्यों का एक अंश परिवार से अलग हुआ और उसका महत्व इस कार्य के लिये परिवार से ऊँचा हो गया। घर छोड़कर संन्यास ग्रहण करने वालों की संख्या बढ़ने लगी; किन्तु दोनों प्रकार के जीवन में

शीघ्र ही सामंजस्य स्थापित हो गया। संन्यासी अपनी क्षुधातृप्ति के लिये गृहस्थों पर निर्भर करता था। इसलिए इस जीवनकी महत्ता को उसने कम करने की चेष्टा नहीं की। दो प्रकार के धर्मों का विकास हो गया—एक संन्यास के लिये दूसरा परिवार के लिये। गार्हस्थ्य धर्म के उत्सव, त्योहार, पर्व, पूजा, पाठ आदि मठों-मन्दिरों से सम्बद्ध होते हुए भी परिवार को प्रधान संस्था के रूप में जिलाये रखने के लिये काफी सक्षम थे।

इस युग ने परिवार की वह स्वतन्त्र-सत्ता समाप्त कर दी है। घोर श्रम-विभाजन, सूक्ष्म विशेषीकरण और अन्ततोगत्वा उद्योगों तथा यन्त्रों के विकास ने उसे आर्थिक इकाई नहीं रहने दिया है। आज न तो वह उत्पादन का केन्द्र है और न उपभोग का। आज का किसान भी अपने जीवनोपयोगी पदार्थों के अधिकांश भाग के लिए परावलम्बी है। जो कुछ वह पैदा करता है उससे उसकी आवश्यकता का एक छोटा अंश ही पूरा होता है, शेष के लिए वह बाजार का मुँह ताकता है। इसके लिए या तो वह उत्पादन का एक भाग बेचता है या अपनी शारीरिक सेवा प्रदान करता है। पश्चिमी देशों में कृषि का औद्योगिकीकरण हो गया है, बड़े-बड़े फार्म बन गये हैं। उत्पादन थोड़े लोगों के ही हाथ में आकर रह गया है। शेष कृषि से सम्बन्धित व्यक्ति भी वैसे ही मजदूर हैं, जैसे मिलों के मजदूर। ये फार्म अपनी आवश्यकता के लिये उत्पादन नहीं करते वरन् बाजार के लिये करते हैं; जिस चीज में लाभ की सम्भावना रहती है, जिसकी माँग रहती है उसे ही पैदा करते हैं। ऊन की माँग का फल यह हुआ था कि इंग्लैण्ड के खेत चरागाह के रूप में परिणत हो गये। इसलिए उत्पादक भी अपने भोग्य-पदार्थों के लिए परावलम्बी हैं; उसके नौकर-चाकर तो हैं ही।

आज धर्म परिवार की वस्तु न रहकर व्यक्तिगत विश्वास की वस्तु बन गया है। पर्व-त्योहार तथा अन्य धार्मिक कृत्यों में उतनी शक्ति और श्रद्धा नहीं रह गयी। आज न तो परिवार भर का धर्म एक है और न पारिवारिक धार्मिक कृत्यों में वह शक्ति है। विभिन्न वातावरण,

विभिन्न विचार और विश्वास इतने प्रबल हो गये हैं कि मानव-समाज को किसी भी निश्चित दिशा का ज्ञान नहीं होता। व्यक्ति अपनी इच्छाओं और विश्वास से किसी भी मठ में जाता है या नहीं भी जाता, फलस्वरूप पिता-पुत्र के विचार अलग हैं, स्त्री-पुरुष की धारणायें भिन्न हैं। परिवार न तो उनमें एकता ला सकता है और न वे परिवार को एकता के सूत्र में आबद्ध कर सकते हैं। मानों धर्म और परिवार में कोई सम्बन्ध ही नहीं है। फलस्वरूप धर्म के योग से पारिवारिक जीवन में जो एक पवित्रता की धारणा बनती थी वह समाप्त हो गई।

लेविस एम० टरमन ने सन्तुष्ट और असन्तुष्ट दम्पत्ति की मनोवृत्तियों की सामान्य रूपरेखा दी है। व्यावहारिक रूप में आपने प्राचीन विचारों को आनन्दमय पारिवारिक-जीवन का साधक तथा नवीन और तथाकथित प्रगतिशील विचारों को बाधक बतलाया है। आप कहते हैं सन्तुष्ट पत्नियों के लिए पुरातन विचार और प्रवृत्तियाँ आवश्यक लक्षण हैं।[1] इसीलिए "धर्म, नैतिकता और राजनीति में ये पुरातन विचार तथा परम्परा-पालन की ओर झुकी रहती हैं।" इसी तरह असन्तुष्ट पति भी "प्रायः अधार्मिक प्रवृत्ति वाले होते हैं और स्त्री-पुरुष सम्बन्ध नैतिकता और राजनीति में उग्रवादिता की ओर झुके रहते हैं।"

टरमन का यह कथन पूर्णतया सच हो या नहीं, परन्तु इतना सत्य है कि आज तक विवाह तथा स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का नियमन और सञ्चालन धर्मपरम्परा और लोकाचारों (mores) के द्वारा ही होता रहा है। वे ही जोड़ते हैं और जोड़ कर अनुकूलता बनाये रखते हैं। अभी नवयुग के अनुरूप परिवार के नियामक तत्त्वों का निर्माण पूरे और स्पष्ट रूप में नहीं हो पाया है। आज ये निर्माण की ही स्थिति में हैं, इसीलिए वर्तमान पाश्चात्य संस्कृति संक्रान्ति की स्थिति में है। अभी तक

---

१. Conservative attitudes are strongly characteristics of them—Psychological Factors in Marital Happiness.

इसका पूरा रूप ढल ही रहा है। यही कारण है कि जो पुरातन विचार वाले हैं उनके पास परिवार को बचाये रखने की और परिवार में रस लेने की मानसिक पृष्ठभूमि मौजूद है। उन्हें साधारण स्थिति में असंतुष्ट होने की अथवा तनिक-तनिक-सी बातों, असुविधाओं पर उबल पड़ने की प्रेरणा नहीं होती। परन्तु नवीन विचार वालों के लिये उन पुराने लोकाचारों का कोई मूल्य ही नहीं है। वे उन पर आस्था ही नहीं रखते। अस्तु ऐसा कोई मानसिक आधार उन्हें नहीं मिल पाता जिसे पकड़ कर वे असुविधायें झेल ले जायँ और ठोस दैनिक जीवन में अनिवार्यरूप से उत्पन्न कठिनाइयों को टाल सकें। फलतः उनका आनन्द टिक नहीं पाता, जीवन की आँधी के झोंके सहने की शक्ति उनमें नहीं रह जाती।

पश्चिम में परिवार के और तीन कार्य भी उससे ले लिये गए हैं; (१) वृद्धता तथा रुग्णावस्था की सेवा, (२) भोजनालय तथा गैहिक प्रबन्ध, (३) बच्चों की शिक्षा। पहले हर व्यक्ति परिवार के लिए किये हुए परिश्रम को बैंक का अधिष्ठान समझता था, उसी की उन्नति को अपनी उन्नति मानता था, मानों परिवार से अलग व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं था। वह अनुभव करता था कि वह जो कुछ कर रहा है, अपने बाल-बच्चों के साथ ही अपने लिए भी कर रहा है। वृद्धावस्था में पूर्ण प्रतिदान मिलने की आशा से प्रेरित होकर भी वह परिवार को सँभालता था। इसी तरह रुग्णावस्था में घर के सिवाय कोई सहारा नहीं था। परन्तु यूरोप तथा अमेरिका में आज वह स्थिति नहीं रही। युगल परिवारों की परिपाटी ने वृद्धों को तथा माता-पिता को परिवार की सीमा से पहले ही बाहर कर रखा है। आज वहाँ परिवार का अर्थ है केवल पत्नी तथा बच्चे। राज्य ने वृद्धों की सेवा का एक बहुत बड़ा भार उठा लिया है। जीवन-बीमा, पेंशनें तथा भविष्यनिधि आदि ने बूढ़ों को एक बहुत बड़ा सहारा दे रखा है। वृद्ध परिवार पर ही निर्भर नहीं रह गये।

विज्ञान तथा ओषधि-विज्ञान ने अपस्तालों की सुन्दर सृष्टि सम्भव

कर दी है जहाँ रोगियों की सेवा किसी भी परिवार से सुन्दर ही होगी। साधारण रोगों के लिए दवाइयाँ सर्वत्र उपलब्ध हो जाती हैं; किन्तु चारपाई पकड़ने के साथ ही हर व्यक्ति अस्पताल जा पहुँचता है। वहाँ सामान्यतया परिवार के किसी व्यक्ति की सहायता अनावश्यक है। इसलिए इस समय की चिन्ता परिवार से बाहर रहने वालों को भी नहीं रहती, वे भी इस सम्बन्ध में आश्वस्त ही रहते हैं।

बहुत पहले से ही घर का प्रबन्ध स्त्री के जिम्मे रहता आया है। इसीलिए वे गृह-स्वामिनी हैं। जिन जातियों में स्त्रियाँ पुरुषों के साथ-साथ खेतों तथा खलिहानों में खटती हैं उनमें भी घर पर उन्हीं का शासन रहा करता है। जहाँ सम्पूर्ण उत्पादन के साधन पुरुषों के हाथों में ही हैं, नारी उससे वञ्चित है, वहाँ वह घर की पर्यायवाची है। यदि वह नहीं रहे तो घर ही बिखर जाय और समय पर भोजन ही नहीं मिले। इसीलिए हमारे यहाँ देहाती कहावत है—"बिन घरनी घर भूत का डेरा।" आज यूरोपीय घरों में स्त्रियाँ अनिवार्य नहीं रह गईं। होटलों ने उनका स्थान ले लिया है और इस गृहप्रबन्ध को भी व्यवसाय का रूप दे दिया गया है। आज तो स्थिति यह हो गई है कि परिवार भी भोजन के लिए कुछ-न-कुछ, होटलों पर निर्भर करने लगा है। इनमें कोई भी पैसे खर्च कर घर में मिलने वाली सारी भौतिक सुविधायें पा सकता है।

वर्त्तमान वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक शिक्षा-प्रणाली के सामने घर की पुरानी शिक्षा बेकार हो चुकी है। प्रौढ़ों की शिक्षा का उच्चस्तर पहले की धार्मिक संस्थाओं में पूरा होता था। आज बच्चों को शिक्षा तथा पालन-पोषण का भार भी किंडरगार्टेन स्कूलों ने ले लिया है, तथा घर से भी अधिक लाभ-प्रद ही नहीं, आकर्षक एवं मोहक भी बना दिया है। अब मानो इसके लिए भी परिवार अनिवार्य नहीं रह गये। रूस का प्रत्येक बालक तथा प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र की सम्पत्ति है, जिसके पालन-पोषण का सारा उत्तरदायित्व उसी पर है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह सिद्धान्त कार्य रूपमें कहाँ तक परिणत हो गया है,

परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह एक आदर्श है, जिसकी ओर वह राष्ट्र बढ़ रहा है और बढ़ना चाहता है।

प्राचीन समाज में आर्थिक दृष्टि से स्त्री और पुरुष एक-दूसरे पर निर्भर थे। नारी का तो सम्पूर्ण अस्तित्व ही पुरुष की कृपा पर था, पुरुष भी नारी के बिना नहीं चल सकता था। आज वह परस्परावलम्बन बहुत कुछ समाप्त हो चुका है। नारी भी उस रूप में आश्रिता नहीं रही। उद्योगों तथा यन्त्रों के विकास ने उसके लिये भी काम के क्षेत्र खोल दिये हैं। उसके भी श्रम का मूल्य द्रव्यरूपमें परिणत किया जा सकता है। इस परिवर्तन के स्पष्ट फल दिखाई पड़ रहे हैं।

स्त्रियाँ उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक घर से बाहर निकल कर काम करने लगी हैं। इनमें केवल कुमारियाँ ही नहीं, विवाहितायें भी काफी हैं। इस प्रवृत्ति का विकास किस अनुपात में हो रहा है, इसका थोड़ा-बहुत अनुमान संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की तत्सम्बन्धी निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है।

सन्	कार्यरत विवाहिताओं की संख्या	वृद्धि का प्रतिशतक		कार्यरत विवाहिताओं का प्रतिशत	
		कार्यरत विवाहिताओं की वृद्धि का	सम्पूर्ण विवाहिताओं की वृद्धि का	सम्पूर्ण विवाहिताओं का	सम्पूर्ण कार्यरत स्त्रियों का
१८९०	५१५,२६०	—	—	४·६	१३·९
१९००	७६९,४७७	४९·३	२४·१	५·६	१५·४
१९१०	१,४९०,६६१	१४५·७	२८·१	१०·७	२४·७
१९२०	१,९२०,२८०	१५·७	२०·६	९·०	२३·०
१९३०	३,०७१,३०२	५९·९	२२·८	११·७	२८·९
१९४०	४,५९०,८३५	४८·५	१५·०	१५·७	३५·५

इस तालिका से निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं:—

(१) विवाहिता स्त्रियों की वृद्धि का प्रतिशतक १९१० से लगातार घटता गया है। १९०० में २४·१ से १९१० में २८·१ हो गया था, किन्तु

उसके बाद ही २८·१ से १५·० आ गया। यह विवाह से बचने की प्रवृत्ति कार्य की सुविधाओं के लिए उत्पन्न हुई और स्वतन्त्रता की भावना से भी।

(२) इस तालिका में काम करनेवाली कुमारियों की संख्या नहीं है; परन्तु उसका हिसाब लगाया जा सकता है। १८९० में विवाहिता स्त्रियों की संख्या सम्पूर्ण कार्यरताओं की १३·९ प्रतिशत थी, अर्थात् ८६·१ प्रतिशत कुमारियाँ थीं। इसका अर्थ यह हुआ कि उनकी संख्या $\frac{५१५,२६,००० \times ८६·१}{१३·९}$ यानी ३० लाख से अधिक थी। १९४० म यह संख्या ८० लाख के करीब हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि काम करने वाली कुमारियों की संख्या ५० वर्षों में तिगुनी से थोड़ी ही कम बढ़ी है।

(३) कार्यरत विवाहिताओं की संख्या ५ लाख से ४५ लाख अर्थात् ९ गुनी हो गयी है। १९४० में सम्पूर्ण कार्यरताओंकी ३५·३ प्रतिशतक अर्थात् प्रत्येक ३ में प्रायः १ विवाहितायें थीं; जब कि १८९० में प्रायः ७ में १ थी।

(४) १८९० में २२ विवाहिताओं में १ कमानेवाली थी, १९४० में प्रत्येक ७ में १ हो गई। युद्ध के बाद तो यह प्रवृत्ति और भी बढ़ गई है, तथा आज प्रत्येक ४ में १ कमाने लगी है।

इंग्लैण्ड तथा वेल्स इस दिशा में अमेरिका से पीछे हैं, परन्तु प्रवृत्ति तो है ही। विशिष्ट आयु समुदायों में सम्पूर्ण कार्यरताओं के अनुपात में विवाहिता कमानेवाली नारियों का प्रतिशतक निम्नलिखित है :—

वर्ष	२०-२५ की आयु	२५-३५ की आयु	३५-४० तक
१९११	१२·९	१०·७	१०·६०
१९३१	१९·२	१३·८	१५·५

इससे स्त्रियों में पुरुषों के समान ही नौकरी, मजदूरी तथा पदोन्नति का ध्यान प्रधान पड़ गया है। इनके लिए घर की चिन्ता कम पड़ गयी

है; तथा जीवन की एक बड़ी शक्ति बाहर लग जाती है। यदि आवश्यकता पड़ती है तो कुमारी ही रह जाने की प्रवृत्ति भी जग जाती है।

(२) यह प्रतियोगिता का युग है, आज का मानव भाग्य पर विश्वास नहीं करता, कर्त्तव्य तथा प्रतिद्वन्द्विता के गहरे पानी में ही प्रवेश करता है। इसीलिए वह अहंप्रधान तथा उग्ररूप में व्यक्तिवादी बन जाता है। (विशेष विवरण के लिए देखें, समाज की भूमिका का प्रतियोगिता प्रसंग।) वह अपने ही सम्बन्ध में अधिक सोचता है। यदि परिवार उसके अहं की तृप्ति में सहायक नहीं होता तो वह इससे भी भाग खड़ा होता है। टरमन जिस तरह प्राचीन विचारों को आनन्दमय दम्पत्ति का लक्षण मानते हैं, उसी तरह सामाजिक तथा सहयोगी भावना को भी। सफल पत्नियों का गुण है कि वे "सामाजिक सम्बन्धों को प्रतिद्वन्द्विता की स्थिति में नहीं देखतीं। वे सहयोगी होती हैं और किसी की अधीनता में काम करने से नहीं घबरातीं।" इसके विपरीत विफल पत्नियाँ "गम्भीर हीनता ग्रंथि की शिकार होती हैं। वे आत्मकेन्द्रित तथा सामाजिक जीवन में अति उत्सुक होती हैं।" इसी तरह विफल पति भी सामाजिक हीनता की भावना से ग्रस्त होते हैं; और सामाजिक अरक्षा की क्षतिपूर्ति उन लोगों पर शासन जमा कर करते हैं, जिनसे अपने को उच्चतर समझ सकते हैं।

वास्तव में आज का युग ही व्यक्ति के सामने अधिकांश ऐसी ही स्थितियाँ तथा वातावरण लाया करता है जिनमें उसे सहयोगी, पर-परायण, और सहनशील बनने की प्रेरणा कम मिलती है। वह अधिकांश विभिन्न मानसिक ग्रन्थियों से ही ग्रस्त रहता है जिसका फल परिवार पर भी पड़ता है। आज के विच्छेदों और असन्तोष के मूल में यह युग का संस्कार भी है।

जहाँ स्त्रियाँ भी प्रतिद्वन्द्विता के अखाड़े में उतर आती हैं, वहाँ दोनों का मन मिलना कठिन हो जाता है। अभी कुशल यही है कि स्त्रियों का एक छोटा भाग ही वहाँ तक तथाकथित उन्नत और सभ्य हो सका है। वस्ततः आज के व्यक्तिवादी युग में यह उन्नति का अग्रत

भी समाज के लिए शुद्ध अमृत नहीं रह जाता। सहयोग तथा समाज-चेतना के आधार पर नवनिर्माण हुए बिना कल्याण नहीं है। संसार ऊब रहा है, शीघ्र ही सही पथ पकड़ने वाला है। भगवान करे वह स्थिति शीघ्र आवे।

हम पितृसत्तात्मक युग से निकल कर नवीन युग में प्रवेश कर चुके हैं, किन्तु उस युग की वासना से मुक्त होने का प्रयत्न करके भी मुक्त नहीं हो सके हैं। उसमें पुरुष इतना प्रधान था कि नारी की सम्पूर्ण सत्ता उसी में विलीन हो गई थी। आज तक उसका मोह पुरुष के अन्तस्तल में बैठा हुआ है। अभी स्त्रियाँ जीवन के सभी क्षेत्रों में सामूहिक रूपमें पुरुष के समक्ष नहीं आ सकी हैं। वे पढ़ रही हैं, आगे आ रही हैं, परन्तु अभी तक पुरुषों से कोसों पीछे हैं। इसीलिए पुरुष उसे समान पद देना चाहता है, किन्तु उसकी अन्तरात्मा देने नहीं देती। आज नारी—विशेषतया चेतन नारी, अपने अधिकारों के लिए सतर्क रहती है। इस युग ने उसे भी उतनी ही प्रतिद्वन्द्वी मनोवृत्ति की बना रखा है, जितना पुरुष को। वह आस-पास ताकती रहती है कि कहीं उस पर अधिकारस्थापन का प्रयत्न तो नहीं हो रहा है। यह दोनों ओर की ज्ञात और अज्ञात सतर्कता एक निरन्तर द्वन्द्व की सृष्टि करती रहती है। आरम्भिक प्रेम और वासना की खुमारी उतरते ही सारे मधुर स्वप्न और सारे आनन्दमय सम्बन्ध हवा हो जाते हैं। भौतिक जीवन की निर्भरता का अभाव दोनों को फाड़कर दो कर देता है और दोनों दो ओर जा पड़ते हैं।

एक विचित्र बात यह है कि निर्भर स्त्रियाँ कभी-कभी समाज में बढ़े-चढ़े लोगों पर भी शासन कर लिया करती हैं। उनकी प्रधानता का आधार है प्रबन्ध-पटुता, लगन, पुरुष की कमजोरियों को समझ कर उसकी पूर्ति करने की चेष्टा। जीवन की प्रतियोगिता में कूद कर अपनी सारी साधना उसी को देनेवाली व्यक्तिवादी, आत्म-निर्भर नारी में ये गुण कम ही विकसित हो पाते हैं। वे तो वही बनती हैं जो पुरुष हैं; अपने समान मनोवृत्ति वाले पति की पत्नी बनना आसान नहीं है।

(३ औद्योगिकीकरण तथा नित नये उद्योग-क्षेत्रों के विकास के कारण जनसंख्या का एक बड़ा भाग गाँवों से आकर शहरों में प्रवास करता है। इसके दो फल होते हैं:—(क) प्रवास समुदाय की शक्ति कम करने वाला है इसलिए किसी भी सांस्कृतिक ग्रन्थि का निर्माण नहीं हो पाता। पुरातन युगों की परम्परा से प्राप्त समाज और सामाजिक संस्थाओं के लोकाचार अपना बन्धन खो देते हैं, उनमें वह पुरानी बन्धन-कारिणी शक्ति नहीं रह जाती। उनका विघटन आसान हो जाता है। समाज के अपवादों, व्यंग्य-वाणों, निन्दाओं तथा प्रवादों का शिकार प्रवासी को नहीं बनना पड़ता। वहाँ ऐसा कोई नहीं होता जो मनमानी करने और प्रचलित प्रथाओं को तोड़ने में बाधा डाले।

प्रवासियों का प्राथमिक समुदाय कहीं नहीं बन पाता। एक स्थान पर यदि कुछ काल तक जम जाते हैं तो नये समुदाय बना लेते हैं। किन्तु शहरी जीवन में ऐसा करना सम्भव नहीं होता। कहीं भी ऐसा समाज नहीं बन पाता जिसका सामाजिक नियन्त्रण उन्हें प्रतिकूल जाने से रोककर अनुकूल दिशा में मोड़ सके।

(ख) शहरों और कारखानोंकी दुनिया ग्रामों से भिन्न एक स्वतन्त्र लोक में अवस्थित जान पड़ती है, जहाँ की सांस्कृतिक ग्रन्थियाँ अलग और भिन्न हैं। गाँवोंका मानव जिन प्रथाओं, परिपाटियों और लोकाचारों के बीच चलता है वे सारी-की-सारी पीछे छूट जाती हैं। उन्हें लेकर शहरों में चला नहीं जा सकता इसलिए उनका मोह नहीं रह जाता है। नवीन जीवन-विधि, नवीन प्रेरणायें और आवश्यकतायें एक अपरिचित सतत परिवर्तनशील वातावरण और परिस्थितियों की सृष्टि कर दिया करती हैं। वह नहीं चाहने पर भी प्राचीन संस्कारों से मुक्त हो जाता है। नवीनता और प्राचीनता के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का कोई साधन उसके पास नहीं रहता। वह न इधर का रहता है, न उधर का। प्राचीन दृष्टि में वह उच्छृङ्खल और अस्त-व्यस्त हो जाता है।

औद्योगिकीकरण से उत्पन्न पारिवारिक और सामाजिक विशृङ्खलता

१९ वीं सदी में ही प्रत्यक्ष होने लगी थी। एक ओर मनीषी विकास तथा प्रगति के सपने देख रहे थे, दूसरी ओर कुछ विचारक और चिन्तक यह परिस्थिति देखकर काँप रहे थे। १९ वीं सदी की सम्पूर्ण विचार-धारा तथा सम्पूर्ण साहित्य में इस द्वन्द्व का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है और चेस्टरटन साहब ने शायद इसीलिए, उस युग के महापुरुषों को लँगड़ा कहा है। लेप्ला ने उस समय के कुछ परिवारों का अध्ययन किया था। उसने कहा था कि सामाजिक ढाँचा (Decadent Social structure) पतनोन्मुख है। पश्चिमी यूरोप के पाँच परिवार-समूहों के विश्लेषण से उसने प्रमाणित किया था कि वे विघटित सामाजिक ढाँचे के प्रभाव से नष्ट हो रहे हैं[1]। इनके विपरीत चार परिवार-समूहों में प्रसन्नता और उन्नति थी। उसने इसका कारण यह बतलाया कि उन लोगों ने अपने को नये जीवन के अनुकूल ढाल लिया था[2]। १९ वीं शताब्दी तक प्राचीन लोकाचारों की शक्ति थोड़ी-बहुत बची हुई थी, इसलिए परिवार और सामाजिक स्वरूप का पतन होने पर भी विच्छेदों और विघटन के कदम इतने तेज नहीं थे, जितने आज दिखाई पड़ रहे हैं। व्यक्तिगत अभियोजन (Individual adjustment) और अनुकूलन से लेप्ला के चार परिवार-समूहों का आनन्द बचा हुआ था। आज तो वह वस्तु भी समाप्त हो गई है। नवीन परिस्थितियों ने भौतिक उन्नति का पथ भले ही खोल दिया हो किन्तु पारिवारिक तथा सामाजिक आनन्द का मार्ग अवरुद्ध कर दिया है। मानव समाज में आनन्द नहीं ढूँढ़कर तिजोरियों और बैंकों में खोज रहा है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि परिवार विघटन से औद्योगिकीकरण तथा नगरों का सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता। संयुक्तराष्ट्र-अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन में औद्योगिकीकरण की गति एक-सी है, किन्तु

---

१. Decaying under the influence of a disorganised social structure.

२. Prosperous families preserved by individual adjustment in a decadent social structure.

अमेरिका में तलाकों की संख्या बहुत अधिक है। अमेरिका में ही विभिन्न प्रान्तों के विच्छेदों का अनुपात भिन्न-भिन्न है; किन्तु कई बिखरे छोटे नगरों का प्रतिशतक न्यूयार्क तथा वाशिंगटन के समक्ष है। इसीलिए वे इसके कारण अन्यत्र खोजते हैं, शहर और ग्राम इन्हें सन्तोष नहीं दे सकते। मैकआइभर तथा पेज इसी विचार के हैं[1]। आप लोगों की राय में अमेरिका में सम्बन्ध-विच्छेदों की अधिकता के तीन कारण हैं :—

(१) सामाजिक परम्परा की भावना (Social Continuty) की समाप्ति और प्रवास—वंश-परम्परा सामुदायिक अनुश्रुतियों और नाम को पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलाते जाने की भावना परिवार में ही जीवित रह सकती है। आज प्रवास के कारण यह भावना नष्ट हो गई है।

(२) पवित्रता की उग्र धारण के कारण किञ्चित भी दोष हो जाने पर सम्बन्ध-विच्छेद हो जाते हैं।

(३) रोमाण्टिक प्रेम की प्रधानता —ये विद्वान औद्योगिकीकरण को कारण नहीं मानते हुए भी प्रवास को प्रधान कारण मानते हैं। यह सतत प्रयास औद्योगिकीकरण के कारण ही सम्भव हो सका है। इसलिए दोनों में सम्बन्ध तो है ही। प्रवास की चर्चा चलाते हुए आपने प्राथमिक समुदायों के विघटन पर भी जोर दिया है। यह समुदाय जितना ग्रामों में बना रहता है उतना शहरों में नहीं। इसलिए भी शहर विघटन के कारण हैं। किसी भी स्थान के विच्छेदों का अनुपात अनेक तत्वों पर निर्भर करता है; जिनमें प्रवास, औद्योगिकीकरण, संस्कृति, आर्थिक परिस्थिति तथा कानूनी सुविधा-असुविधा आदि मुख्य हैं। कहीं-कहीं प्रवास के ही कारण छोटे शहरों में विच्छेद बढ़ जाते हैं; इसका यह अर्थ नहीं कि शहर तथा विच्छेद से कोई सम्बन्ध नहीं है। छिट-पुट उदाहरणों को छोड़कर यदि सम्पूर्ण रूप में ग्राम तथा शहरों के आँकड़े देखे जायँ तो यह सम्बन्ध स्पष्ट स्थापित हो जाता है। अमेरिका के ही शहरी क्षेत्रों के परिवार में औसत ३·२६ व्यक्ति हैं जब कि ग्रामीण क्षेत्रों तथा फार्मों में यह संख्या ४·०२ है।

१. देखें, Society पृष्ठ २६०-२६२।

(४) दम्पति को एक किये रखने वाली, उनके सामान्य दैनिक मत-भेदों को मिटाकर उन्हें एकता के सूत्र में बाँध रखने वाली एक शक्ति सन्तान भी है। बच्चा एक आधार धुरी है, जिसके प्रेम के चारों ओर माता-पिता के हृदय चक्कर काटा करते हैं। इसलिए वह एक सामान्य बन्धन है। सम्बन्ध-विच्छेदों के अध्ययन से पता चलता है कि प्रायः दो तिहाई विच्छेद सन्तान-हीन दम्पतियों में ही हुआ करते हैं। और २० प्रतिशतक केवल एक सन्तान वाले। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सन्तान-हीन स्त्री-पुरुषों के ये विच्छेद के अवसर सन्तान वालों से १७ गुना अधिक रहा करते हैं। परन्तु सन्तति-निरोध आज-कल के लिए एक साधारण बात है। इसके साथ ही अनेक कारणों से सन्तानोत्पादन से बचने की भावना भी प्रधान पड़ रही है। इसका किञ्चित आभास उन्नत देशों की नित्य घटती जानेवाली जनसंख्या के अवलोकन से ही मिल जाता है।

इटली के फासिस्ट शासन ने जनसंख्या की वृद्धि के लिए अनेक उपाय काम में लाये थे। अधिक सन्तान वाले स्त्री-पुरुषों को सामाजिक प्रोत्साहन और पुरस्कार दिये जाते थे। तब भी १९३७ में वहाँ वृद्धि की गति अत्यन्त मन्द—०·००९७ ही रही, जब कि उसी समय जापान और भारत की ०·०१३६ तथा ९·०१२१ थी। परन्तु इङ्गलैण्ड, फ्रांस तथा अमेरिका की ०·००३२, ०·०००८ और ०·००८२ ही रही (राष्ट्र-संघ की तालिका १९३८-३९ से)। यह सन्तान-हीनता और पारिवारिक धारणा एक दूसरे को सदा प्रभावित करती रहती है।

जो कुछ स्पष्ट किया गया उससे इतना निश्चित है कि पश्चिम में परिवार का अबतक का ढाँचा हिलने लगा है; कुछ तो इसके कार्यों तथा कर्त्तव्यों के अन्तरण (Transfer) से, कुछ औद्योगिकीकरण के विकास के कारण, और कुछ कई भौतिक तथा मानसिक परिवर्त्तनों के फलस्वरूप। यह हिलना किस तथ्य का लक्षण है, और किस भविष्य का सूचक है, यह प्रश्न समाजशास्त्र के विद्यार्थी के लिए स्वाभाविक है। कई विचारक इसे परिवार के विघटन तथा समाप्ति का ही पूर्वरूप

समझ लेते हैं। ऐसे विचारकों का एक दल इसकी कल्पना से ही चिन्तित तथा व्यथित है। दूसरा वर्ग परिवार को ही कृषि-संस्कृति तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की देन मानता है। इसलिए यह विश्वास करता है कि नवीन युग के धक्के से यह अपनेआप मिटकर ही रहेगा। किन्तु यदि गहराई में डूबकर देखा जाय तो ये दोनों भ्रम की दुनिया में ही विचरण करते जान पड़ते हैं। मानवीय-अध्ययन तथा अनुभव से यह स्पष्ट है कि मनुष्य परिवार से अलग होकर रह नहीं सकता। इसकी शृङ्खला टूटते ही मानव-सन्तति विचलित हो उठेगी और उसके हृदय में एक तीव्र विराग उत्पन्न हो जायगा। इससे उसकी आन्तरिक शान्ति का, अन्तरात्मा का तथा उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विघटन हो जायगा। यही कारण है कि संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में ही, जहाँ सम्बन्ध-विच्छेदों की गति सब से तीव्र तथा भयोत्पादक है, १९४५ की गणना के अनुसार ३७५ लाख व्यक्ति परिवार में ही जीवन-यापन करते थे। इसी के आधार पर यह अनुमान किया गया है कि १९६० में प्रायः ४४८ लाख व्यक्ति हो जायँगे।

१९४७ में वहाँ कुल २२,८१,०४५ विवाह सम्पन्न हुए। तत्पश्चात् यह संख्या थोड़ी कम हो गई और १९५२ में १८,१५,००० आ गई। युद्धसमाप्ति के बाद सहसा विवाहों की वृद्धि, काफी दिनोंतक रुके रहने के कारण अनिवार्य थी। इनमें बहुत से विवाह तो निश्चित हो जाने के बाद भी रुके रहे, जो १९४७ में ही सम्पन्न किये गए। इसलिए १९५२ की संख्या को किसी ह्रास का सूचक नहीं समझना चाहिये।

ग्रेट ब्रिटेन में १९३७ में भी कुल २ प्रतिशत व्यक्ति ही अकेले थे; अर्थात् ५० में केवल १ व्यक्ति ही अनेक कारणों से परिवार से अलग था। विवाहित किन्तु सन्तानहीन व्यक्तियों का प्रतिशत १२·६ था और ऐसे लोग ५५०६ हजार थे। इनमें एक बड़ी संख्या ऐसे लोगों की भी होगी, जिन्हें वैवाहिक जीवन आरम्भ किये हुए अधिक समय नहीं हुआ होगा और उनकी निस्सन्तानता का यह भी एक कारण होगा। शेष सम्पूर्ण जनसंख्या के ८५·४ प्रतिशतक मनुष्य अर्थात् प्रति २०

व्यक्तियों में १७ से भी अधिक बाल-बच्चों तथा पत्नियों के साथ अपने दिन बिताते थे। शेष ३ में भी अविवाहितों, कुमारियों, परित्यक्ताओं तथा परित्यक्तों की संख्या ·०६ है, जिनमें विवाहेच्छु भी सम्मिलित हैं।

इन पारिवारिक जीवों में कितने ऐसे हैं; जो बाध्य होकर परिवार में हैं, इसकी जाँच तथा अनुमान भी कुछ विद्वानों ने लगाया है। उनका अन्दाज है कि विवाहित दम्पतियों का केवल पाँचवाँ भाग ही, किसी-न-किसी रूप में, अपने पारिवारिक जीवन से अप्रसन्न तथा ऊबा हुआ है। दो तिहाई आनन्दित तथा अत्यधिक प्रसन्न हैं। शेष १/३ अपने दिन आनन्द तथा कष्ट के बीच झूलते हुए ठेल ले जाते हैं। टरमन का अनुमान है कि तीस प्रतिशतक दम्पति असाधारण रूप में आनन्दित हैं, तथा एक प्रतिशत से भी कम अत्यधिक दुखी हैं।

ये दुख और सुख भी निरपेक्ष, स्थिर तत्त्व नहीं हैं। मनुष्य की प्रसन्नता और अप्रसन्नता इतनी समय तथा परिस्थिति सापेक्ष है कि आज जो अप्रसन्न है, वह कल ही आनन्द मग्न हो सकता है। कल जो दुखी था, वह आज सुखी बन सकता है। मानव का जीवन इसी दुख-सुख, निराशा-आशा; नीरसता-सरसता, अप्रसन्नता-प्रसन्नता के हिंडोले पर झूलता चलता है। अप्रसन्नता वास्तविक जगत में विपरीत परिस्थिति से उत्पन्न उस स्थिर-वृत्ति को ही कहना चाहिये, जिसमें आनन्द, अनुकूलता तथा प्रसन्नता की क्षीण रेखा आने की कोई गुंजाइश ही नहीं हो। कोरी प्रसन्नता असम्भव है। प्रसाद जी ने बहुत उचित कहा है :—

"सुख-दुःख की आँखमिचौनी खोले जीवन अपना मुख,

तथा

मानव जीवन वेदी पर परिणय हो विरह मिलन का,
सुख-दुःख दोनों नाचेंगे है खेल आँख का मन का॥

परिवार के कई अंग टूट चुके हैं और उसके कई कार्य और कर्त्तव्य छीन लिये गये हैं। इतना होने पर भी प्रेम-भावना की पूर्ति सन्तानोत्पादन तथा गृह-भावना के जो अंग बचे हुए हैं; वे भी कम महत्वपूर्ण

नहीं हैं। मानव एक प्राणी होने के नाते रक्त-मांस का बना हुआ है, उसकी माँगों की पूर्ति किन्हीं अंशों तक करनी ही होगी। किन्तु मानव का प्रेम तथा उसकी काम-वासना पशु के समान पूर्णतया जीवात्मक तथा प्राणि-भावना से ही प्रेरित नहीं है। मानव ने इसका सम्बन्ध अपने समाज से जोड़ रखा है, वह समाज का ही एक अंग है और समाज उसका नियामक है। इसीलिए इसका प्रभाव हमारे आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक ढाँचे पर भी पड़ता है और इस ढाँचे का प्रभाव हमारे प्रेम तथा वासना के स्वरूप पर, डा० डबल्यू बैराक वोल्फ के शब्दों में "सामाजिक जीवन मनुष्य की एक मौलिक आवश्यकता है। इसने अन्य कई सामान्य जीवात्मक प्रेरणाओं की ही भाँति मनुष्य की काम-वृत्ति को भी एक विशुद्ध सामाजिक विषय बना दिया है। जीवात्मक शक्ति को सामाजिक दिशा में मोड़ने की क्रिया को प्रयोजनात्मक पुनर्गठन, प्रेरणात्मक पुनर्गठन (Conative re-constellation) या उद्भावक विकास (Emergent evolution) जैसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है (प्रेम और विवाह)।

मानव ने पता नहीं कबसे जीवात्मक प्रेरणाओंको प्रयोजनात्मक पुनर्गठन के रूप में परिणत कर रखा है। उसकी यह सामाजिक भावना जब तक बनी रहेगी तब तक वह पुनर्गठन के रूपों को नई-नई शकलें दे सकता है परन्तु बिल्कुल ही छोड़ नहीं सकता। उसकी सामाजिक भावना कभी भी नष्ट होगी; ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता। इसलिये कभी भी वह इस मूल जीवात्मक प्रेरणाको पशु के समान यों ही क्षणिक पूर्तितक ही सीमित रखकर सन्तोष कर लेगा; ऐसा कहना मानवता को नहीं समझना है। यह असम्भव है कि इसे समाज के नियमन से बाहर करके पशु के समान स्वतन्त्र रूप देने में ही मानव को सन्तोष हो जाय। आज मानव-जीवन के सामान्य अंगों, जैसे—उठने, बैठने, रहने, चलने, वस्त्र पहनने आदि के सम्बन्ध में समाज की उपेक्षा करने के लिए भी प्रस्तुत नहीं है। फिर इस महत्त्वपूर्ण अंग के लिए कैसे कर सकता है।

साहचर्य आदि विभिन्न कारणों से किसी विशेष साथी के प्रति अधिक आकर्षण निम्नकोटि के जीवन में भी देखा जाता है। मानव का यह आकर्षण और विकर्षण पशुओं से अधिक दीर्घकालव्यापी, स्थिर तथा स्थायी होता है। इसका मनोविज्ञान भी इतना उलझा, अनियमित और परस्पर विरोधी है कि उसकी कोई रूपरेखा नहीं निर्धारित की जा सकती। सुन्दर से भी प्रेम हो सकता है और असुन्दर से भी। स्वास्थ्य और शरीर का पुष्ट गठन भी आकर्षक बन सकता है और अस्वस्थता तथा दुर्बलता भी। कहीं प्रेम का कारण कृतज्ञता होती है और कहीं दया और असहायावस्था। इन विचित्रताओं के वशीभूत होकर मानव अन्यों की अपेक्षा किसी विशिष्ट स्त्री या पुरुष से अधिक प्रेमसूत्र में आबद्ध हो जाता है। यही बन्धन विवाह का कारण या सम्बन्धों के स्थायित्व का आधार विवाह नामक संस्था के मिट जाने पर भी बना ही रहेगा। किन्तु मिटना ही असम्भव है।

जीवमात्र में अपनी सन्तान के प्रति एक ममता होती है, जो उसके पालन-पोषण के लिये प्रकृति की अनिवार्य देन है। जाति की वृद्धि और सम्वर्द्धन के लिये यह भावना आवश्यक है। पक्षी कई दिनों तक भूख-प्यास मारकर अपने अण्डे सेते हैं। गायें, भैंसें, हिरन अत्यन्त कष्ट सहकर भी अपने नवजात बच्चों की रक्षा तत्परता के साथ करते हैं। क्या यह भावना स्वार्थ या परस्परावलम्बन पर आधारित है? सन्तति-रक्षण भी काम की तरह एक जीवात्मक प्रेरणा ही है। मानव का परिवार, मूलतया इन्हीं दो प्रेरणाओं—काम तथा सन्ततिरक्षण का विकसित, समाजीकृत रूप है। मानव और पशु की सन्ततिरक्षण की प्रवृति के रूप में विशाल अन्तर पड़ जाता है। मनुष्य का शिशु माता पर अधिक दिनों तक निर्भर करता है; इससे उनका सम्बन्ध अधिक गहरा और स्थायी हो जाता है। भाषा, भाव-प्रकाशन के अन्य विकसित साधन तथा स्मरण-शक्ति के बल पर वह आजीवन सम्बन्ध में बँध जाता है, अपनी सम्पूर्ण देन उसे दे देता है जब कि पशुओं का सम्बन्ध शीघ्र समाप्त हो जाता है। अन्य जीवों के समान हम केवल

काम और सन्ततिरक्षा की सहज प्रवृत्ति पर ही निर्भर नहीं करते तथा उसी से संचालित नहीं होते। समाज की आवश्यकता बुद्धि के विकास आदि कई तत्व इसे विशेष दिशा में मोड़ देते हैं और इनका नियमन करते हैं। इसी स्वाभाविक नियमन तथा स्थायित्व को विधि-बद्ध करने वाली संस्था का ही नाम है परिवार।

अन्यों की सन्तानों को नियमित रूप में गोद लेना अथवा बिना गोद लिए भी पालन करना या किसी बच्चे पर यों ही अपने हृदय का सारा स्नेह उँडेल देना, इसी वृत्ति का एक रूप है। यदि अमेरिका में परिवार तथा सन्तान की भावना नष्ट हो गई होती तो गोद और पोष्य-पुत्र लेकर घर बसाने तथा परम्परा आगे बढ़ाने का काम पहले ही समाप्त हो गया होता। १९४४ में ही प्रायः ५० हजार बालक कानूनी रूप में गोद लिये गए। इनके अतिरिक्त घरेलू रूप में, बिना किसी विधि-व्यवहार या कानून का रूप लिए ही सहस्रों बच्चे पाले और पोसे गये।

काम स्त्री-पुरुष दोनों के लिए समान रूप में सहज और स्वाभाविक है। परन्तु सन्तति-रक्षण की प्रवृत्ति नारी में ही विशेष रूप में मौजूद रहती है। मानवेतरों में तो यह मादा का ही धर्म है। यद्यपि नर सभी इससे पूर्ण रूप में वंचित नहीं रहते। जंगली जीवों में कई नर भी बच्चों की रक्षा करते देखे जाते हैं। मानव में भी सन्तान तथा परिवार का मोह नारी की ही प्रधान विशेषता है। परम्परागत रूप में गृह-स्वामिनी बनने की भावना, तथा जीवन की सम्पूर्ण साधना परिवार को ही समर्पित कर देने के कारण नारी का प्रेम, नारी का मोह उसका सर्वस्व बन जाता है। बायरन ने, बहुत कुछ अंशों में, सही कहा है :—

Man's love is of man's life a thing apart.
'tis woman's whole existence.

अर्थात् पुरुष का प्रेम उसके जीवन से अलग की वस्तु है, परन्तु नारी का यह सम्पूर्ण अस्तित्व ही है।

अपनी इसी मानसिक स्थिति के कारण नारी अपना घर छोड़कर सुखी नहीं रह पाती। पश्चिम की वर्तमान महिला स्वतन्त्र बनती है, पुरुष की आर्थिक परतन्त्रता से वह मुक्त होना चाहती है, परन्तु अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग, अधिकांश अपना घर बसाने के लिए ही करती है। अमेरिका में १९४५ में सम्पूर्ण स्त्रियों का ३७ प्रतिशत कमाने लगा था, किन्तु दो वर्षों के पश्चात् उनमें केवल २९ प्रतिशत ही रह गया, शेष ने घर का रास्ता लिया। इंगलैण्ड तथा वेल्स में २०-२४ वर्षों की आयु तक उस साल सम्पूर्ण का १९·२ प्रतिशत विभिन्न कामों में लगा था। किन्तु २५-३४ वर्षों की आयु में केवल १३·८ प्रतिशत था, और ३५-४५ में तो यह संख्या घट-कर १०·५ प्रतिशत ही रह गई थी। वास्तव में परिवार तथा उसकी आवश्यकता इन्हें नौकरी-चाकरी से अलग करती गई। बहुत बार ऐसा होता है कि आयु बीतने पर विवाह की भावना जगती है। इसलिए वहाँ ६० की उम्र तक १३·६ प्रतिशतक ही स्त्रियाँ कुँवारी रह जाती हैं। कुछ दिनों पूर्व इंगलैण्ड के 'वर्त्तमान नारी' (Modern Woman) पत्र ने २००० स्त्रियों से कई सामाजिक प्रश्न पूछे थे, जिनमें विवाह भी एक था। ६८ प्रतिशत लड़कियों ने स्पष्ट बतलाया था कि वे विवाह की प्रतीक्षा कर रही हैं। इनमें १४ प्रतिशत ने बतलाया था कि उन्होंने अभी कोई निश्चय नहीं किया है, तथा १८ प्रतिशत ने विवाह के विरुद्ध अपना मत प्रकट किया था। इन अनिच्छुकों में काफी बड़ी संख्या २० से कम उम्र की थी; जो कुछ दिनों के बाद अपना मन बदल सकती हैं। रजिस्ट्रार जेनरल के अनुसार इंगलैण्ड में लड़कियों के विवाह करने की सर्वप्रिय अवस्था २३ वर्ष है। गृह की भावना मानव के अहं की पूर्ति का एक बहुत बड़ा साधन है। घर केवल तृण, फूस, ईंट, पत्थर ही नहीं है, एक मानसिक आश्रय-स्थल भी है। पूर्वापेक्षा आज गृह का महत्त्व घटता जा रहा है, तो भी प्रत्येक मानव-सन्तति और विशेषतया नारी, उस दिन की कल्पना किया करती है, जब उसका अपना घर होगा। यह सच है कि यह भावना समाज-सापेक्ष है; परन्तु इसके

मिटने की आशंका कम-से-कम आज तो नहीं की जा सकती। बुढ़ापे में भी विवाह के भीतर यही मोह है; यद्यपि यूरोप में स्त्रियों की अधिकता तथा युगल-विवाह की परिपाटी के कारण कुछ नारियों का अविवाहिता रह जाना अनिवार्य हो जाता है। दोनों महायुद्धों में स्त्री-पुरुष की संख्या का अनुपात प्रभावित होने के पहले १९११ में भी पश्चिमी यूरोप में १००० पुरुषों के पीछे १०२८ स्त्रियाँ थीं।

तब आज जो परिवार की स्थिति है, और चिन्तित होने के जो कुछ कारण समुपस्थित हो गये हैं, उन्हें क्या समझा जाय? वास्तव में परिवार एक विकासशील लचीली संस्था है। समाज के विकास तथा परिवर्त्तनों का प्रतिबिम्ब इस पर सतत पड़ता रहता है। यही कारण है कि गृह सामाजिक परिवर्त्तन का मापक कहा जाता है[१]। फलतः समाज के सभी अंग इस पर अपनी छाप छोड़ते चलते हैं। जब कभी समाज के कोई अंग बदलते हैं तो परिवार को भी हिल-डुलकर उनके अनुकूल बन जाना पड़ता है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उसकी नींव और उसका मूल ही डोल जाता है या डोलता रहता है; वस्तुतः वह अपने मूलाधार और केन्द्रबिन्दु पर ही चक्कर काटता है। आज का युग महान परिवर्तनों और क्रान्तियों का युग है। समाज के किसी अंग में स्थिरता नहीं है। इसलिए गृह तथा परिवार को भी अनुकूल रूप ग्रहण करने की चेष्टा करनी है। नवीन वातावरण तथा सम्बन्धों के नवीन रूपान्तरण के कारण स्त्री-पुरुष के कार्य तथा परिस्थितियों में भी अन्तर आ गया है। इसलिए सम्बन्धों के पुराने रूप अब काम नहीं दे सकते, यद्यपि सम्बन्ध तो रहेंगे ही। इन नये रूपों का विकास होगा, जिनके अनुकूल नये लोकाचार (mores) और नये जन-नियम स्वतः फूटेंगे। डा० इ० आर० ग्रोव का कहना है कि "जब परिवार का अध्ययन करनेवाला घोषित करता है कि विवाह एक क्षिप्र अभियोजन क्रिया से होकर गुजर रहा है[२] तो उसका

१. The home is the barometer of the social change.

२. Marriage is going through a rapid adjustment.

केवल इतना ही अभिप्राय होता है कि लोगों का चरित्र इतना बदल गया है कि वैवाहिक सम्बन्धों में इसकी अभिव्यक्ति अनिवार्यतः एक नया रूप ले रही है[१]।" अर्थात् युग के नवीन चरित्र का प्रभाव वैवाहिक सम्बन्धों पर पड़ रहा है और ये नये रूप ले रहे हैं। वे आगे स्पष्ट कहते हैं कि "इस प्रकार का वक्तव्य यह तनिक भी संकोच नहीं करता कि विवाह (विवाह की संस्था) चकनाचूर हो रहा है या परिवार विलुप्त होने के पथ पर है।" स्त्री-पुरुष के पुराने आर्थिक, मानसिक सम्बन्ध तथा कृषि युग के परिवारों की रूपरेखा बदल रही है। आज की दिखाई पड़नेवाली अव्यवस्था, भासित होनेवाली विशृङ्खलता संक्रान्तिकाल का आवश्यक फल है, और नवीन सम्बन्धों तथा नवीन परिवार के जन्म के लिए उत्पन्न आवश्यक पीड़ा है। यही पीड़ा नया रूप पैदा करायेगी तथा नवीन खराद पर चढ़ायेगी। पुराने चश्मे लगाकर देखने के ही कारण इसमें इतनी कुरूपता दिखाई पड़ती है। वास्तव में "लम्बी ऐतिहासिक प्रगति की दृष्टि से देखने पर, ये रूप मानवीय सम्बन्धों के आदर्श का नवीन ढाँचा निर्मित और विकसित करने की प्रतिक्रिया में मनुष्य के यत्नों की आनुषंगिक-उपज मात्र हैं और कुछ नहीं।"[२]

कुछ दिनों पहले तक नवीन परिवार का यह नया स्वरूप अन्धकार के भीतर छिपा हुआ था और थोड़ा बहुत आज भी छिपा ही है। यही कारण है कि इसे प्रेत समझ कर कुछ लोग घबरा रहे हैं; काँप रहे हैं। भय है, कहीं यह प्रिय परिवार को ही निगल न जाय। किन्तु धीरे-धीरे यह अन्धकार छँटने लगा है; और इसके भीतर से वास्त-

---

१. Character of people has so greatly changed that its expression in the marriage relation is necessarily taking a new form.

२. Veined in the terms of longer historical process these are the by product of man's attempt to evolove a new type of pattern of human relationships—Society by MacIver & Page.

विकता पश्चिमी भूभाग में, पाश्चात्य संस्कृति के बीच—और वह भी विशेषतया संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में, पूर्वापेक्षा अधिक स्पष्ट होकर सामने आने लगी है। जैसा लिखा जा चुका है, महिलाओं में नौकरी या मजदूरी की प्रवृत्ति को परिवार के विघटन का एक लक्षण समझा जाने लगा था, और आशंका का यह एक बहुत बड़ा कारण था। वैवाहिक-जीवन और परिवार से बाहर के कामों में पहले घोर-विरोध था। इसीलिए सामान्यतया सर्वत्र सामाजिक स्तर में उच्च माने जानेवाले लोगों में विवाहिता पत्नी और माता का घर से बाहर काम करना घोर अपमान-जनक माना जाता था, साथ ही गृह-प्रबन्ध करते हुए बाहर का काम भी सँभाल लेना अत्यन्त कठिन था; घर और बाहर दोनों में उचित सन्तुलन बनाये रखना साधारण महिला के लिए सम्भव ही नहीं था। लेकिन आज यह स्थिति पलट रही है। संयुक्तराष्ट्र नारी विभाग (U. S. Women's Bureau) के अनुसार काम करनेवाली महिलाओं की संख्या द्वितीय महायुद्ध की अपेक्षा भी बहुत बढ़ गई है और दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। आज उस देश के कार्यरत व्यक्तियों का प्रायः तृतीयांश नारियाँ हैं। पहले अधिक-से-अधिक कुमारियाँ, विधवायें, और परित्यक्तायें ही काम कर पाती थीं, परन्तु आज यह स्थिति और यह धारणा समाप्त होती जा रही है; और समाप्त हो चुकी है। अभी काम करनेवाली कुल स्त्रियों में प्रायः आधी विवाहितायें हैं, और सब से विचित्र बात तो यह है कि सम्पूर्ण पत्नियों तथा माताओं का प्रायः चतुर्थांश काम करने लगा है[1]। गृह-जीवन पर नवीन स्वरूप तथा काम की नवीन वैज्ञानिक प्रणाली के कारण ही यह विरोध मिट सका है। पहले गृह-प्रबन्ध का कार्य सर्वत्र कठिन था, जिसके लिए बहुत अधिक समय देना पड़ता था, और काफी परिश्रम करना पड़ता था। यूरोप तथा अमेरिका में यह पुराना रूप नहीं रह गया, यद्यपि हमारे यहाँ आज भी ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। वैज्ञानिक साधन, बिजली और यन्त्रों के बल पर एक गृहलक्ष्मी (Housewife) बटन

१. १९४० तक का विवरण दिया जा चुका है।

दबाकर ही अनेक ऐसे कार्य कर लेती है, जिसके लिये पहले घण्टों सरतोड़ खटनी करनी पड़ती थी। पानी लाने, आग जलाने, भोजन पकाने, कपड़े धोने, तथा सुखाने आदि साधारण दैनिक कार्यों के लिए अब शरीर थकाने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। घर के कार्यों तथा कर्त्तव्यों के जिस अन्तरण (Transfer) और विभाजन के चलते परिवार एक युग से :पुरानी बेकार (Out of date) संस्था के रूप में दिखाई-सा पड़ने लगा था, तथा उसके विघटन की आशंका-सी हो चली थी, उसी ने घर और बाहर, गैहिक-प्रबन्ध तथा नौकरी या मजदूरी में सन्तुलन स्थापित करने की सबसे अधिक सुविधा प्रदान कर दी है; तथा गृह-स्वामिनियों का भार हल्का कर उन्हें काम करने के लिए अवसर तथा अवकाश दे रखा है। यह कहा जा चुका है कि पाश्चात्य देशों में होटलों का जीवन बहुत अधिक प्रिय हो गया है, और दिन-पर-दिन होता जा रहा है। सुविधा मिलने पर हर परिवार एक शाम का भोजन होटलों में ही करना अच्छा समझता है। इसमें सन्देह नहीं कि इनका निवास काफी महँगा पड़ता है। इनकी अपेक्षा किसी परिवार के साथ व्यय देनेवाले अतिथि (Paying guest) रूप में रह जाना अधिक सस्ता और सुविधाजनक होता है। परन्तु होटलों के समान एक गृहलक्ष्मी की देख-रेख में ऐसे अतिथियों तथा अन्य लोगों को घर में ठहराना भी एक व्यवसाय का ही रूप ले चुका है, और इसके कारण भी सभी लोगों को अपना अलग-अलग घर बसाना, और गृह-प्रबन्ध में अधिक समय देना अनिवार्य नहीं रह गया है। हर परिवार अपने आप, सुविधा, अवकाश तथा काम की अनुकूलता के अनुसार अपना प्रबन्ध कर सकता है; या तो स्वतन्त्र घर बसाता है, या किसी परिवार के साथ रह जाता है या किसी होटल में जाकर डेरा डाल देता है।

सामान्य परिवार के अन्य कई कार्य तथा कर्त्तव्य भी सार्वजनिक संस्थाओं ने ले लिया है। रोगियों की सेवा तथा प्रसूति की सुश्रूषा का उत्तरदायित्व अस्पतालों के जिम्मे आ गया है, तथा हर व्यक्ति आश्वस्त

रहता है कि घर की अपेक्षा वहाँ की व्यवस्था अधिक उत्कृष्ट होगी। इसी तरह बालकों की देख-भाल तथा शिक्षा-दीक्षा के महान कर्त्तव्य का निर्वाह करने में किंडरगार्टेन स्कूलों ने एक बहुत बड़ा भार बाँट कर हल्का कर दिया है।

वर्त्तमान परिस्थिति में ४० वर्ष की आयु के बाद कई महिलाओं को घर से बाहर निकल कर कुछ न कुछ-न-कुछ करने के लिए मानसिक रूप में बाध्य हो जाना पड़ता है। सामान्यतया इनके लिए सन्तानोत्पादन का भार समाप्त हो जाता है। छोटे-बड़े बच्चे स्कूल भेज दिये जाते हैं, इसलिए मन बहलाने का तथा घरके हल्के काम से बचे समय को काटने का कोई भी साधन उनके पास नहीं रह जाता। पश्चिम में युगल परिवार का जो स्वरूप है उसमें पतोहुओं तथा पोतों की देख-भाल, नियन्त्रण तथा मार्गप्रदर्शन की कोई भी जिम्मेवारी सासों तथा दादियों पर नहीं रह जाती; सभी बेटे अलग-अलग अपना स्वतंत्र घर बसाकर अपने सारे उत्तरदायित्व अपनी पत्नियों के साथ विवाह होते ही स्वयं उठा लेते हैं। बूढ़ियों द्वारा नियन्त्रण की चेष्टा अनावश्यक ही नहीं अनुचित हस्तक्षेप समझी जाती है। भारत के समान यह भी सुविधा नहीं मिल पाती कि टोले, पड़ोस की उम्रदार स्त्रियाँ इकट्ठी होकर गप्पें लड़ायें और पतोहुओं की निन्दा, प्रशंसा, मेल-झगड़े, रुदन-हास, प्रेम-प्रकाशन तथा गाली-गलौज की मन्दधारामें अपने शेष दिन खे ले जायँ। फलतः वे उबा देनेवाले सूनेपन का कटु अनुभव करती हैं और इसे दूर करने के लिए कुछ-न-कुछ करना आवश्यक हो जाता है।

पारिवारिक जीवन की सरलता के साथ ही विज्ञान ने काम करने की प्रणाली को बहुत अधिक उपयोगी तथा महिलाओं के भी अनुकूल बना दिया है। पहले के काम बहुत अधिक खतरनाक तथा कष्ट-साध्य थे, जिनमें स्त्रियाँ अपना स्वास्थ्य, अपनी प्रतिष्ठा तथा अपना घर बचाकर रख नहीं सकती थीं। इसलिए उनके कार्य का क्षेत्र सिमित था। किन्तु आज तो अनेक काम ऐसे निकल आये हैं, जिन्हें स्त्रियाँ भी आसानी से कर सकती हैं। इतना ही नहीं, कई कार्य तो तो ऐसे हैं जो पुरुषों

की अपेक्षा नारियों के ही अनुकूल हैं। यूरोप में शीघ्रलिपि तथा टंकण पर महिलाओं का ही एकाधिपत्य है। दूकानों पर बिक्री करनेवाली स्त्रियाँ ही अधिक दिखाई पड़ेंगी। पुराने खतरे बहुत कम पड़ गये हैं, मानवीय श्रम का स्थान मशीनों ने ले लिया है इसलिए नारी के भी कार्य का क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत हो गया है।

वर्त्तमान युग तथा जागृति ने काम की परिस्थितियों में अनेक उप योगी सुविधायें दिला रखी हैं। काम के घण्टे कम हो गये हैं, वेतन तथा मजदूरी की दर बहुत बढ़ गयी है। नौकरी के स्थायित्व, व्यापक जीवन बीमा तथा भविष्य निधि (Provident fund) की सुविधाओं ने सुरक्षा की भावना तथा आत्मविश्वास उत्पन्न कर दिया है। नियमित सवेतनावकाश इतने मिलते हैं कि नारी कार्यकर्त्री इनमें अपना घर भी अच्छी तरह सँभाल ले सकती है। इनके साथ ही आज कल कार्य लेने वाले भी यह अधिक सुविधाजनक समझते हैं कि कार्य करने वाली महिलायें शीघ्र ही कार्य से विरत हो जायँ और इसके लिए वे भारी सुविधायें देते हैं। फलतः कार्यविरत नारी अपना शेष-जीवन इनके सहारे आसानी से चला ले जाती है और अपना घर भी देख लेती है।

इस विषय की प्रधान विशेषज्ञ एक अमेरिकन नारी[1] का कहना है कि आज गैहिक अर्थशास्त्र का सम्पूर्ण अभिप्राय तथा स्वरूप ही बदल गया है। उनके अनुसार "अपने समाज के अनुरूप पारिवारिक जीवन का निर्माण करने के लिए सभी विज्ञानों तथा कलाओं की देनों का समन्वय ही[2] गैहिक अर्थशास्त्र का प्रधान कर्तव्य है और आरम्भ से ही रहते आया है।" परन्तु पहले गृह तथा नारी का क्षेत्र ही घर की दीवाल तक सीमित था। भोजन बनाने, सीने-पिरोने, सन्तान का पालन-पोषण

१. Dr. Helen G. Canyer, Dean, Newyork College of Home Economics, Cornell University.

२. Co-ordination of the contributions of all sciences, and arts towards constructive family life appropriate to our society.

करने आदि कार्य ही गृह-विज्ञान के अन्तर्गत आते थे। इसीलिए सारे विज्ञान तथा सारी कलायें मिलकर भी इन्हें ही सुधार सकती थीं या इनके ही रूपको अधिक वैज्ञानिक तथा कलात्मक बना सकती थीं; इससे अधिक कुछ करने की गुञ्जाइश ही नहीं थी। परन्तु आज गृह-विज्ञान का यह रूप अधिक विस्तृत हो गया है। आपका कथन है कि सर्वत्र विशेषतया कारनेल विश्वविद्यालय में, इसका उद्देश्य हो गया है "ऐसी छात्राओं का निर्माण करना जो स्वतन्त्र विचारक के रूप में केवल घर बनाने वाली ही नहीं हों; वरन् साथ-ही-साथ स्वतन्त्र रूप में सोचने-विचारने वाली नागरिक, व्यापारिक तथा व्यावसायिक कार्य-कर्त्री भी हो सकें[१]।

इसका साफ मतलब है कि आज नारी-शिक्षा तथा गृह-शास्त्र का अर्थ हो रहा है, स्वतन्त्र रूप में घर बसाने, बनाने तथा सँवारने की योग्यता के साथ ही ऐसा कौशल प्राप्त तथा प्रदान करना, जिससे भावी महिला स्वतन्त्र रूप में अपनी जीविका चला सके; किन्तु इस रूप में नहीं कि एक पर अधिक जोर देने से दूसरा नष्ट हो जाय। ऐसा न हो कि स्वतन्त्र जीविका घर तथा परिवार बिगाड़ दे, अथवा घर जीविका चलाने में असमर्थ बना दे।

एक दूसरे रूप में भी परिवार की महत्ता स्थापित होने की कल्पना कई विद्वान् करने लगे हैं। इनका कहना है कि बिजली के अत्यधिक विकास से सम्भव है, अनेक परिवार कई अंशों में पुनः स्वतन्त्र इकाई बन जायँ। बिजली से चलने वाली ऐसी मशीनें यदि घरों में लग जायँ जिन्हें परिवार के सदस्य ही मिल-जुलकर संचालित करें तो यह कल्पना वास्तव में, साकार हो जायगी। किन्तु बड़े-बड़े यन्त्र घरों में नहीं लग सकते। इसके लिये हमें छोटे-छोटे यन्त्रों द्वारा चालित कुटीर-शिल्प

१. It aims to prepare students not only to be independent thinking home makers, but independent thinking citizens and business and professional workers as well.

की ओर ही जाना होगा। पाश्चात्य देशों में अत्यधिक केन्द्रित उद्योगों की इतनी वृद्धि हो गई है कि उन्हें मिटाकर कुटीर-शिल्प की स्थापना करना सम्भव नहीं जान पड़ता। इसीलिए इन देशों में परिवार का वही रूप रहेगा जो अमेरिका में निखर रहा है। हाँ, एक दूसरे रूप में विद्युत् का प्रसार परिवार को आनन्दमय तथा सरस बना सकता है, और बना रहा है। अभी तक मनोरंजन के सभी साधन, घर के बाहर ही हैं, जिनमें पूरा परिवार सर्वदा साथ नहीं दे सकता। रेडियो, और टेलिविजन परिवार तथा घर को भी मनोविनोद के सुन्दर साधन दे रहे हैं। अविकसित देशों में यदि सोच-समझ कर चला जाय और पाश्चात्य केन्द्रित उद्योग-प्रणाली का ही अन्धानुकरण नहीं किया जाय तो क्षेत्रीय योजना तथा कुटीर-शिल्प के रूप में इस विद्युत्-शक्ति का सर्वोत्तम उपयोग किया जा सकता है, और इसके आधार पर उत्कृष्ट मानवीय सम्बन्धों की भावना से परिचालित समाज तथा परिवार की कल्पना चरितार्थ की जा सकती है।

परिवार के विघटन की चिन्ता केवल पाश्चात्य देशों के सम्बन्ध में ही प्रकट की जाती है, यद्यपि वह भी उस रूप में साधार नहीं है। हमारे यहाँ तो यह अपनी सारी बुराइयों तथा समस्याओं के रहते हुए भी एक अडिग आधार-शिला पर प्रतिष्ठित जान पड़ता है। आज भी इसके हिलने की कल्पना नहीं की जा सकती। १९५१ के आँकड़े इसका पूरा समर्थन करते हैं। यूरोप से विपरीत भारतवर्ष में पुरुषों की संख्या स्त्रियों से अधिक है। १००० पुरुषों पर सारे देश में केवल ९४७ ही स्त्रियाँ हैं। यह अभाव सामयिक नहीं है; पहले से ही यही स्थिति बनी हुई है। यह संख्या १९२१ में ९५६, ३१ में ९५१, ४१ में ९४६ थी। क्षेत्रों के हिसाब से भी कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है, जिसमें शहर और गाँव दोनों मिलाकर स्त्रियों की संख्या अधिक हो। सबसे अधिक दक्षिण भारत में १००० पुरुष ९९९ स्त्रियाँ हैं। इसके बाद केन्द्रीय-भारत का स्थान है, जहाँ यह संख्या ९७३ है। पूर्वी भारत में ९४५, पश्चिमी भारत में ९३८, उत्तरी भारत में ९१० तथा उत्तरीय पश्चिमी भारत में केवल

८८३ है। इसके अतिरिक्त सवर्णों में विधवा-विवाह भी नहीं होते। सम्पूर्ण भारत की स्त्रियों में १२·८ प्रतिशत विधवायें हैं। १९३१ में यह प्रतिशत १६·१ था। परन्तु विधुर ५ ही प्रतिशतक हैं। इससे निश्चित है कि सारे पुरुष विवाहित नहीं हो सकते; कुछ लोगों को कुमार रहना ही पड़ेगा। यही कारण है कि सम्पूर्ण रूप में ४५·८ प्रतिशतक पुरुष ही विवाहित हैं, जब कि ४८·४ प्रतिशत स्त्रियाँ विवाहितायें हैं। इसलिए पुरुषों का कौमार्य बाध्यता का ही फल है परिवार से भागने की प्रवृत्ति का सूचक नहीं।

कुमारियों तथा विवाहिताओं के आँकड़े स्पष्ट बतलाते हैं कि हमें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।

आयु-समुदाय	आयुसमुदाय का प्रतिशत	प्रथमस्तम्भ के पश्चात्वर्ती सभी आयु समुदायों का प्रतिशतक
०—४ वर्ष	६·७	१२·१
५–१४ ,,	१०·२	१·९
१५–२४ ,,	१·५	०·४
२५–३४ ,,	०·२	०·२
३५–४४ ,,	०·१	०·१

इससे स्पष्ट है कि २५ वर्षों के बाद अन्यत्र थोड़ी ही स्त्रियाँ कुमारी रह जाती हैं; और ३५ वर्ष के पश्चात् तो यह संख्या और भी कम हो जाती है। कुमारियों के इस ·१ या ·२ प्रतिशत में भी कुछ ईसाई मिशन की बालिकायें हैं; और कुछ बंगाल और दक्षिण की। इनमें कुलीनता आदि कुप्रथाओं के विरुद्ध विद्रोह के कारण और कुछ बाध्य होकर भी कई महिलायें बड़ी आयुतक कुमारी ही रह जाती हैं। यह, वास्तव में, एक समस्या है, किन्तु विघटन की समस्या नहीं। हमारे यहाँ विच्छेदों की संख्या भी अत्यन्त अल्प है, कुल १४४,७८७ अर्थात् सारी जन-संख्या का ०·४ प्रतिशत। इनमें अनेक सामयिक होंगे।

भारत की पारिवारिक स्थिति आदर्श, सुन्दर और सन्तोषजनक है, यह घोषणा कर बैठना वास्तविकता से आँख मूँदना है। साथ ही यह कह देना कि हमारे यहाँ भी विघटन की समस्या है, और भी

अपने को भ्रम में डालना है। हमारी समस्यायें बहुरूपी हैं, जिन पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा चुका है। परन्तु इनका छोर भी परिवार से पलायन और विघटन को नहीं छू पाता। वरन वास्तविकता विपरीत दिशा की ओर ही स्पष्ट संकेत करती है। हम भागते नहीं, असमय ही, भारवहन में असमर्थ होने पर भी, बिना उत्तरदायित्व समझने और सँभालने की योग्यता आते ही वैवाहिक बन्धनों में बँध जाना तथा अपनी सन्तानों को बाँध देना ही उचित और धर्मसम्मत समझ लेते हैं। बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, गृह-कलह आदि अनेक सामाजिक प्रश्न इसी प्रवृत्ति की उपज हैं। १४ वर्षों की आयु होते ही ८९·८ प्रतिशतक अबोध बालिकाओं का गृह-पत्नी बन जाना विचित्र-सा लगता है। इसीलिये हमारे यहाँ परिवार को अनुप्राणित करने के विपरीत परिवार-नियोजन के साथ-साथ विवाह-नियोजन की ही प्रधान आवश्यकता है। यदि हमने समझ-बूझकर इस नियोजन का मार्ग-निर्देश किया, नवीन कुटीर-शिल्प और क्षेत्रीय-योजना का सुघरा तथा उचित रूप अपनाया, आर्थिक सामाजिक समस्याओं को बुद्धिमत्तापूर्वक हल किया, केवल पाश्चात्य देशों का अन्धानुकरण ही नहीं किया, तो वास्तव में पुनः भारतीय परिवार संसार के समक्ष एक आदर्श उपस्थित कर सकते हैं। परन्तु आज के रूप में नहीं, आज तो उसकी अच्छाइयाँ भी बुराइयों से इस तरह ढकी हैं कि वे दिखाई ही नहीं पड़तीं; वास्तविक जीवन में अनुभव करने की बात तो अलग रहे। अपनी संस्कृति और अपने जीवन के विभिन्न रूपों के प्रति अपनापन एक सुन्दर गुण है; किन्तु बुराइयों के प्रति भी आत्मीयता का प्रदर्शन विनाश को निमंत्रण देना है। हमें चाहिये कि वैज्ञानिक आलोचनात्मक दृष्टि से सारे समाज को देखें, परखें और निरपेक्ष रूप में नीर-क्षीर अलग-अलग करें। जो कुछ क्षीर के समान पोषक और अनुकूल है उसका पोषण करें, जो कुछ अनुपयुक्त है उसे सुधारें, और जो कुछ भी त्याज्य है उसे उठाकर निर्ममता के साथ दूर फेंक दें।